आजादी की छांव में

अंतर्भारतीय पुस्तकमाला

आजादी की छांव में

बेगम अनीस क़िदवई

अनुवाद

नूर नबी अब्बासी

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

अनुक्रम

लेखक की ओर से

बिस्मिल्लाह इर्रहमान इर्रहीम
बनामे-ए-जहांदार जांआफरी[1]

यह यकीनी बात है कि हर काम को शुरू और खत्म करने का अल्लाह ने एक वक्त मुकर्रर कर रखा है। लाख जतन करो जब तक उसके पूरे होने का पल नहीं आता, हर कोशिश और तदबीर बेकार हो जाती है। इस किताब का भी ऐसा ही हश्र हुआ।

भला खयाल तो कीजिए कि सन् 1947 और 48 तक सारा ड्रामा देखा : सोचती रही, नोटबुक पर लिखती रही। सन् 1949 में वे सारे बिखरे पन्ने जमा किए और कहीं सन् 1974 में जाकर उनके छपने की नौबत आई। वह भी इस सूरत में कि मसौदा काफी पुराना हो चुका था। न तो मैं उसे दुबारा देखने की हिम्मत कर सकी और न मेरी बुरी लिखाई को प्रकाशक ही संभाल सके। नतीजा यह हुआ कि किताबत[2] और छपाई में काफी गलतियां रह गईं। इतना ही नहीं एक कातिब साहब न जाने कहां भाग गए, दूसरे ने पूरा किया और किताबत के 'हुस्न' में दो कातिबों[3] की लिखाई ने और भी इजाफा कर दिया।

फिर भी मैं एकता ट्रस्ट श्री गोयल और सुभद्रा जोशी की शुक्रगुजार हूं कि कम से कम एक बार उन्होंने इसे पाठकों के सामने अच्छे कवर और खूबसूरत जिल्द के साथ पेश तो कर दिया।

इस बेचारी तहरीर पर पहला हादसा तो यह गुजरा कि हयातुल्लाह साहब की दूररस[4] निगाह ने इसे 'शीर्षकों' में बांटने के लिए इसमें कुछ काट-छांट की, जो मुझे पसंद न आई और मैंने उन्हीं बिखरे पन्नों की मदद से उन परिच्छेदों को फिर पहले जैसा लिख दिया।

उन्ही दिनों इबादत बरेलवी से मुलाकात हो गई और मैंने सोचा किताब अब

---

1. दुनिया के रखवाले के नाम जो जिंदगी देने वाला है।
2. उर्दू में छपने वाली किताबों को पहले हाथ से साफ लिखा जाता है, उसी को किताबत कहते हैं।
3. हाथ से सुंदर लिखाई करने वाला।
4. दूरंदेशी

उनकी निगरानी में छपवाऊंगी। मगर वह जल्द ही पाकिस्तान सिधार गए।

कुछ अरसे बाद सागर निजामी, जो उस वक्त मेरठ से 'एशिया' नाम से एक रिसाला निकाल रहे थे, मुझे मिले और एक परिच्छेद लेकर 'एशिया' में प्रकाशित भी किया। फिर उन्होंने आग्रह किया कि वह किताबत और छपाई की जिम्मेदारी भी लेने पर तैयार हैं।

हालांकि रफी भाई मरहूम (रफी अहमद किदवई) ने यह भी कहा कि ऐसी किताबें लिखी जरूर जाती हैं मगर फौरन प्रकाशित नहीं की जातीं, बल्कि किसी लेखक का उन्होंने हवाला दिया कि उसकी किताब पचास साल के बाद छपी थी। उसके बावजूद मैं इसके प्रकाशन के लिए तैयार हो गई। उन्होंने कुछ इमदाद भी दी, वह भी किसी काम न आ सकी, क्योंकि सागर साहब की माली मुश्किलों की वजह से 'एशिया' बंद हो गया और दो साल बाद बहुत ही अफसोस के साथ वह पूरे मसौदे की किताब-शुदा और ब्लाक वगैरा मुझे वापस कर गए। अब न लेखक के पास पैसा था, न प्रकाशक के पास, किताब छपे तो कैसे ?

इसी दौरान कुछ पन्ने शफीकुर्रहमान किदवई मरहूम को दिखाकर मैंने यह इत्मीनान कर लिया था कि किताब गैर-दिलचस्प और नाकाबिल-ए-बरदाश्त नहीं है। फिर उनका भी निधन हो गया। रफी भाई भी रुख्सत हो गए और उम्मीद ही टूट गई :

आं कदूह बिशकस्त-ओ-आं साकींन मांद[5]

सच तो यह है कि कुछ रफी भाई की बात भी जी को लग गई थी। इसलिए कई साल तक फिर मसौदे को खोलकर न देखा। दो तीन साल बाद कागजात की उलट-पलट में फिर उस पर नजर पड़ गई और जी चाहा कि किसी और पारखी की इस पर राय ले लूं। यह सोचकर मसौदा डॉ. आबिद हुसैन की खिदमत में पेश किया। मैं आभारी हूं की आबिद साहब ने इसका एक-एक लफ्ज पढ़ा और पूरी किताब में से सिर्फ एक वाक्य काट दिया। कुछ लफ्ज भूल से लिख दिए गए थे, वे ठीक किए। मसौदा मुझे उनकी इस राय के साथ वापस मिला कि किसी तरमीम और तनसीख[6] की जरूरत नहीं है, इसे इसी तरह छपना चाहिए।

उसके बाद फिर एक बार इसे मक्तबा जामिआ से प्रकाशित करवाने की ख्वाहिश ने गुलाम रब्बानी 'ताबा' साहब तक पहुंचाया, जो उन दिनों मक्तबा जामिआ के मैनेजर थे। मसौदा, किताबतशुदा कापियां, ब्लाक सब उनके सुपुर्द करके फिर दिन गिनने लगी कि किसी दिन किताब छपकर आ रही होगी। लेकिन तीन साल बाद मुझे वापस सिर्फ अपनी बुरी लिखाई में लिखा हुआ मसौदा मिला। किताबत और ब्लाक सब गुम हो चुके थे। खैरियत हुई मसौदा बच गया था।

---

5. वह जाम टूट गया और वह साकी भी न रहा।

6. फेर-बदल।

इन हालात में, मायूस होकर मैंने उसे पैक करके ऐसी जगह डाल दिया कि फिर न कभी नज़र पड़े, न अफसोस हो। सन् 1970 में एक दिन सुभद्रा जोशी और गोयल साहब मिलने आए और उन्होंने ख्वाहिश की कि मैंने उस आपाधापी के दौर में जो कुछ लिखा था उसका कुछ हिस्सा 'सेक्यूलर डेमोक्रेसी' में छपने के लिए दे दूं। मैंने मजबूरी जाहिर करते हुए कहा कि वह एक लंबी रिपोर्ताज है। उसमें से इक्की-दुक्की घटना लेकर तुम लोग प्रकाशित कर सकते हो, मगर बेहतर यही होगा कि उसे किताबी शक्ल में छपने के लिए पड़ा रहने दो। शायद कभी उसका वक्त आ ही जाए। गोयल साहब देखते ही उसे छापने के लिए तैयार हो गए। उनका इसरार पढ़ा तो मजबूर होकर सारी पोथी एक बार फिर उन्हें सौंप दी।

मसौदा जैसा भला-बुरा था, किताब वैसे ही छप गई। जिल्द और कवर की वजह से गनीमत भी हो गई। लेकिन मुझे खयाल भी न था कि देश के बुद्धिजीवियों की निगाह में इतनी अहम करार पाएगी और इस पर जगन्नाथ 'आजाद', मौलाना अब्दुल माजिद (दरियाबादी), रेवती सरन शर्मा, कुर्रतुलऐन हैदर, गोपी चंद नारंग, डॉ. आसफ किदवई (संपादक 'अज़ाइम'), इस्रत अली सिद्दीकी (संपादक 'कौमी आवाज'), रिजवान अहमद (संपादक 'अजीमाबाद' एक्सप्रेस') जैसे लोग समीक्षा भी कर डालेंगे और उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी के साहित्य पारखी इसे पुरस्कार के लायक भी ठहराएंगे।

मैं उन विद्वानों की दिल से आभारी हूं जिन्होंने मेरी कोशिशों को सराहा और उस खुदा-ए-अज्ज-ओ-जल्ल[7] की भी शुक्रगुजार हूं जिसका नाम ले-लेकर इस दुआ के साथ लिखती रही थी कि ऐ खुदा जो लिखूं सच लिखूं।

मुझे अहसास है कि यह किताब इतिहास, उसके प्रभाव, इतिहास और घटनाओं का संकलन नहीं, बल्कि एक तरह का असंबद्ध-सा संग्रह है। लेकिन जिगर के खून से लिखी हुई ऐसी किताब जरूर है जिसे पढ़कर पाठकों को वह जहरीला नश्तर जरूर याद आ जाएगा जिसे हम दिल-दिमाग के करीब रखकर भूल गए हैं।

इन अट्ठाईस बरसों में इन आंखों ने जबलपुर, अलीगढ़, चंदौसी, मेरठ, अहमदाबाद और बांग्लादेश के कत्लेआम और तुर्कमान गेट की बर्बरता भी देखी, जहर को उतर-उतर कर चढ़ते भी देखा, मगर कोई हादसा भी इस विश्वास को डिगा न सका कि किसी राष्ट्र का जीवन नैतिक मूल्यों की सुरक्षा के साथ लोकतंत्र और एकता पर निर्भर होता है। न इस उम्मीद का दामन अभी हाथ से छूटा है कि–

"शव गुरेजां होगी आखिर जल्वः-ऐ-खुरशीद से"[8]

इंसानियत की मांग, देश प्रेम की आवश्यकता, विश्व शांति का आधार और खुद इस देश की मजबूती इस पर निर्भर है कि नैतिकता और धर्म का प्राचीन मानदंड नई नस्ल

---

7. जिसका प्रभुत्व है और जो महान है।

8. सूरज की रोशनी से आखिरकार रात दूर होगी ही।

और नई दुनिया को ताकत दे, क्योंकि व्यक्तियों का चरित्र सरकार का चरित्र बन जाता है और उसका नैतिक पतन देश और जाति का अपना पतन।

हमारा जमाना बीत गया। एक दौर खत्म हुआ। मैं और मेरी पीढ़ी के बहुत से लोग या तो जाने को तैयार बैठे हैं या एकांतवासी बन गए हैं। इस किताब के जरिए नौजवान पीढ़ी से सिर्फ यह कह सकती हूं :

देखो मुझे जो दीद-ए-इब्रत निगाह हो[9]
मेरी सुनो जो गोश-ए-नसीहत नियोश है।

नई दुनिया बनाने वालो ! उस जहर से बचो जिसे पी कर हमने आत्महत्या की थी और नैतिक मूल्यों की नींव पर अगर नई इमारत बनाओगे तो मजबूती शान और इज्जत तुम्हारा हिस्सा होगी।

मैं नेशनल बुक ट्रस्ट के अधिकारियों की आभारी हूं कि उन्होंने किताब को दुबारा छापने और देश की विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद कराने का फैसला किया है। उम्मीद है, इस तरह मेरी आवाज अरण्य-रोदन साबित न होगी बल्कि देश के कोने-कोने में पहुंचेगी। एक बार उन सबका दिली शुक्रिया।

सुपुर्दम ब तो मायः-ऐ-खेश रा
तो दानी हिसाब-ए-कम-ओ-बेश रा[10]

बेगम अनीस किदवाई
7 जनवरी, 1978 ई.

9. कुछ देखकर उससे शिक्षा ग्रहण करने की दृष्टि अगर तुम्हारे पास हो तो मुझे देखो और उपदेश सुनने की अगर क्षमता हो तो मेरी सुनो।

10. मैं अपनी सारी पूंजी तेरे सुपुर्द करती हूं, हिसाब की कमी-बेशी तू जाने।

1. करता हूं जम्अ फिर जिगर-ए-लख्त-लख्त को[1]

सितंबर शुरू हुआ और अपने साथ बीसियों बलाएं और परेशानियां लेकर आया, यों तो सन् 1947 के शुरू होते ही जगह-जगह से हिंदू-मुस्लिम दंगों की खबरें आनी शुरू हो गई थीं। कलकत्ता के डायरेक्ट एक्शन से लेकर नवाखाली, बिहार, रावलपिंडी, मुल्तान और गढ़मुक्तेश्वर तक की दिल हिला देने वाली घटनाएं अभी ताजा थीं। हजारों आदमी भागकर हिंदुस्तान आ चुके थे और खान्माब्रबादों[2] का कई मील लंबा काफिला पल-पल रेंगता हुआ हिंदुस्तान से पाकिस्तान के करीब पहुंचने ही वाला था।

इस वक्त वे खुशियां भी याद आ रही हैं जो इन हंगामों की खबरें सुनकर दोनों मज़हबों के मानने वाले मानते थे। मुझे इस वक्त एक दोस्त याद आ रहे हैं जिन्होंने बहुत-ही खुश होकर कहा था कि कलकत्ते में तो ख़ैर चूक हो गई, मगर नवाखाली में हमने बड़ा अच्छा सबक़ दिया है।

मैं हैरत से उनका मुंह देख रही थी और सोच रही थी कि इस मुल्क का क्या हश्र होने वाला है, जिसमें ऐसे-ऐसे 'सूरमा' पैदा हो चुके हैं ? मैंने उनसे कहा, 'मियां, दूसरों की तबाही और बरबादी पर इतनी खुशी न मनाओ। दो दिन की खुशी के बाद कई दिन कलकत्ता के लिए रोना पड़ा था। अब मुल्तान और रावलपिंडी[3] के लिए कहीं खून के आंसू न बहाना पड़े। मुझे तो अभी तक गढ़मुक्तेश्वर के लाशों से पटे हुए कुएं और बिहार के जिंदा जलते हुए बच्चे याद हैं। तुम कैसे उन्हें भूले जा रहे हो ?'

इसी तरह अखबारों की सनसनीख़ेज खबरें पढ़कर एक बुज़ुर्ग ने अपनी खुशी ज़ाहिर करते हुए फरमाया था कि नवाखाली में आदमी तो सिर्फ तीन ही चार सौ मारे गए, मगर सुना है चार हज़ार औरतें मुसलमान बना ली गईं, चार हजार ! और यह

---

1. दिल के टुकड़ों को जमा कर रहा हूं।
2. वे लोग जिनके घर तबाह हो गए।
3. मुल्तान और रावलपिंडी में हिंदुओं और सिक्खों का जबरदस्त कत्लेआम हुआ था। एक पाकिस्तानी दोस्त ने अपनी बदकिस्मती का जिक्र करते हुए बताया कि मैं लंदन से रावलपिंडी पहुंचा तो बीसियों लाशें बालों से दरख्तों पर बंधी पाईं। वहां से घबराकर मसूरी भागा तो यहां खून खराबा देखा और एक माह मसूरी कैंप में पड़ा रहा। उसी कैंप में बीवी के पहला बच्चा पैदा हुआ। अगर शफी अहमद किदवई खबर न लेते रहते तो न जाने क्या हाल होता। रफी साहब की मदद से छुटकारा मिला।

कहते हुए उनके चेहरे पर ग़रूर की सुर्खी दौड़ गई।

और फिर मुझे एक मशहूर जर्नलिस्ट भी याद आता है जिसने हुकूमत पर कमजोरी का इल्जाम लगाते हुए गुस्से से कहा था : जी चाहता है इन मुसलमानों में से एक को भी जिंदा न छोड़ूं। जो कुछ भी हमारे साथ वहां (पाकिस्तान में) हुआ है, अगर हमने उसका बदला यहां न लिया तो कुछ भी न किया। यहां भी उन सबका रहना मुश्किल कर दिया जाएगा। इतना ही नहीं उसने चोरी छिपे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की इमदाद[4] और हिमायत भी शुरू कर दी थी।

कितनी बर्बरता पैदा हो गई थी उन दिनों ! ऐसी-ऐसी कमज़ोर-तबीयत के लोग जो एक फांस भी चुभ जाती तो रो देते, दूसरों की मुसीबत पर खुशियां मना रहे थे। और तो और, अच्छे-भले पढ़े-लिखे, समझदार आदमी भी नफरत और बदले की आग भड़काने वालों में शामिल थे। अब से पहले हम शायद उनकी सूझ-बूझ की कसम खाते और तब मैं सोचती थी—हाय, क्या हाल हुआ होगा जब बच्चे मांओं की गोद से छीनकर जलती आग में झोंके गए होंगे; जब बेटियां मां-बाप से छीनकर, बीवियां अपने शौहरों से छुड़ाकर जबरन मजहब तब्दील करने पर मजबूर की गई होंगी। वे मांएं और बहनें जिनके सीने छलनी हो चुके थे, क्या हिंदू या मुसलमान बन सकी होंगी ? लानत है ऐसे हिंदू और मुसलमान बनाने वालों पर !

यह देखकर मुझे पिछला अमनो-अमान[5] यानी बदनाम फिरंगी हुकूमत के जूते तले अमन पसंद नेकदिल हिंदुस्तानी लोग भी याद आते हैं जो कम से कम देखने में तो शरीफ आदमी, एतबार के काबिल लोग बहू-बेटियों की इज्जत करने वाले लगते थे।

अभी दिन ही कितने हुए। जून 1947 तक मसूरी के सिनेमा, थिएटर और दूसरी तमाशागाहें रात के एक-एक, दो-दो बजे तक खुली रहतीं, हर तरफ चहल-पहल रहा करती थी। यहां एक बार मैं ज़िद करके अपनी एक दोस्त के साथ जबरदस्ती ठहर गई थी और फिर रात के दो बजे हम दो औरतें रिबेरा से तन्हा पैदल शारलेवल गेट तक इत्मीनान से चली आई थीं...न कोई डर मालूम हुआ, न दहशत।

मसूरी की माल रोड पर, लायब्रेरी के नीचे हज़ारों आदमियों की भीड़ आजाद हिंद फौज का बैंड सुनने जमा हुआ करती थी। उनमें बुर्कापोश औरतें और हट्टे-कट्टे सिक्ख, सभी होते थे। लोग बेखटके शाम के वक़्त बच्चों को पहाड़ियों की टोकरी में बिठाकर उनके सुपुर्द कर देते और वे उन्हें घुमा-फिराकर दो-ढाई घंटे बाद हिफाजत से सीधे घर पहुंचा जाते। घोड़े और रिक्शा वाले भरोसे के आदमी समझे जाते थे। एक दस साल की लड़की अपने चार बरस के छोटे भाई की उंगली पकड़े शारलेवल

---

4. सहायता।
5. शांति।

से कलक्टरी बाजार तक बेखतर[6] टहल आती थी।

हिंदुस्तान का बंटवारा तय हो चुका था। कभी-कभी दिल में हौल उठती थी, बड़े-बड़े बहम आते थे। लोग कहते थे, देख लेना ये नए आने वाले फसाद कराए बगैर न रहेंगे। हिंदू-मुसलमान के संबंधों में काफी खिंचाव पैदा हो गया था, फिर भी जिंदगी जैसे आम दिनों की तरह चली जा रही थी।

जून में दिल्ली की भंगी बस्ती में एक दिन बापू की प्रार्थना सभा में मेरी बहन ने[7], जो अपनी जोशीली तबियत की वजह से बोलते वक्त बहुत बेचैन हो जाया करती हैं, यह तय कर लिया कि आज बापू को पकड़कर पूछूंगी जरूर कि यह आपने क्या किया ? हिंदुस्तान हम सबका है, हमको तो यहीं जीना और मरना है, यह आबादी का तबादला और बंटवारा क्या ? एक टुकड़े से उन दिनों को क्या तस्कीन[8] मिल सकती है जो एक ऐसे हिंदुस्तान का ख़्वाब देखते रहे हैं जो एक हो, महान हो और जिसे कोई जीत न सके।

ज्योंही प्रार्थना ख़त्म हुई और बापू उठे, वह तेजी से लपकी कि भीड़ को चीरती हुई उन तक पहुंच जाए और दिल की बात कह सुनाए। मगर उनके मियां ने पीछे से रोक लिया, "आ हां, क्या करती हो ? यहां कौन-सा मौका है, फिर कभी देखा जाएगा।" वह कहते रहे और जब तक वह उसे छोड़ें, गांधीजी जा चुके थे। उन्हें आज तक दुख है कि वह उस दिन भरे मजमे में जी का भड़ास न निकाल पाई।

अंदेशा सबको यही था कि बंटवारा होते ही कहीं अंग्रेजों का दांव न चल जाए। यह भी डर था कि आबादी का इधर से उधर आना-जाना कहीं मुसीबत न बन जाए। बस रह-रहकर लीडरों पर गुस्सा आता था।

आजादी का दिन

अब इस वक़्त मुझे 15 अगस्त भी याद आ रहा है। कलकत्ता से लेकर पूर्वी और पश्चिमी पंजाब तक की आहों, चीख़ों और धुएं में लिपटा हुआ, आजादी का तथाकथित दिन खून में लिथड़ी हुई आजादी, जिसके कदमों में राजधानी की लाश पामाल[9] हो रही थी और औरतों की इज्जत लुट रही थी। दुखियों की पुकार और मजलूमों की आह-व-फरियाद गवर्नमेंट हाउस में गूंज उठी लेकिन हम सब फिर भी खुश थे। जबरदस्ती खुश होने की कोशिश कर रहे थे कि चलो खैर, बरसों की मेहनत ठिकाने लगी। उन्हें उम्मीद थी कि जो हुआ सो हुआ, गुलामी का जुआ तो गर्दन से उतरा। आजादी मिलने के बाद फिरका परस्ती का भूत भी सर से उतर जाएगा। बेशक, मुल्क के दो टुकड़े हो

---

6. बिना किसी खतरे के।
7. विल्कीस, मिसेज विरासत अली किदवई।
8. संतोष।
9. रौंदी जा रही थी।

गए, लेकिन दोनों अपनी-अपनी जगह खुश तो रह सकेंगे। मगर नहीं, उस दिन भी हममें से बहुतों की किस्मत में मायूसी और नामुरादी लिखी थी। उस रोज भी हमें परायापन और गुलामी का अहसास होना बदा था। ऐसे खुशी के वक्त में भी हमारी आरजुओं को मिट्टी में मिलना था। शहर का बेशतर[10] हिस्सा मैंने अपनी एक दोस्त[11] के साथ रिक्शा, पैदल और मोटर पर देख डाला, लेकिन मैं जैसी गई थी, वैसी लौट के आ गई। खुशी कहीं भी न मिली।

मेरा दिल डूबा जा रहा था। ऐसा लगता था कोई खुशी का गला घोंट रहा है। अरमानों पर ओस पड़ी जा रही है।

आज तिरंगे झंडों की बहार में भी दिलकशी न थी !"इन्किलाब जिंदाबाद" के नारे और जय जयकार आज आत्मा से नहीं टकरा रहे थे। रगों में आज गरम खून नहीं दौड़ रहा था। हिंदी में लिखे हुए साइन बोर्ड, नारे और पोस्टर सब ऐसा लगता था जैसे हमारा मुंह चिढ़ा रहे हैं, मजाक उड़ा रहे हैं।

उस समय हिंदुस्तान अतीत की तरफ लौट रहा था। माथे पर तिलक लग रहे थे। और मैं सोच रही थी कि बनारस से ब्राह्मण किसलिए बुलाए गए हैं ? कारी[12] क्यों ढूंढा जा रहा है ? चंदन क्यों घोला जा रहा है ? बौद्ध फर्श पर अब लकड़ी की खड़ावें चटाख-चटाख चलती नजर आएंगी ? उफ्फोह ! मेरा तो जैसे दम घुटा जाता है। मैं सोचती-सोचती, जलती-भुनती रात को गवर्नमेंट हाउस पहुंची। एक बार तो गरूर से सर ऊंचा हो गया। यह बुलंद दरवाजा आज आम लोगों के गुजरने की जगह बना हुआ था और उस पर अपने देश का झंडा लहरा रहा था। यहां का सब कुछ आज अपना था और उसमें रहने वाले अपने साथी थे।

लेकिन जल्द ही दिल बुझ गया। यहां तो आज वह भाषा बोली जा रही थी जो अंग्रेजी से ज्यादा कानों के लिए अजनबी थी। बकौल 'जोश'

जिसको देवों के सिवा कोई समझ ही न सके।
जेर-ए-मश्क अब है वो अंदाज-ए-बयां ऐ साकी[13]

चौकियों पर दाहिने-बाएं बौद्ध भिक्षु, ब्राह्मण, कारी पता नहीं कौन-कौन विराजमान थे। बहुत सी भाषाओं में बहुत कुछ हुआ। अंग्रेजी, संस्कृत, अरबी, कठिन हिंदी, हरेक में। लेकिन कुछ न हुआ तो अपनी बोली में, वही प्यारी बोली :

जिसकी हर बात में सो फूल महक उठते थे

इतना कुछ हुआ मगर हमारे पल्ले कुछ न पड़ा। मेरी तरह और बहुत-सी औरतें भी रुंधे गलों और हैरान आंखों से सारा सीन देखकर जो घर पलटीं तो ऐसा लगा जैसे

---

10. अधिकांश।
11. बेगम हया तुल्लाह अंसारी।
12. कुरान को शुद्ध उच्चारण के साथ पढ़नेवाला।
13. ऐ साकी आज ऐसी भाषा प्रयोग में आ रही है।

कमर टूट गई हो। खुद पहली आजाद हिंदुस्तान की गवर्नर सरोजिनी नायडू, बावजूद कोशिश के, शपथ-पत्र सही न पढ़ सकीं।

क्या इसी भविष्य के लिए हमने सालहा साल इंतिजार किया था ? हममें से कौन यह जानता था कि गड़े मुर्दे उखाड़े जाएं ? और लोकतंत्र की जगह धर्म और मजहब की ठेकेदारी हुकूमत ले ले ?

यह सब कुछ तकलीफदेह था। दिल तोड़ने वाला था। ब्राह्मणवाद का यह नजारा देखकर हमारे रोंगटे खड़े हो गए। हमने आने वाले वक्त की झलक देख ली। वे लोग जो पिछले बीस बरस महज तमाशाई बने रहे थे, खुश हो-होकर हमें ताने दे रहे थे, "देखा ? हम न कहते थे कि इख्तियार मिला नहीं और हिंदुस्तान में हिंदू राज हो जाएगा ? इसीलिए पाकिस्तान बनाना जरूरी हुआ, बल्कि इसी जहनियत[14] ने पाकिस्तान बनवाया है।"

एक बुजुर्ग[15] ने फरमाया, मैं तो इस पर एक मजमून[16] लिख चुका हूं कि ब्राह्मणवाद हमेशा हिंदुस्तान पर हावी रहा है। बुद्धमत कैसा फैला, कितनी तरक्की हुई मगर ब्राह्मणवाद ने ऐसा दबाया कि हिंदुस्तान से नाम-निशान मिटा दिया। इस्लाम वैसा चमका लेकिन ब्राह्मण के फंदे में फंसकर उसी के रंग में ऐसा रंग गया कि अपनी विशेषता से भी हाथ धो बैठा। ईसाई मत ब्राह्मणवाद के चक्कर में ऐसा गिरफ्तार हुआ कि थियोसॉफिकल सोसायटी के रूप में उसे भी ब्राह्मण का लोहा मानते ही बनी। यह ब्राह्मणवाद हिंदुस्तान पर छाकर रहेगा। गांधीजी हजार सर पटकें और तुम लोग कितना ही बावेला क्यों न करो हिंदुस्तान इससे छुटकारा नहीं पा सकता।

यह सब कुछ सुनना भी बड़े सब्र का काम था। हम सब दम-ब-खुद[17] थे। न कोई उम्मीद नजर आती थी, न रोशनी। हममें से कुछ सोच रहे थे कि आखिर ये मजदूर-पेशा अवाम, ये मध्यम वर्ग वाले, ये गरीब लोग, इन सबके लिए भी इस गोरखधंधे से निकलने का कोई रास्ता है ? वह रास्ता ढूंढना पड़ेगा। कांग्रेस का बुर्का ओढ़कर जो झलक हमें दिखाई गई है और जो स्वांग रचा गया है उसकी असलियत से परदा उठाना ही पड़ेगा।

ताड़ने वाले ताड़ गए कि हवा का रुख किस तरफ है और यह पानी कहां बरसेगा ...लीग वाले खुश थे कि अब इस हम्माम[18] में अकेले हम ही नंगे नहीं हैं कुछ और भी हमारे साथी निकल आए। मगर तरक्की-पसंद[19] इस फिक्र में थे कि पुराने आजमाए

---

14. मानसिकता।
15. चौधरी मुहम्मद अली रिदौलवी।
16. लेख।
17. सांस रोके हुए।
18. मुहावरा जिसका अर्थ है सभी एक सी स्थिति में हैं।
19. प्रगतिशील।

हुए बाजू, जो ब्रिटिश हुकूमत के मुकाबले में मैदान जीत चुके हैं, क्या यहां भी काम आएंगे या नहीं ? उनकी ताकत को घटाना अच्छा होगा या और बढ़ाना ?

नौजवान और सरफिरे नौजवान सोचने लगे कि जंगे-आजादी के सूरमा अब नए मोर्चे की तैयारी करें। अब गैरों से नहीं अपनों से मुकाबला होगा और सारा मुल्क नहीं, मुट्ठी भर इंसान खाक-खून में लोटकर नया हिंदुस्तान बनाएंगे। किसी को क्या ख़बर थी कि सबसे बड़ी कुरबानी खुद हिंदुस्तान के बापू को देनी पड़ेगी ?

आजादी की छांव में

फिर सितंबर आ गया। हिंदुस्तान को आजाद हुए अभी पंद्रह दिन न बीते थे कि दिल्ली में मार-धाड़ शुरू हो गई। मकानों, दुकानों और गली-कूचों में लहराते हुए तिरंगे झंडे अभी मैले भी न होने पाए थे कि उन पर खून की छींटें पड़ने लगीं। गड़बड़ी, बदअमनी, दंगे-फसादों का एक सैलाब था जो पंजाब से चला आ रहा था। उसमें दिल्ली, मसूरी और देहरादून सब गर्क हो गए थे। कहते हैं एक बार महफिल में हिंदू-मुस्लिम फसाद का जिक्र हो रहा था। किसी ने कहा फसादों की गंगा तो सारे हिंदुस्तान में बह रही है। बापू हंसे और बोले—मगर उसकी गंगोतरी तो पंजाब में है। और सचमुच गंगोतरी वहीं से निकली।

टेलीफोन गायब, डाक बंद, रेलें बंद, पुल टूटे हुए और इंसान थे कि कीड़े-मकोड़ों की तरह सड़कों पर, गलियों और मैदानों में रेंग रहे थे, मर रहे थे, कुचले जा रहे थे, लूटे जा रहे थे। लेकिन भगदड़ थी कि खुदा की पनाह ! इधर से उधर खुदा की बेआवाज लाठी उनको हंका रही थी। मार-काट का इतना बड़ा तूफान शायद ही कभी हिंदुस्तान के इतिहास में आया हो। सुनती हूं बख्ते-नसर[20] यरूशलम की आबादी को गुलाम बनाकर बाबुल ले गया था। हजरत मूसा चालीस हजार यहूदियों को लेकर मिस्र से निकल गए थे। करताजना वाले जिस मुल्क को फतह करते थे उसके बाशिंदों को गुलाम बना कर ले जाते थे और उनसे ईंट पथवाते थे। हिंदुस्तान में भी महाभारत जैसी बड़ी जंग हुई और फिर नादिरशाह ने भी तीन दिन दिल्ली में कत्लेआम किया था।

मगर ये तो सब पुरानी कहानियां थीं। तब तो एक सूबा और एक जिला भी मुल्क कहलाता था। कितना ही जुल्म होता, दस-बीस हजार से ज्यादा आदमी न मरते होंगे। लेकिन यह जो कुछ हमारी आंखों के सामने हुआ है, दुनिया के शुरू से आज तक कहीं नहीं हुआ होगा।

लखनऊ में औरतें, मर्द, बच्चे, रोते-बिलखते मेरे पास आते थे कि दिल्ली टेलीफोन करके हमारे अजीजों की खैर-खैरियत की खबर मंगा दें। खुदा के लिए मसूरी से हमारे घरवालों के निकालने का बंदोबस्त करा दें। देहरादून में अगर कोई जिंदा बचा है तो

---

20. ईरान का एक बादशाह।

अल्लाह के लिए उसका पता मंगा दें। और मैं भाई साहब को खत लिखते-लिखते और टेलीफोन कर-करके हैरान कर देती थी।

मेरी आदत थी कि सुबह सवेरे नमाज के बाद ला मार्टिनेयर रोड के साथ-साथ मील-दो मील का चक्कर लगाया करती थी। मैं हमेशा अकेली जाती थी, भला इतने सवेरे कोई क्यों मेरा साथ देती ? फिर न कोई डर था न ख़ौफ। लेकिन सितंबर शुरू होते ही फजा बोझिल होनी शुरू हो गई। चार-चार, पांच-पांच आदमी इकट्ठे पंजाब और हिंदुस्तान की सियासत पर बहस करते हुए पास से गुजर जाते। उनमें वकील, प्रोफेसर, किसान, विद्यार्थी सभी होते थे। कभी-कभार गरमा-गरम बहस होती और कभी-कभी उस पर दुख का इजहार करने वाले भी मिलते। हालात की यह तब्दीली क्षितिज के धूल से भरे होने का पता दे रही थी।

फिर एक दिन चहलकदमी करने वालों के हाथों में छड़ियां, डंडे और छाते देखकर और लोगों के बदले हुए तेवर और गजबनाक बातें सुनकर मैंने भी महसूस कर लिया कि वाकई लखनऊ का अमन-चैन भी दरहम-बरहम[21] हो रहा है। घरवाले पहले ही से मना करते थे, लेकिन मैं सुनी-अनसुनी कर दिया करती थी। अब यह रंग देखकर, मुझे सैर बंद कर देनी पड़ी।

शहर में अमन कमेटियां बन गई थीं। जगह-जगह मर्दों और औरतों के जलसे हो रहे थे। मिली-जुली दावतें हो रही थीं। तमाम मकामी[22] बाशिंदों की कोशिश यह थी कि लखनऊ में कोई फ़साद न होने पाए और यहां अमन कायम रहे। शुक्र है, वे अपने मकसद और इरादे में कामयाब रहे। हिंदु-मुसलमानों की मिलजुलकर की गई कोशिशें रंग लाईं और लखनऊ ने अपनी तहजीब और शायस्तगी की लाज रख ली। लेकिन घर के अंदर जो ख़बरें आ रही थीं वही दिल का सुकून छीनने को क्या कम थीं ? दिन तड़प-तड़पकर और रातें टहल-टहलकर गुजरने लगीं। दिल्ली के रिश्तेदारों की फिक्र इसलिए कुछ कम थी कि वहां कुछ-न-कुछ तो हिफाजत का बंदोबस्त है। मगर मसूरी की फिक्रों ने रातों की नींद हराम कर रखी थी। यह यकीन था कि शफी साहब[23] अपनी रिवायती[24] जिद की बदौलत मसूरी से निकलना पसंद न करेंगे। यह अहसास कि उनको जबरन मसूरी छोड़ने पर मजबूर किया जा रहा है उन्हें और भी मुस्तकिल[25] कर देगा।

और फिर उस वक़्त जैसा कि उनके ख़तों से अंदाजा होता था, वे मजलूमों की जानतोड़ मदद कर रहे थे, ऐसी हालत में तो हरगिज आने के लिए नहीं तैयार होंगे।

---

21. छिन्न-भिन्न।
22. स्थानीय।
23. शफी अहमद किदवई, लेखिका के पति—अनु।
24. परंपरागत।
25. पक्का।

लेकिन घरवालों की कोशिशें जारी थीं, भाई परेशान थे। उधर सरकारी कामों के सिलसिले में उनका 21 सितंबर को लखनऊ पहुंचना जरूरी था। मगर जल्द ही खत आ गया कि अब मैं 21 सितंबर को न पहुंच सकूंगा, इसलिए तारीख बढ़ा दी जाए। और फिर वे तारीखें बढ़ती ही रहीं। वे देहरादून के फसाद में अपने कुछ रिश्तेदारों, दोस्तों और नौकरों के लिए बहुत परेशान रहे। लेकिन जब मसूरी में भी बलवा हो गया तो बिल्कुल मुतमइन[26] थे... "मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसां हो गईं।" अपनी हालत न लिखते और जमाने भर की ख़ैरियत पूछ डालते। एक दिन लिखा कि मुझे बड़ी लड़की[27] की बहुत याद आ रही है, उसका पता लिखो तो ख़त लिखूं। और फिर लिखा भी। मेरी तंदुरुस्ती, बच्चों की खैरियत, दूसरों का हाल सब इस तरह पूछते जैसे खतरे में हम सब लोग हैं और वे खुद महफूज हैं।

अलबत्ता एक दिन जो खत आया उसमें वहां की सारी दास्तान थी। लिखा था : "मैं अपने आफिस[28] में बैठा हुआ तुम्हें खत लिख रहा हूं और नीचे से भीड़ का शोर, बंदूकों के फायर और मुसीबतजदों की चीख-पुकार की आवाजें आ रही हैं। घर जल रहे हैं। दुकानें लूटी जा रही हैं और पुलिस तमाशा देख रही है। दिन-दहाड़े यह सब कुछ हो रहा है।"

फिर दूसरा खत आया कि आफिस मैंने बंद कर दिया है। तीन दिन से घर पर हूं। बारिश सख्त हो रही है। बेचारे घोड़े-खच्चर वाले तक हमलावरों की दरिंदगी से नहीं बच सके। जमादारों से उनकी लाशों पर मैंने घास-फूस डलवा दी है।

और अगला खत हंगामे के बाद का था। उन घटनाओं ने उनका दिल तोड़ दिया था। लिखा था, "मैंने सन् 1921 से लेकर अब तक तरह-तरह के दौर देखे हैं। हिंदू-मुस्लिम एकता का वह जमाना भी देखा जिससे दिल को खुशी और ताकत मिलती थी और कांग्रेस के वक्त-बेवक़्त आंदोलनों में बरतानवी हुकूमत के जुल्म भी देखे। सन् 1942 का हंगामा उठाने वाला दौर और आजादी हासिल करने का जोश-खरोश भी देखा। और फिर इलेक्शन के दिनों में मुस्लिम लीग का आपे से बाहर होना भी देखता रहा। अब अक्सरियत[29] की यह खुदी[30] और दिमाग की ख़राबी भी देख रहा हूं। सब

---

26. बेफिक्र।
27. लड़की अपने पति के साथ थी। शफी अहमद किदवई, जो उन दिनों मसूरी के एडमिनिस्ट्रेटर थे, रफी साहब से दो साल छोटे और उनकी सरगर्मियों में सन् 1922 में एक साल जेल में भी रह चुके थे। सन् 1921 में नौकरी से इस्तीफा देकर आजादी की तहरीक में शामिल हुए। सन् 1946 में गौंडा से असेंबली का चुनाव लड़े।
28. आफिस कलक्टरी बाजार से ऊपर एक पहाड़ी पर स्थित था।
29. बहुसंख्यक।
30. अहं।

दिन गुजर गए, ये भी गुजर जाएंगे। मगर हुक्काम[31] की यह बेहिसी[32] और जानिबदारी[33] यादी रहेगी।''

27 सितंबर के खत में लिखा था, ''तार की लाइन टूटी हुई है। एक तार गवर्नमेंट का 17 को चला हुआ 24 सितंबर को यहां पहुंचा तो दूसरा 21 का चला हुआ 22 सितंबर को मसूरी पहुंचा था। टेलीफोन दिल्ली के लिए मिलता ही नहीं। आज चार-पांच दिन हुए मुझे ख्याल हुआ था कि यहां की हालत का कुछ तजकिरा पंत जी[34] से कर दूं मगर लखनऊ के लिए लाइन ही न मिली। अब तो तार, टेलीफोन सब बेकार हैं।''

आफिस जाते हुए अक्सर रास्ते में लाशें पड़ी मिलतीं। उनको नहलाने, कफन में लपेटने और दफन करने वाला वहां कौन बैठा था ? मसूरी की सड़कों पर चलने वाले अकेले मुसलमान तो वे खुद ही थे...। लाशें घसीटने के लिए उनके पास सिर्फ जमादार थे। वही यह रस्म पूरी करते कि लाशों को खड्ड में डालकर, उनपर मिट्टी-पत्थर या कूड़ा फेंक दे ताकि चीलों और गिद्धों के हमले से निजात मिले। खड्ड में सड़ी हुई लाशों पर कूड़े-करकट के ढेर डलवाकर शहर की हवा को साफ रखना भी तो उन्हीं का काम था। किसी म्यूनिसीपैलिटी के एडमिनिस्ट्रेटर को शायद कभी ऐसी जिम्मेदारियों से वास्ता पड़ा हो।

और जब यह सब सोचती हूं तो दिल चाहता है खुदकुशी कर लूं। ये सारे काम उनको अकेले ही करने पड़े, मैं तो इत्मीनान से लखनऊ[35] में बैठी थी। घबराकर एक दिन मसूरी जाने के इरादे से किसी को खबर किए बिना घर से निकल खड़ी हुई। नजर बाग तक पहुंची थी कि छोटे भाई जाकर पकड़ लाए। मेरी जिंदगी की उन्हें बड़ी फिक्र थी। ''नहीं, आप न जाइए। कोई रेल सलामत पहुंचती ही नहीं है। अभी नहीं, फिर कभी चली जाना।'' काश, मैं उसी दिन चली गई होती।

मगर वह लिखते थे, ''मेरी तरफ से इत्मीनान रखो। बारिश की वजह से एक दिन के सिवा बराबर दफ्तर जाता रहा हूं।'' हालांकि दफ्तर के मुस्लिम मुलाजिम कैंप में थे। हिंदू आना जरूरी न समझते थे, मगर वह अपनी धुन के पक्के थे। फसाद के खत्म होते ही आफिस खोलना जरूरी समझा और जाने लगे। कुछ इमदादी कामों के सिलसिले में भी दफ्तर खोलना जरूरी हो गया। 28 सितंबर को एक लंबा खत भाई के नाम और दूसरा एक दोस्त के नाम लिखा। दोनों का मजमून मिलता जुलता था।

---

31. अधिकारीगण।
32. संवेदनहीनता।
33. पक्षपात।
34. उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री गोविंद वल्लभ पंत।
35. उन दिनों रफी भाई के वालिद इम्तियाज अली साहब सख्त बीमार थे और बिस्तर पर पड़े थे, मैं उनकी सेवा-टहल के लिए लखनऊ आई हुई थी।

वह लंबा खत भाई की गलती से जाया[36] हो गया। शफी साहब की शहादत के चंद दिनों बाद तहकीकात के सिलसिले में किसी ने पूछा और भाई ने वह खत उठाकर जिला मजिस्ट्रेट को भेज दिया। उसके बाद वह खत हमें वापस नहीं मिला और न जाने क्यों खत देखने के बाद हादसे की तहकीकात भी डिप्टी कमिश्नर को मुलतवी कर देना पड़ी। क्यों ? इस पर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ही रोशनी डाल सकते हैं। लेकिन दोस्त के नाम जो ख़त था वह हमारे सामने है, उसमें लिखा था,

"मैं बराबर आफिस जाता हूं। लोग एहतियात के खिलाफ समझते हैं, मगर मेरा ख्याल है, खौफ को अपने ऊपर हावी होने देता तो अब तक कोई वाकिआ[37] हो चुका होता। और इस 'वाकिए' की ख्वाहिश बहुतों को होगी।"

दूसरे ख़त में था : "मेरे सब मुसलमान अहलकार[38] कैंप में है। उनकी तनख्वाह का रुपया पहुंचाना और उनको जिंदा रखने के लिए रुपयों का इंतिजाम करना है। मैंने कह दिया है जब तक हिफाजत से लाने-ले जाने का इंतिजाम न हो जाए उन्हें छुट्टी पर ही समझा जाए। उनको मौजूदा मुसीबत के लिए तनख्वाह के अलावा प्राविडेंट फंड से भी रुपया दिया जाए... । एजुकेशन सुपरिंटेंडेंट एक कांग्रेसी हैं वे इस वक्त बहुत काम कर रहे हैं और इमदाद भी करते हैं।

"जब तक मेरी जान में जान है, मैं खिदमत करूंगा। जो जुल्म उन पर हो रहा है मुझे उससे बहुत तकलीफ पहुंची है।"

पहली अक्तूबर को पांच दिन से न कोई ट्रेन देहरादून पहुंची, न वहां से गई थी। मोटर लारियों का आना-जाना भी बंद था और उन्हें अफसोस था। लिखते हैं :

"रेडियो से खबरें वगैरा सुन लिया करता था। उसने भी तीन दिन से साथ छोड़ दिया है।" ऐसा क्यों था ? वजह न मालूम हो सकी। पंतजी को टेलीफोन भी न कर सके। दिल्ली में भाई साहब से भी बात न कर सके। और मेरे भाई के और इस दोस्त के तीनों खतों में उन्होंने लिखा :

खुदा को हाजिर-नाजिर जानने के यही मौके होते हैं। मेरे लिए दुआ करो कि दिल में कमजोरी न पैदा हो। "मौत का एक दिन मुअय्यन[39] है", मरना बर हक है, हर शख्स के लिए मौत आनी है, मगर दुआ करो कि खुदा मेरे दिल को मजबूत कर दे और मौत का डर किसी ऐसी बात के करने में रुकावट न बने जिसको मैं करना सही समझता हूं।" एक और जगह लिखते हैं :

"कोई सच्चा दोस्त या हमदर्द इर्द-गिर्द नहीं है। मगर इसके बावजूद खुदा ही हिम्मत रोज़ बढ़ाता रहे।" 2 अक्तूबर के बाद का कोई खत मुझे नहीं मिला। लिखा

---

36. नष्ट।
37. घटना।
38. कार्यकर्त्ता।
39. निश्चित (गालिब के शेर की एक पंक्ति)

जरूर होगा। उन दिनों रोजाना एक खत मेरे लिए डलवाते थे। कोई असंभव नहीं, गायब कर दिया गया हो।

अक्तूबर में रोजाना उन्हें धमकियां दी जा रही थीं कि अगर देहरादून से न गए तो कत्ल कर दिए जाओगे। कहनेवाला टेलीफोन से भी धमकियां देता था और खत भी भेजता था। एक खत तो उनके कागजात में भी हमें मिला है।

अजीज हयात खां[10] साहब जो कैंप के पनाह गुजीनों (शरणागतों) में शामिल थे, लिखते हैं कि किदवई साहब रोजाना आफिस जाते और आते हुए हम सबसे मिलने कैंप में आया करते थे। हमारी मुश्किलात सुनते और दुख-दर्द दूर करने की कोशिश करते थे। शहादत से एक रोज पहले आए तो कहा, आज मुझको फिर 'वार्निंग' मिली है। अजीज साहब ने पूछा, 'तो फिर क्या इरादा है ?' हंसे और जवाब दिया, ''मैं तो हरगिज न जाऊंगा।''

रामपुर हाउस[11] की आबादी उस वक्त तीन हजार थी। उसमें कोई आठ सौ कश्मीरी और बालती भी थे। कुछ मजदूर थे, कुछ ठेकेदार वगैरह। उनका हजारों रुपया म्युनिसिपैलिटी के जिम्मे बाकी था। उसी दिन वे सब आकर कदमों पर गिर पड़े कि हमारा रुपया दिलवा दीजिए सो हम वापस वतन चले जाएं। और शफी साहब ने वादा कर दिया कि कल ही दिलवा दूंगा।

लेकिन वह कयामत बरपा[12] करनेवाली 'कल' जब आई तो कश्मीरी सिर पटक-पटककर रो रहे थे और कह रहे थे कि हमारी किस्मत फूट गई। और वाकई यही हुआ। वे सब मसूरी से गए मगर मुफलिस, कल्लाश[13] भूखों मरने के लिए। इस खबर ने कैंप में कुहराम मचा दिया।

शफी साहब उस समय अधिकारियों की लापरवाही या तरफदारी और जनता की गुंडागर्दी दोनों के खिलाफ लड़ रहे थे। सबकी ख्वाहिश थी कि किसी तरह यह रोड़ा रास्ते से हट जाए। इधर वे समझते थे कि उनका फर्ज है मुकाबले पर जमे रहना। बुराई की बड़ी-बड़ी ताकत के सामने सिर न झुकाने का उन्होंने बीड़ा उठा रखा था। आखिर इस कशमकश में जान से हाथ धोना पड़ा। तोड़फोड़ करने वालों को उनकी गतिविधियां भला कैसे पसंद आ सकती थीं। बहुतों को यह भी डर था कि घर का भेदी लंका ढाए। कुछ और थे जो उनको मारकर धर्म के रक्षक बनना चाहते होंगे। कितने दिनों से आ रहे थे। कितनी बार लिख चुके थे। कितनी इच्छा घर आने की थी मगर खुदा को करना कुछ और था। तकदीर पर क्या ज़ोर ? देहरादून के दोस्तों का आग्रह, हम सबके खत, घर भर की परेशानियां, कोई भी उस वक्त को न टाल

10. शौकत हयात खां के बेटे या भतीजे थे और इकबाल मुर्शीद किदवई के दामाद।
11. रामपुर हाउस में मुस्लिम पनाहगुजीनों (शरणार्थियों) को रखा गया था
12. प्रलयंकारी।
13. गरीब-गुरबे।

सका। जो मुकर्रर हो चुका था।

अब अक्सर यह खयाल आता है कि शायद खुद मैंने ही लखनऊ आने के लिए इसरार नहीं किया। मेरे भाई पहले ही मुझे इलाजम देते थे—अगर जोर देकर लिखो तो जरूर चले आएंगे। मगर तुमको तो जैसे फिक्र ही नहीं है। लेकिन मुझसे ज्यादा कौन उनके मिजाज को जान सकता था ! मैं जोर कैसे देती, किस मुंह से इसरार[44] करती ? अपनी बुजदिली से उनकी बहादुरी की तुलना करने में तो मुझे खुद शर्म आ रही थी।

खतरे से भागना, विरोध से पीछे हटना, जान-माल या किसी नुकसान के डर से अंतरात्मा के खिलाफ कदम पीछे हटाना उनके स्वभाव के विपरीत था। वह समझते थे हिंदुस्तान उनका घर है, उनका देश है, उनकी जन्मभूमि है। इस धरती पर जिंदा रहने, चलने-फिरने और कारोबार करने का उन्हें भी उतना ही हक हासिल था जितना किसी और को। जो कुछ हो रहा है यह दुश्मनी है, दोस्ती नहीं और मुल्क की बरबादी उनकी अपनी बरबादी है। उन्हें अधिकार है कि अपनी इज्जत और पैदाइशी हक के लिए मुकाबला करें, मजलूमों की इमदाद वे कैसे न करते ?

जिस बात को वे ठीक समझते हों उसे करने से तो कोई उनको कभी रोक नहीं सका था और मैंने तो कभी ऐसी कोशिश ही नहीं की थी। और अब से कुछ पहले खुद मैं एक बार ये शब्द भी लिख चुकी थी, "मेरा खयाल है किसी जिम्मेदार आदमी को ऐसे वक़्त अपनी जगह से हटना नहीं चाहिए। मुमकिन है उसके हाथों दस गरीबों की जानें बच जाएं या सौ-पचास की रक्षा हो जाए या दूसरों की मुसीबत में वह अपनी शख्सीयत[45] के असर से कुछ करा सके।"

लेकिन असलियत यह है कि अब यही जी चाहता था कि खुदा करे वे चले आएं। न आएं तो किसी तरह मैं उनके पास पहुंच जाऊं। जिस आग से वे खेल रहे थे उसी आग में साथ ही जल-मरने की हसरत जी में थी, लेकिन कुछ भी तो न कर सकी।

अंदर-ही-अंदर दुआएं मांगती थी। भाइयों को तार देने या फोन करने से भी मना नहीं करती थी। खुद भी दो-एक बार नहीं, कई बार लिखा : "घर में सब बहुत परेशान हैं और क्योंकर कहूं कि खुद मेरी भी बड़ी ख्वाहिश है, अब लखनऊ आ जाओ तो अच्छा है। लोग मुझे आने नहीं देते हैं, वरना अब तक कब की आ चुकी होती...।"

2 अक्तूबर को उनका जवाब आया। उसमें अपनी लाचारियों का इजहार[46] किया था और लिखा था, "अनीस, मुझमें कमजोरी न पैदा करो। मैं यहां से हटूंगा नहीं। हंगामा खत्म होने दो तो मैं इन सबको बतलाऊंगा, वरना जो मुकद्दर में है। बस खुदा

44. आग्रह।

45. व्यक्तित्व।

46. प्रकट।

से दुआ करो कि वह मुझे साबित कदम[47] रखे।"

इस जवाब ने उनकी कद्र मेरे दिल में और बढ़ा दी। वह भाग कर बच सकते थे। बल्कि यह तो उनसे कहा भी जा रहा था। लेकिन गांधीजी की अहिंसा को वे जुल्म और जब्र के मुकाबले के लिए सबसे बड़ा हथियार समझते थे और अकेले उस सरज़मीन पर ठहरकर उस बर्बरता और अन्याय के खिलाफ़ आवाज उठाना चाहते थे। मैं उनके पक्के इरादे को कैसे तोड़ सकती थी, जबकि खुद ही उसकी सचाई की कायल हो चुकी थी।

सब कुछ सोचकर दिल को तसल्ली देने की नाकाम कोशिश करती रही। लेकिन वहां तो आग-सी लगी हुई थी। अब यह तो अल्लाह ही जानता है कि उनके अगले चार-पांच दिन किस रूहानी[48] कशमकश में गुजरे होंगे। न कोई अपना, न पराया। दुश्मनों का घेरा, धमकी भरे खत और टेलीफोन। तन्हाई और हर पल मौत के कदमों की चाप...मेरे खुदा...मुझे याद आता है कि मैं एक दिन मसूरी में उनके एक शेर पढ़ने पर लड़ रही थी। सुबह-सुबह नहाते समय उन्होंने शेर पढ़ा :

किसी के मुंह से न निकला यह मेरे दफ्न के वक़्त
कि इन प' खाक न डालो ये हैं नहाए हुए

इस बदशगुनी पर मुझे बहुत गुस्सा आया। काफी देर तक मैं झगड़ती रही। वे हंसते रहे, मगर इतना किया कि फिर जब तक मैं रही यह शेर नहीं पढ़ा। आज सब कुछ याद आ रहा है, जो न याद करना चाहो वह भी।

देरादून में मि. खुरशीद लाल[49] वगैरह दोस्तों ने खुद ही 8 अक्बूबर के लिए उनकी सीट रिजर्व करवा दी और यह तय हो गया कि अब लखनऊ चले जाएंगे। मगर कुदरत तो कुछ और मुकर्रर कर चुकी थी। 7 अक्तूबर को, यानी उससे एक दिन पहले हमेशा के लिए लखनऊ आना खत्म हो गया। नौ और दस बजे के दरम्यान दफ्तर जाते हुए बहारिस्तान के नीचे शहीद कर दिए गए।

चपरासी साथ था। मारने वाले कौन थे ? कहां से आए ? वह पुलिसमैन जो दोस्तों ने खुद से कोशिश करके उनकी हिफाजत पर दो रोज से तैनात करा दिया था, घर पर क्यों रुका रहा ? ऐसे बहुत से सवालात लोग करते रहे जिनका न हमारे पास कोई जवाब था, न चपरासी के पास। कुछ मालूम ही न हो सका।

और वह पिस्तौल जो आजाद साहब[50] और खुरशीद लाल साहब के कहने-सुनने से जेब में रख लिया था, बदस्तूर रखा ही रहा।

---

47. अडिग।
48. मानसिक
49. देहरादून कांग्रेस समिति के अध्यक्ष और मशहूर वकील। बाद में रफी साहब के साथ उपमंत्री भी बने। फिर पाकिस्तान उच्चायुक्त होकर जा रहे थे कि शायद एक हफ्ता पहले स्वर्गवास हो गया।
50. मि. आजाद मसूरी के कलक्टर थे।

सन् 1921 से तो मैंने कभी उनको हथियार हाथ में पकड़ते देखा न था। शफी साहब ने कहा भी कि मुझे चलाना तो आता ही नहीं, इसको रखकर क्या करूंगा। उन्होंने चलाना भी सिखा दिया और ताकीद की कि इसको हर वक़्त जेब में रखिए। मरते दम तक जेब में रहा जरूर लेकिन निकालने की जरूरत न समझी। उनकी जेब से निकला खून में लिथड़ा पिस्तौल कई माह बाद हमें मिला जो साफ हो चुका था, मगर अब भी उस पर धब्बे बाकी थे। ''बेगुनाही की मुहर'' उस पर खून से लगा दी गई थी :

जिंदगानी की हकीकत कोहकन के दिल से पूछ
जू-ए शीर-ओ-तेश : ए-संग-ए-गरां है जिंदगी[51]

और अपनी जिंदगी का संग-ए-गरां उतार फेंकने के बाद वह यकीनन बहुत खुश होंगे। उन्होंने बेहद परेशानी और तंगहाली की जिंदगी बसर की। मुश्किल से आमदनी का बीसवां हिस्सा उन पर खर्च होता था इसलिए कि दूसरे ज्यादा से ज्यादा आराम से रह सकें। सुबह से लेकर शाम तक हर छोटे-बड़े मामले में वह अपने पर दूसरों की जरूरत, ख्वाहिश और अहमियत को तरजीह देते थे।

और जब यह सब कुछ हो गया तो दिल के टुकड़े उड़ गए। एक वार तो बदले की आग ने मेरे दिल-दिमाग को फूंक ही डाला था, मगर कुछ ही देर बाद मैंने अपने ऊपर काबू पा लिया।

जहां हजारों इंसान मारे गए, वहां यह भी सही। तसल्ली के लिए यह भी तो काफी है कि बेगुनाह शहीद हुए, किसी को मारा नहीं, किसी पर जुल्म नहीं किया। किसी को तबाह नहीं किया। खुदा और उसकी मखलूक[52] की जो मांग थी उसे पूरा किया, इंसानियत का जो हक था वह अदा किया।

एक साहब कहने लगे, ''आप लोगों की तरफ से न तहकीकात की कोई मांग हुई, न मुजरिमों की तलाश और सजा के लिए कोई कोशिश की गई।'' मैं भला इसका क्या जवाब देती। मेरी कोई ख्वाहिश ही बाकी न थी। खोई चीज हमें मिल नहीं सकती। कमान से छूटा हुआ तीर वापस नहीं आ सकता। दिल पर लगा हुआ जख्म अब नासूर ही बनकर रहेगा और इस वीराने में अब रहती दुनिया तक बहार आने की नहीं।

कातिल को पकड़वा कर मैं क्यों उसकी औरत को बेवा करूं ? क्यों उसके बच्चों को यतीम बनाऊं ? शायद उसकी मां हो तो उसके तड़पने का सामान मेरे हाथों क्यों हो ? खुदा ही पर क्यों न छोड़ दूं ? वह तो सबको जजा और सजा देने वाला है, यह फैसला उसी को क्यों न सौंप दूं ? और फिर मैं क्या जानूं वह है कौन ? फिर यह बात भी है कि तहकीकात कराना, सजा देना गवर्नमेंट का काम है। आखिर कानून और

---

51. जीवन की वास्तविकता फरहाद के दिल से पूछ। यह दूध की नदी खोद निकालने और भारी पत्थर तोड़ने जैसा कठिन होता है।

52. बंदे।

हुकूमत को किसी काम की जांच-पड़ताल के लिए हमारी सलाह और इजाजत की जरूरत ही क्यों ?

जो मुझ पर पड़ी है वह कुछ नई नहीं है। और भी हजारों-लाखों इस मुसीबत में गिरफ्तार हैं। सब्र और सुकून की खातिर मैंने किस-किस तरह अपने आपको समझाया, कैसे-कैसे मतलब निकाले और कितनी दुआएं खुदा से मांगी कि ऐ खुदा, जिस साबितकदमी की दुआ शफी साहब मांग कर रहे थे वह अब मुझको अता[53] कर दे।

एक हफ्ता तो खैर इस आलम में रही कि अपनी भी खबर न मिली। लेकिन कहां तक ! जिंदा थी और दुनिया की नजर में भी मुझे जिंदा इंसानों की तरह रहना था। इसलिए अपने होश-हवास जमा करने शुरू कर दिए। आहिस्ता-आहिस्ता चार दिन सोचकर मैंने एक राय कायम कर ली कि अगर मसूरी नहीं जा सकी थी तो न सही, अब दिल्ली पहुंच कर अपने आपको दुखों के उस सागर में डुबो दूं जिसमें गर्क हो रही है। वहां गांधीजी हैं और उनकी अमली रूहानियत[54]।

दिल्ली, जिसका हर गली-कूचा अतीत की खुली हुई किताब है, जो बीसियों बार आबाद हुई, इतनी ही बार उजड़ी और उजाड़ी गई लेकिन हर मरतबा फिर बसी। कभी गैरों के हाथों लुटी, कभी अपनों ने नोचा-खसोटा। कभी मेहमानों ने इसकी दुर्गत बनाई और कभी घरवालों ने।

इतिहास की इस पुरानी किताब में 5 सितंबर, 1947 से एक नया खूनी अध्याय जुड़ गया है। मैं यहां इस कहानी को पढ़ने के लिए नहीं उस तूफानी समुद्र में अपनी जिंदगी के सबसे बड़े गम को गर्क करने के लिए आई थी कि शायद इसी में भविष्य का कोई ओर-छोर मिल जाए।

जब किश्ती साबित सालिम[55] थी साहिल[56] की तमन्ना[57] किसको थी।
अब ऐसी शिकस्ता[58] किश्ती पर साहिल की तमन्ना कौन करे।

---

53. देना।
54. नेकी और अच्छाई का व्यवहारिक रूप।
55. ठीकठाक।
56. किनारा।
57. इच्छा।
58. टूटी-फूटी।

2. शहीद-ए-आजम गांधीजी के हुजूर में

मुद्दतों से जी में अरमान था कि चंद हफ्ते मौजूदा जमाने के उस सबसे बड़े इंसान के कदमों में गुजारूं। दुनिया का मोहसिन[1] इस सदी का सुधारक, भौतिकता के इस दौर में आध्यात्मिकता का अलमबरदार[2] अपने देश में मौजूद हैं और बदकिस्मती देखो कि आज तक कुछ क्षण भी उसकी संगति नसीब न हो सकी। अपनी इस महरूमी[3] का खयाल करके हमेशा जी दुखता था। लेकिन हर काम का एक वक्त मुकर्रर है। फिर यह भी है–

देते हैं बादः जर्फ-ए-कदहख्वार देखकर[4]

और यह जर्फ[5] पैदा हुआ जिंदगी की सबसे बड़ी चोट से। ऐसी चोट जिसके बाद न कोई दुख ही महसूस होता है न तकलीफ। मुझे भी कुदरत ने उस कसौटी पर कसा और उसी भट्ठी में तपाया जिसमें हर पल खरे-खोटे की परख हो रही थी और जिसमें उस वक्त सारा हिंदुस्तान तप रहा था। खुदा जाने नतीजा क्या रहा मगर दिल इतना द्रवित जरूर हो गया कि मैंने बापू के सामने जाकर सच्चे दिल से अपनी सेवाएं पेश कर दीं।

इतना अफसोस जरूर है कि यह पुरानी आरजू पूरी हुई तो उस वक्त जब उनकी उम्र का पैमाना भर चुका था। लेकिन मैं तो इतने पर भी खुदा का शुक्र करती हूं कि डूबते हुए सूरज की किरणों में चंद मिनट ही के लिए सही, मैं अपने ठिठुरे हुए दिल को गर्मी पहुंचा सकी। मशीनी और भौतिकता के इस बनावटी दौर में असली रूहानी बुलंदी का एक नजारा मैंने भी देख लिया और अपनी टूटी-फूटी निस्सार[6] पूंजी लेकर मैं भी इस युग के मसीहा के दरबार में हाजिर हो गई।

बिड़ला हाउस में आदमियों की भीड़ थी। गैलरियों में बेशुमार लोग भी जा रहे

---

1. भला करने वाला।
2. नायक।
3. अभाव।
4. पीने वाले का प्याला (पात्रता) देखकर उसे शराब देते हैं–गालिब।
5. नैतिक शक्ति।
6. मामूली।

थे। हर तरफ चहल-पहल थी। लेकिन बापू के कमरे में एक गंभीर शांति छाई हुई थी। यह अमन और सचाई का देवता सफेद खद्दर पहने लकड़ी के तख्त पर बैठा था जिस पर दूध-जैसी सफेद चादर बिछी थी। करीब ही आभा[7] और मन्नू[8] वगैरह थीं। मैंने संभलने की बहुतेरी कोशिश की, मगर बेकार। उनके देखते ही मेरा जब्त का बांध टूट गया और मैं बेकरार हो गई जैसे कोई मुसीबतजदा लड़की अपनी मां को देखकर फूट पड़े। आंसू थे कि उमड़े चले जा रहे थे। मुंह से एक लफ्ज तक न कह सकी। आवाज निकलती ही न थी।

गांधीजी खुद ही बोले, "मैं समझ गया। उन्हीं के लिए तो मुझे सुबह[9] से तैयार किया गया था। आओ बैठो।"

उनके चेहरे पर पुरसुकून[10] मुस्कराहट थी। पास ही छोटी-सी चौकी पर शायद दलिया और कोई कच्ची तरकारी रखी थी जिसे वह आहिस्ता-आहिस्ता खा रहे थे और उतने ही आहिस्ता-आहिस्ता बोल रहे थे। कहने लगे :

"रो नहीं। उनके लिए क्या रोना ? वे मरे थोड़े ही हैं, जीवित हैं। वे तो अपना काम करते हुए शहीद हुए। ऐसी मौत किसे नसीब होती है ? और ऐसे लोग मरते कब हैं ? यह मौत तो किसी खुशकिस्मत ही को मिलती है।"

मैंने कहा, "बापू, कायदे के मुताबिक तो मुझे अभी कई महीने घर से नहीं निकलना चाहिए था। लेकिन मैं सारे बंधन और सीमाएं तोड़कर इसलिए जल्दी आपके पास चली आई कि कहीं आप पाकिस्तान न चले जाएं। बापू, मैं भी उसी तरह सेवा करते हुए और काम करते हुए मरना चाहती हूं जिस तरह शफी साहब ने जान दी। मेरी बेकार जिंदगी को भी किसी मसरफ[11] का बना दीजिए।"

मुस्कराए और कहा, "मैं कैसे जा सकता हूं, यहां तो अभी बहुत काम पड़ा है। कलकत्ता तो दिल्ली के सामने एक खेल था, खिलौना। और जब तक यह सब खत्म न हो ले, जब तक हरेक मुसलमान बच्चा पहले की तरह बाहर न फिरने लगे मैं कैसे जा सकता हूं ? इन दिनों तो लोग बस पागल हो रहे हैं।"

थोड़ी देर के बाद बापू ने मुझसे कहा, "सुशीला[12] के पास चली जा। वह वहां मुस्लिम कैंप में कुछ करती है, वह बताएगी। सेवा करना तो अच्छी बात है। उससे मिल लो और फिर आना। रोने की बात नहीं, सेवा करो और खुश रहो।'

क्या पता क्या कुछ कहा, और तो कुछ याद नहीं आता। मैं उठकर चली आई

---

7. गांधीजी की पोती।
8. गांधी जी के पोते की पत्नी।
9. मैं सुबह फोन से आने की इजाजत ले चुकी थी।
10. शांत।
11. उपयोगी।
12. डॉ. सुशीला नैयर, गांधीजी की शिष्या। बाद में हिंदुस्तान की स्वास्थ्य मंत्री बनी।

और शायद सीधी कैंप पहुंची। सुशीला से मिली तो उन्होंने मरीजों को खाना पहुंचाने और तैयार कराने का तरीका मुझे समझाया। जिंदगी के इस खतरनाक मोड़ पर आकर गांधीजी का मार्गदर्शन मुझे यहां न ले आता तो क्या होता ? यह सवाल अब भी रह-रहकर अपने आपसे करती हूं। इस नई पगडंडी पर चलते-चलते शायद मैं उस सड़क को पा सकूं जो सीधी मंजिल तक पहुंचती है। बापू ने सहारा न दिया होता तो शायद मैं हैरान-परेशान उस चौराहे पर खड़ी-की-खड़ी रह जाती और कदम किसी तरफ न उठते।

जब दूसरी बार गांधीजी का सामना हुआ तो आंसू थम चुके थे, सुकून छा गया था। उस समय बापू के इर्द-गिर्द मणि बेन पटेल, सुभद्रा दत्त[13] और कई अजनबी लोग थे। सुभद्रा किसी मुस्लिम अफसर का मुकद्दमा पेश कर रही थीं और बापू सुन रहे थे। मणि बेन ने सब कुछ सुनकर कहा :

"इस मुसलमान से बोलो सरदार से मिले और सब बात बताए।"

सुभद्रा ने मायूसी से जवाब दिया, "सरदार तक उसकी पहुंच कहां हो सकती है ? वह बेचारा कैसे हिम्मत करे ?"

मेरा बदला हुआ ढंग देखकर बापू मुस्कराए और मुझसे मुखातिब[14] हुए। मैंने बताया कि इस तब्दीली की वजह यह है कि अब मैं सुशीला के साथ पुराने किले में मरीजों को खाना पहुंचाती हूं। और अपने काम से मुतमइन[15] हूं। यह सुनकर खुश हुए, बोले—यह तो अच्छी बात है।

थोड़ी देर और बैठकर मैंने महसूस किया कि ज्यादा वक्त लेना ठीक न होगा, इसलिए उठकर चली आई। अब अक्सर मैं प्रार्थना-सभा में शरीक होने लगी, क्योंकि उस वक्त घर पर होती थी।/सुबह तो मुझे कैंप पहुंचने की जल्दी होती थी जहां से दो बजे के पहले फुर्सत मिलना मुहाल था। कैंप में जब कोई मुश्किल पेश आती तो फौरन पहुंचती, मगर ज्यादातर ब्रज किशनजी से कहकर बापू तक बात पहुंचा देती। सुशीला नैयर के जरिए कहलवा देती। सिर्फ इस खयाल से मैं उनके पास रोजाना नहीं जाती थी कि उनका कीमती वक्त लेने का ज्यादा हक उनके पुराने कार्यकर्ताओं और उनके साथियों का है। मुझे बिला वजह उनको परेशान नहीं करना चाहिए। कहीं बुरा न मानें कि यह तो हर रोज सिर पर सवार रहती है, हालांकि जल्द ही मुझे मालूम हो गया कि बापू बुरा नहीं मानते थे। फिर भी मेरी कायरता और बड़ों के आदर का विचार बाधक रहे।

एक दिन गई तो बापू डा. जाकिर हुसैन से कह रहे थे :

"डाक्टर साहब, जाओ सामान संभाल लो। मेरे पास लोग आए थे और ऐसा कह रहे थे कि वह तुम्हारे करौल बाग वाले स्कूल का कुछ सामान बचा सके हैं और

---

13. सुभद्रा जोशी जो उस समय मिस सुभद्रा दत्त थी।

14. संबोधित।

15. संतुष्ट।

शायद वापस करना चाहते हैं।''

बातें शायद देर से हो रही थीं, इसलिए मैं पूरी तरह न समझ सकी। लेकिन बाद में मालूम हुआ कि फसाद में जामिआ के स्कूल, मकतबा (प्रकाशन गृह) लाइब्रेरी को कई लाख का नुकसान पहुंचा था। भले लोगों ने कुछ सामान बचा लिया और उनकी इच्छा थी कि डाक्टर साहब आकर देख लें। लेकिन डाक्टर साहब उस मंजिल पर पहुंच चुके थे कि अब देखने की ताकत भी नहीं रखते थे। चोट बड़ी सख्त थी : स्कूल की इमारत का अफसोस न था, अपनी कीमती किताबों और बरसों की मेहनत का अफसोस था। वे टाल रहे थे।

गांधीजी डाक्टर साहब से आहिस्ता-आहिस्ता बात कर रहे थे, लेकिन मैं कुछ सुन थोड़े रही थी, मैं तो किसी और ही सोच में थी।

अतीत के 27 साल मेरी नजरों में घूम रहे थे। जब मैंने पहले पहल बापू का नाम सुना, जब पहली बार अहिंसा और सच्चे रूहानी[16] उसूलों पर सियासी पार्टी बनाने की चर्चा सुनकर मैंने अपने को तौला था। सन् 1921 से लेकर अब तक सारी उम्मीदें मुझे याद आईं। महात्माजी के ऊंचे आदर्श, उनके मीठे बोल, उनकी सादा जिंदगी पर विरोधियों का व्यंग्य। कभी नंगा फकीर, दज्जाल (मायावी) गांधी, कभी मुसलमानों का सबसे बड़ा दुश्मन, हिंदुओं का नाश करने वाला, कभी महात्माजी और उस वक्त :

रिंद[17] कहता है वली[18] मुझको, वली रिंद मुझे

सारे ही सीन आंखों में फिर गए। यह इंसान कमजोर, दुबला-पतला, मुट्ठी भर हड्डियों का ढेर और इसके अंदर वह बला की ताकत, यह अनथक काम करने की शक्ति, यह सब्र और जब्त[19] आखिर कहां से आ गया ? 27 साल की मेहनत बरबाद हो रही है। अपने हाथों बनाई हुई इमारत ढाई जा रही है। इस घुप्प अंधेरे में, इस आंधी और तूफान में यह अब तक कैसे जोत जगाए रहे ? यह शमा बुझ तो न जाएगी, यह सहारा भी तो न टूट जाएगा ? खुदाया क्या होगा ? ठंडी सांस भरकर मैं उठ आई। सोचते-सोचते मैं कहीं पागल न हो जाऊं ?

दिल्ली में...

अक्तूबर-नवंबर की दिल्ली एक खून में लिथड़ी हुई लाश थी, जिस पर सैकड़ों गिद्ध और चीलें मंडरा रही थीं कि इस 'बुड्ढे रखवाले' की जरा नजर बचे या वे यहां से हटें और वे इस लाश की तिक्का-बोटी कर डालें।

कोई जगह सुरक्षित न थी। कोई दिल मुतमइन न था। किसी के होठों पर

---

16. आध्यात्मिक।
17. धार्मिक बंधनों से मुक्त : शराबी, लंपट।
18. महात्मा, ऋषि।
19. सहनशीलता।

मुस्कराहट न थी। मुहब्बत का नाम-निशान मिट चुका था। हर तरफ नफरत का बोलबाला था। इधर मुसलमानों पर आफत आई हुई थी—जमीन सख्त थी, आसमान दूर। इधर पाकिस्तान के हिंदू मुसीबत के मारे, बेसहारा, बेकस, लुटे-पिटे काफिला-दर-काफिला चले आ रहे थे। न कहीं शांति मिलती थी न कहीं चैन। ऐसे में सिर्फ महात्माजी का कमरा एक शांति और शरण की जगह थी जहां भयभीत दुखियारे मुसलमान, तबाहहाल, गम-गुस्से की आग में फुंकते हुए हिंदू शरणार्थी, बेसहारा औरतें, लावारिस बच्चे, बड़ी-बड़ी दाढ़ियों वाले सिक्ख और तिलकधारी पंडित, लंबे चोगे पहने हुए ईसाई, संन्यासी और अरबी और हिंदी मिले-जुले लिबास और हुलिए वाले उलेमा[20]—यह कमरा सभी का ठिकाना था। यहां पहुंचकर सब यही महसूस करते थे कि—

करिश्मा दामन-ए-दिन मी कशमद कि जाईं जास्न[21]

वहां तो उन्हें कोई टोक नहीं सकता था—न कोई डर, न दबाव। भला अपने बाप से कोई खुलकर बात न करेगा तो फिर किससे करेगा ? हर शख्स यही महसूस करता था कि बापू अपनी औलाद को दामन में छिपाकर हर मुश्किल और आफत से बचा लेंगे।

आने वाले अपना दुख-दर्द कहते और उनसे कहकर ऐसा संतोष हो जाता जैसे दुख की दवा मिल गई, गुत्थी सुलझ गई और सिर से बोझ हट गया। और यह असलियत है कि सब कुछ हो जाता था। गवर्नर से लेकर भिखारी तक कौन ऐसा था जो बापू का आशीर्वाद या दुआ लेने न आता हो।

आज भी कानों में वह कलाम-ए-पाक[22], रामधुन और भजन की आवाज गूंज रही है। वह सरमदी (शाश्वत) राग, वह सादा, पुरसुकून मंजर[23] वह खामोश जन समूह और फिर बापू बेजान पत्थर की मूर्ति की तरह खामोश, आंखें बंद, तल्लीनता और ध्यान की स्थिति दुनिया से बेखबर जैसे चौकी पर जड़ दिए गए हों।

प्रार्थना खत्म हुई और वह चौंक पड़े। मानो मूर्ति में जान पड़ गई। आंखें खोलीं और मीठे-मीठे बोल फिजा में बिखरने लगे। इतने सादा लफ्ज, टूटी-फूटी जबान, पोपला मुंह, न चटपटी लच्छेदार बातें, न कविता, न रंगीनी, ऐसा लगता था कि हर लफ्ज कानों के रास्ते दिल में उतरा जा रहा है। हथौड़े से दिल पर चोटें लगाई जा रही हैं...ऐ मेरे मालिक...काश यह अमर सत्य बन जाता !

प्रार्थना के बाद के भाषण कितनों के दिल का मरहम बनते और कुछ की नफरत और अदावत का सबब भी हो जाते। किसी को चेतावनी दी जाती, किसी को घुड़की।

---

20. मुस्लिम विद्वान।
21. यही सबसे खूबसूरत और पुरसुकून जगह है।
22. पवित्र कुरान।
23. दृश्य।

सोते हुओं को जगाने वाली यह पाक लाठी तीन माह तक दिल्ली के फिजा में लहराती रही मगर सोए हुए लोग ! वे तो अनादि काल से सोते रहे थे।

कभी-कभी ऐसा असर दिल पर होता कि लोग रोने लगते। मैंने नजर उठाई तो एक बूढ़े सिक्ख को देखा खड़े रो रहे हैं। खुद अपने आपको देखा तो आंसू निकल आए थे। चोट खाए हुए दिलों को यहां मरहम भी मिलता था और तस्कीन भी और कभी न मिटनेवाली तड़प और बेचैनी भी...ऐ काश मैंने उससे ज्यादा देखा होता !

रोने से मुझे हमेशा नफरत रही है। रोना बुजदिली और कमजोरी की निशानी है। मैं अब भी रोना नहीं चाहती थी, लेकिन कभी-कभी ऐसा मालूम होता कि शायद उसके सिवा और कोई चारा ही नहीं रह गया है। अपने को न रोऊं मगर अपने से बदतर जिंदगियों पर आंसू न बहाना बस की बात न थी। लेकिन महात्माजी के सामने तो रोते हुए भी शर्म आती थी। मैं अक्सर उन्हें रंजीदा देखती। लोगों के पागलपन का जिक्र बड़े दुख से करते, लेकिन जुल्म और नाइंसाफी के खिलाफ लोहे की दीवार बने खड़े थे।

बड़े-बड़े तनावर दरख्त[24] उन दिनों जड़ से उखड़ चुके थे। आलीशान महलों की बुनियादें हिल गई थीं। इस तूफान के थपेड़े खाकर जाने कितनी किश्तियां डूब चुकी थीं और किन-किन में सूराख हो गए थे। भारत का नया-नया बना जहाज डूब रहा था और नाविक हथेली पर जान लिए जहाज को भंवर से निकालकर ले जाने की कोशिश में लगा हुआ था। चंद अल्लाह के बंदे अपनी बिसात पर उसका साथ दे रहे थे और कुछ ऐसे भी थे जो दूर साहिल पर खड़े तमाशा देख रहे थे।

ऐ खुदा, यह टूटी किश्ती तो छलनी हो चुकी है, कैसे साहिल तक पहुंचेगी ?...बिजली की तरह खयाल आता और सारे सब्र, सुकून और उम्मीद को जलाकर खाक कर जाता।

एक कांग्रेस वर्कर ने बातया कि बापू ने कांग्रेसियों से पूछा है कि अपना-अपना दुखड़ा तो तुम बहुत सुना चुके, अब यह बताओ कि कितने आदमी मरे ? उन्होंने अंदाजा बताया, तो फिर पूछा, "उनमें से कांग्रेस वाले कितने थे ?" अब तो वे लोग बहुत सिटपिटाए और कहा, "जी हमारी जानकारी में तो एक भी नहीं मरा।"

बापू ने कहा, "तो फिर तुम लोग कैसे कहते हो कि हमने फसाद रोकने की बहुत कोशिश की ? कोशिश करते हुए जब कोई मारा नहीं गया तो मैं कैसे मान लूं कि तुमने कोई कोशिश की थी ?

यह थी अमल[25] की सबसे ऊंची मंजिल जिस तक वह खुद जाना और अपने साथियों को भी ले जाना चाहते थे। बुराई को मिटाने के लिए, पाप को खत्म करने के लिए उनकी नजर में इस हद तक जाना चाहिए था।

---

24. विशाल वृक्ष।
25. व्यवहारिक जीवन।

नया-नया काम पड़ा था और नई-नई चोट, मैं बहुत जल्द बीमार हो गई। जरा तबीयत संभली तो याद आया कि कई दिन हो गए बापू से नहीं मिली हूं, क्योंकि तीसरे-चौथे दिन जाया करती थी और इल्म[26] और अमल के इस सरचश्मे[27] से नई ताकत लेकर पलटती थी। आज जो गई तो खांसी आ रही थी, आवाज भारी थी। मुझे देखते ही पूछा : "तू अच्छी तो नहीं है।"

मैंने कहा, "बीमार हो गई थी। कई दिन से कैंप भी नहीं जा सकी, न आपके पास आई।"

बदस्तूर मुस्कराते हुए कहा, "यह बहुत बुरा है। बीमार कैसे हुई ? सेवा करने वाले को बीमार तो नहीं होना चाहिए। जब दिल से सेवा करो तो बीमारी कैसी ? जल्दी ठीक हो जा, नहीं तो काम कैसे चलेगा ?

एक हिंदू लड़की मुस्लिम कैंप में मिल गई जो अपने मुसलमान मालिक के साथ मद्रास से दिल्ली आई थी। फसाद में उससे जुदा होकर अस्पताल गई और वहां से कैंप पहुंची। उसे भी महात्माजी के पास पहुंचाने के सिवा कोई चारा न नजर आया। एक हिंदू बहन के जरिए शायद वह अपने रिश्तेदारों के पास मद्रास पहुंच गई।

एक दिन पहाड़गंज के तबाह हाल कांग्रेस कमेटी के सेक्रेटरी[28] को लेकर जब बापू से मिलाने गई तो यही खयाल आया कि खुद मुझे तो इस वक्त कोई खास काम नहीं है, बेकार क्यों बापू को परेशान करूं ? चांदी वाले से कहकर सेक्रेटरी, मुहम्मद अय्यूब को अंदर भिजवा दिया और मैं कैंप वापस चली आई।

बेचारा सेक्रेटरी चीथड़ों लगा हुआ, महीनों के फाकों की मारी सूरत और सीने पर जान-माल और इज्जत की तबाही के दाग लिए जब बापू से मिला होगा तो वह दिल जो दुनिया की छोटी-से-छोटी मुसीबत पर तड़प उठता था, जो दुश्मन के लिए भी बेपनाह मुहब्बत अपने अंदर रखता था, अपने कांग्रेसी की यह दुर्गत देखकर किस तरह से तड़पा होगा ! मैं देख तो नहीं सकी लेकिन सोचकर मेरी आंखों में आंसू आ गए।

अय्यूब साहब ने बताया कि मैं भी रोया और महात्माजी पर भी बहुत असर हुआ और मैंने अपनी पूरी दास्तान थोड़े में उनको सुना दी।

बापू ने कोई उम्मीद नहीं दिलाई, कोई वादा नहीं किया, मगर वह खुश था।

---

26. विद्या।
27. स्रोत।
28. पहाड़गंज खत्म हो चुका था। नए लोग वहां बस गए थे और पुरानी आबादी कुछ कैंप में थी, कुछ बिखर चुकी थी। कांग्रेस का सेक्रेटरी भी मुस्लिम कैंप में था। ठठेरा बिरादरी के मुहम्मद अय्यूब पहाड़गंज कांग्रेस कमेटी के सेक्रेटरी थे। फसाद में अपने पीतल के रोल में बारूद भरकर और लोटे की टोंटियों में आतिशबाजी का मसाला भरकर उनके खानदान ने बलवाइयों का मुकाबला किया। तकरीबन 50 फीसदी सदस्य बिरादरी के मारे गए। खुद उनके घर के शायद 12 आदमी काम आए।

उसके दिल का बोझ हलका हो गया। वह इसलिए तो गया भी नहीं था। उसे तो सिर्फ अपना बोझ उठाने के लिए ताकत चाहिए थी और यह उसे मिल गई थी।

एक दिन हमने एक गांव के हिंदू-मुसलमानों को ले जाकर उनसे मिलवाया। वे दोनों एक-दूसरे के साथ रहना चाहते थे और स्थानीय अधिकारियों की यह जिद थी कि आहिस्ता-आहिस्ता गांव से दोनों को निकालकर नए आने वालों को बसा दें।

ये ऐसी घटनाएं थीं जिनसे बापू का दुख और तकलीफ़ बढ़ती थी। लेकिन हम लोग बिलकुल मजबूर थे। उन गुत्थियों को सुलझाना हमारे बस का न था। हमारी सुनने वाला भी तो उनके सिवा कोई और न था। ले-देकर एक वही तो हमारा सहारा थे या फिर प्रधान मंत्री। मगर बाप और शासक की क्या बराबरी ? वहां शब्दों को नाप-तौल कर कहना पड़ता था, यहां दिल खोलकर रख दिया जाता था। जो जी में आया अनाप-शनाप कह दिया। सही मानों में हजारों मजलूमों का आसरा सिर्फ बापू थे।

एक दिन गई तो गांधीजी चरखा कात रहे थे। मैंने कहा, "उफ्फोह, आप कितना प्यारा सूत कातते हैं ! ज़रा-सा मुझे दीजिए। मुझे कातना आता है मगर इतना खूबसूरत नहीं होता।" कहने लगे, "कातती थी तो क्या अब नहीं कातती ?" यह सच है कि बहुत दिनों से मैंने चरखे को हाथ भी नहीं लागया था, घर ही पर छोड़ आई थी। इसलिए उनके यह कहने पर शर्मिन्दा हुई।

एक गांव के उजड़ने और जायदाद के तबादले[29] की कहानी जब हमने बापू को सुनाई तो कहा, "अच्छा मैं पूछूंगा और कल बताऊंगा।

दूसरे दिन उन्होंने हमें बताया कि मैंने उस जिम्मेदार स्थानीय अधिकारी से पूछा है। वह कहता है मैंने सरकार के एक सदस्य[30] से पूछ कर ऐसा किया था।

सुभद्रा ने कहा, "मगर बापू, एक अफसर को तो जायदाद का लेनदेन उस वक्त तक नहीं करना चाहिए था जब तक दोनों सरकारें[31] फैसला न कर लेतीं। ऐसे अफसर को हटा देना चाहिए।"

बापू रंजीदा होकर बोले, "यह ठीक है उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था मगर उसने किया, और हटाने की जो बात तू कहती है तो फरिश्ते कहां से आएंगे ? आजकल तो लोग बस पागल हो रहे हैं।"

अजमेर से बलवे की खबर आ चुकी थी। बापू बहुत दुखी थे। अभी तक खबरें

---

29. स्थानांतरण।
हमें यह खबर मिली थी कि दिल्ली के जिला मजिस्ट्रेट ने तिहाड़ गांव में बद्र-ए-आलम साहब की हजारों बीघा जमीन से अपनी पाकिस्तान में छोड़ी हुई प्रापर्टी का तबादला कर लिया है। इस जमीन पर बसे हुए और काश्तकार मुसलमान और हरिजन थे। जमीन उनसे खाली कराकर शरणार्थियों को दी जा रही थी। गांव की आबादी लगभग 7 हजार थी—पांच हजार मुसलमान, दो हजार हरिजन। मुसलमान—मय सामान कैंप में आ चुके थे और हरिजन गांव के बाहर निकाल दिए गए थे।

30. सरदार पटेल।

31. हिंदुस्तान-पाकिस्तान की।

सिर्फ सरकारी जरिए से आई थीं। फिर अजमेर से कुछ कांग्रेसी आए और उन्होंने हकीकत गांधीजी को सुनाई। वे लोग खुद दिल्ली आकर 3 जनवरी को पंडित जवाहरलाल को अजमेर ले गए। सही तारीख तो मुझे याद नहीं। शायद उसके बाद ही अजमेर से मिर्जा अब्दुल कादिर बेग दिल्ली आए। मैं भी इत्तिफाक से मौजूद थी। अजमेर शरीफ की दर्दनाक हालत, पुलिस और फौज की ज्यादतियां, राष्ट्रीय सव्यं सवेक संघ के जुल्म और अधिकारियों की अयोग्यता सब कुछ बयान करने के बाद उन्होंने कहा कि सारे मुसलमान इस वक्त दरगाह में जमा हैं।

बापू ने पूछा, "कितनी बड़ी है दरगाह जो उसमें सब आ गए ? मैंने वह जगह देखी है।"

मिर्जा साहब ने जवाब दिया, "सात-आठ हजार आदमी उसमें समा सकते हैं। बहुत जगह है उसमें।"

बापू ने कहा, "मगर अजमेर की सारी आबादी सिर्फ इतनी तो न थी। बाकी लोग कहां गए ?"

मिर्जा बोले, "कुछ पाकिस्तान गए, कुछ हैदराबाद, कुछ मारे गए। कुछ और जगहों में बिखर गए। कुछ टोंक भी गए हैं।"

बापू ने सुकून से कहा, "यही मैं पूछता हूं।"

चूंकि बातचीत मेरे पहुंचने से पहले शुरू हो चुकी थी, इसलिए मैं पूरा हाल नहीं सुन सकी थी। बाद में तमाम हालात की मैंने खुद जांच-पड़ताल की जिसका जिक्र आगे आएगा।

और फिर 12 जनवरी का दिन आ गया। रात ही को खबर मिल गई थी कि कल ग्यारह बजे व्रत शुरू हो जाएगा। सुबह सवेरे घर के सब लोग बिड़ला हाउस पहुंच गए। वहां कुछ लोग सहन और चबूतरे पर टहलते हुए मिले। कुछ दूर खड़े हुए देख रहे थे। महात्माजी खुले सायवान के नीचे हमेशा की तरह गाव-तकिए से लगे बैठे थे। इर्द-गिर्द कुर्सियां थीं। सुबह की धूप हमेशा वह सायवान और सहन में बैठकर कर लेते थे। खाने के वक्त कमरे में आ जाते थे।

आज सरदार पटेल उनसे बातें कर रहे थे। हम सबको सहन में ठहरने के लिए कहा गया क्योंकि बातचीत अभी जारी थी।[32] भीड़ धीरे-धीरे बढ़ती रही। सरदार की मुलाकात लंबी हो गई। श्रोताओं में सभी परेशान थे, फिक्रमंद थे। महात्मा जी का नन्हा पोता मां की उंगली पकड़े हैरानी के साथ उस व्याकुल भीड़ को देख रहा था।

आखिरकार खाने का वक्त हो गया। पोते ने दादा के साथ खाने में शिरकत[33] की, हालांकि उसकी मां नहीं चाहती थी कि वह शरीक हो, क्योंकि बापू का खाना

32. सरदार पटेल बहुत नाखुश बाहर निकले।
33. हिस्सा लिया।

ही कितना होता है और यह जब भी आता है उनके संतरे और सब्जी में साझी बन जाता है।

इतने में एक साहब ने आकर कहा : आप लोगों को भी बापू से कुछ कहना हो तो आ जाइए। हमें इसके सिवा और क्या कहना था कि बापू हम पर दया कीजिए। मरण व्रत न रखिए। मगर किसी की हिम्मत न होती थी, उनके आदर का खयाल बाधक था। बमुश्किल डरते-डरते मैंने अपने आपको तैयार किया और चंद कदम के फासले से हमेशा की तरह सलाम किया।

गांधीजी खुशदिली से मुस्कराए और कहा, "इतनी दूर से नजर तो ठीक काम नहीं करती, लेकिन मैं पहचान गया जब तूने इस तरह सलाम किया। मैं सब जान गया।"

मैंने अर्ज की, "बापू, हम सब चाहते हैं, सारे काम करने वालों की इच्छा है कि आप हमें पंद्रह दिन की मोहलत और दे दीजिए। अगर तब तक हालत न ठीक हो तो व्रत रख लीजिएगा। और अब तो देखिए हाल बहुत कुछ ठीक हो चला है। शहर में भी शांति है।"

मुस्कराए, और जवाब दिया, "अगर मैं तुझसे पहले पूछता तो तू यह बात न कहती जो आज कह रही है। मुझे फुसलाने आई है ?"

मैंने कहा, "नहीं बापू यह सच है। हालत पहले से बेहतर है।

संजीदगी[34] से बोले, "क्या सच है ? क्या मस्जिदें सब खाली हो गईं ? क्या मुसलमान फिर बाहर फिरने लगे ? देखो गुजरात[35] की ऐसी खबर आई है। अगर दिल्ली को फिर कुछ हो गया ? कुतुब साहब का मजार देखा है ?"

मैंने कहा, "नहीं, मगर सुना है।"

कहने लगे, "अच्छा तो फिर जाकर देखना। उसे तोड़ा गया है और अब अगर अजमेर में ख्वाजा साहब की दरगाह को भी कुछ किया गया तो मैं जीकर क्या करूंगा ? लोग तो बस इन दिनों पागल हो रहे हैं।"

इतने में और बहुत से लोग आ गए। उनमें मौलाना हिफ्जुर्रहमान और मौलाना आजाद भी थे। मौलाना आजाद सामने बैठ गए और कहने लगे :

"यही तो मैं भी कहता हूं कि जब जरूरत होगी, मैं आपको बताऊंगा।"

बापू ने कहा, "आप नहीं बताओगे मौलाना साहब।"

मौलाना ने, अब याद नहीं, कुछ और कहा। उसके बाद गांधीजी फिर मुखातिब हुए और कहा :

"अच्छा तो अब समय हो गया, जाओ। पहले से ज्यादा जी लगाकर काम करो।

---

34. गंभीरता।

35. पाकिस्तान से आनेवाली शरणार्थियों की एक ट्रेन को पाकिस्तान ही के गुजरात स्टेशन पर ठहराकर पठानों ने बुरी तरह कत्ले-आम किया था। सैकड़ों लड़कियां अगवा कर ली गई थीं और दिल्ली में उनके रिश्तेदारों में कुहराम मचा हुआ था।

काम तो करने ही से बेहतर होगा। रोने से तो काम न चलेगा।''

मैं रो रही थी। वे कहते रहे, ''कोई दुनिया में सदा नहीं रहा और मुझे तो मरना ही होगा। फिर मैं ऐसे हालात में जीकर क्या करूंगा...सरदार ने बात तो खराब कही।[36] लेकिन वह तो होममिनिस्टर हैं और मुसलमानों को तो उसके पास जाना ही होगा और बात कहनी होगी।''

इसके बाद मौलाना हिफ्जुर्रहमान से मुखातिब होकर कहा, ''मैं तो उनके पास होकर, उन पर पूरा भरोसा और विश्वास रखता हूं और इस सचाई में मेरे और उनके कुछ भेद नहीं है। मौलाना साहब जाओ। मेरा पैगाम सब तक पहुंचा दो और मुझे मेरे हाल पर छोड़ जाओ।'' वह कुछ और भी कहते रहे। न मैं लगातार सुन सकी, न याद ही रहा। कुछ टुकड़े दिमाग में बच रहे।

सुते हुए चेहरे, फिक्रमंद और डबडबाई हुई आंखें लिए न जाने कितने लोग इर्द-गिर्द जमा थे जो उनका एक-एक लफ्ज गौर से सुन रहे थे। मैं शायद कुछ उस वक्त और ज्यादा कमजोर हो रही थी।

बापू की पीठ की तरफ हम सब सिर झुकाकर खड़े हो गए। आभा, मन्नू, सुशीला नैयर और सारे खिदमत गुजार[37] दाहिने-बाएं आ गए और प्रार्थना शुरू हुई। जैसा कि होता था कुरान, गीता, बाइबिल और भजन सब होने लगे।

बापू की आंखें बंद थीं। हम सबकी नजरें झुकी हुई थीं। दिल धड़क रहे थे और आंखें नम थीं। आध्यात्मिकता एक बार फिर भौतिकता से लड़ाई कर रही थी। इंसानियत का नुमाइंदा[38] दरिंदगी, पागलपन, जुल्म और अशांति को मिटाने के लिए अपनी जान की बाजी लगा रहा था।

इंसानी महानता ने खुदाए बरतर[39] के कदमों में जान जैसी बेशकीमती चीज डाल दी थी कि ऐ मेरे मालिक, अगर इस दुनिया से नेकी, सचाई और आदमीयत ही उठ गई तो मैं जिंदा रहकर क्या करूंगा ? या तो मुर्दा इंसानियत को फिर से जिंदा कर दे ! ऐ मुहब्बत के खुदा ! मुहब्बत की बारिश कर या फिर ये दिन देखने से पहले मुझे उठा ले !

गांधीजी प्रार्थना कर रहे थे, हम सब सिर झुकाए खड़े थे। होठों पर दुआएं थीं और यों महसूस होता था जैसे सिर्फ हम ही नहीं सारी कायनात[40] उस वक्त हमारी

---

36. लखनऊ वाले भाषण की ओर संकेत था, जिसकी शिकायत आमतौर पर मुसलमानों को थी। उसमें सरदार पटेल ने कहा था, जो मुसलमान यहां पड़े हैं उनको पड़े रहने दो। मरते क्यों हो, जमीन खुद ही इतनी गरम हो जाएगी कि वे चले जाएंगे।

37. सेवक।

38. प्रतिनिधि।

39. ईश्वर

40. ब्रह्मांड

उस दुआ में शरीक हो !

अजीब मंजर था वह भी। गहरी खामोशी के बाद आंखें खुलीं। एक दूसरे को देखा तो भारी दिल हलके हो चुके थे। मायूस निगाहें मुतमइन थीं। मेरे पास ही पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल मि. मेहरा[41] खड़े थे। वह शुरू से आखिर तक मौजूद रहे और बहुत ही दुखी नजर आते थे। मगर अब उनके चेहरे से भी गम की कैफियत[42] कम जाहिर हो रही थी। ऐसा लगता था जैसे हम सबने अपना बोझ बापू के कंधे पर रख दिया हो। फिर आहिस्ता-आहिस्ता भीड़ छंटने लगी। हम लोग सीधे शहर गए। पांच दिन गली-कूचों में फिरते बच्चों और बूढ़ों, छोटों और बड़ों की मिन्नतें करते गुजरे। उस दौरान मैं एक दिन बिड़ला हाउस गई तो बाहर की सड़क से लेकर अंदर सहन तक आदमियों का ठठ लगा था। हजारों लोग दर्शन के अभिलाषी, एक बात सुनने के शैदाई इंतिजार कर रहे थे। मैं भी जाकर एक कोने में दुबककर बैठ गई। इतने में बापू बाहर आए, लेकिन उनका परेशान चेहरा, कमजोर आवाज और दुखभरी शांति देखकर मुझसे ज्यादा ठहरा न गया। चंद लफ्ज कहे और उठ आई।

फिर उस दिन तक न गई जब तक उनका व्रत टूट न गया। जाकर भी क्या करती ? रह-रहकर यह खयाल आता था कि हम क्या मुंह लेकर उनके सामने जाएं ? हमारे ही पापों ने तो यह दिन दिखाया। यह भी खयाल था कि बापू ने हमें जी लगाकर काम करने को कह रखा है।

पांचवें दिन 18 जनवरी को व्रत टूट गया। मैंने शहर ही में यह खबर सुनी कि मौलाना आजाद ने संतरे का रस पेश किया और बापू ने उसे पीकर व्रत तोड़ा। यह खबर जंगल की आग की तरह फैल गई ! लोग उमड़कर दीवानों की तरह बिड़ला हाउस की तरफ दौड़ पड़े।

जिस दिन व्रत शुरू हुआ है, सुबह तक शहर की हालत खराब थी, मगर आज वातावरण में शांति थी। दंगे-फसाद के स्याह[43] बादल छंट गए थे और सूरज की किरण नजर आ रही थी। दिलों की स्याही दूर हो रही थी और उसकी जगह विश्वास की रोशनी विराजमान थी।

मैं भी प्रार्थना के समय पहुंची। इतने में बारिश होने लगी। ऐसे में बापू मुकर्रर[44] जगह पर न आ सके और कमरे के अंदर ही से उन्होंने संबोधित किया। बाहर जनसमूह पानी में भीगता रहा था लेकिन किसी ने अपनी जगह से जुंबिश[45] तक न की। प्रार्थना

---

41. मि. मेहरा सच्चे और हमदर्द इंसान थे। कुछ ही रोज हुए उनकी नियुक्ति दिल्ली में हुई थी और नाशुक्री होगी अगर उनके इंसाफ, हमदर्दी और निष्ठा को स्वीकार न किया जाए।
42. हालत।
43. काले।
44. निश्चित।
45. हिलना।

और उनका दुर्बल स्वर सुनकर ही सब लोग टले इतने में एक साहब ने मुझे देख लिया। जबरदस्ती पकड़कर मकान के अंदर ले गए। मैंने कहा, भई किसी तरह बापू के कमरे में पहुंचा दो तो जानें। वह हमें वहां ले गए। बोलने के कारण महात्माजी बहुत थक गए थे। कुछ आदमी अंदर उनके पास खड़े थे, कुछ आदमी आ-जा रहे थे। बापू को शायद नींबू का रस मिला पानी पेश किया गया था। अभी सिर्फ एक घूंट लिया होगा कि जवाहरलालजी सामने आ गए। उन्हें देखकर ऐसी मासूम, बेकरार खुशी चेहरे पर जाहिर हुई कि वह अंदाज मुझे कभी नहीं भूल सकता। जैसे बच्चा कोई बड़ी अच्छी खुशरंग चीज पाकर खिलखिला उठे। गिलास हाथ में था। खुशी के मारे मुंह फैला हुआ था। लोगों ने कहा, "बस अब तो तखलिया[46] कर देना ही मुनासिब होगा।"

कमजोरी कई दिन रही। ऐसा मालूम होता था जैसे जिस्म की खाल झुलस गई हो। वह बच्चों की-सी पहली मुलायमियत जाती रही थी। और चेहरा भर्राया हुआ था।

और फिर 20 जनवरी को प्रार्थना सभा में किसी ने बम फेंका। मुलजिम गिरफ्तार हो गया। मगर दुश्मनों के खौफनाक इरादों ने लोगों के जिस्मों में कंपकंपी पैदा कर दी। क्या विरोधी इस हद तक भी जा सकते हैं ? क्या यह भी मुमकिन हो सकता है ? किसी तरह यकीन नहीं आता था कि कोई हिंदुस्तानी इस सतह पर उतर आ सकता है। फिर कुतब साहब का उर्स आ गया। मेरे साथियों ने तय किया कि महात्माजी के साथ तो उनके खास लोग जाएंगे, हम सब पहले से महरौली पहुंच जाएं। एक दिन पहले जाकर मैं दरगाह की मरम्मत और इंतिजाम वगैरह देख आई थी। यही डर था कि कहीं उस दिन की तरह सवाल कर बैठे तो क्या जवाब दूंगी ?

दरगाह के सहन में दो तरफ एहरारी[47] वालंटियरों और सरहद के सुर्खपोशों[48] ने पंक्ति बना रखी थी। उनके बीच से बापू लाठी टेकते, कमर झुकाए हुए धीरे-धीरे चले आ रहे थे। वह आज बहुत दिनों के बाद ऐसे जनसमूह से गुजर रहे थे जिसमें हिंदू, सिक्ख और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाए खड़े थे। 15 अगस्त के बाद यह पहला मौका था। मुहब्बत, प्यार और एकता का यह मंजर देखकर उन्हें कितनी खुशी हुई होगी।

वह समां आज भी मेरी आंखों में है जब गांधीजी हिंदू-मुसलमानों के झुरमुट में से मुस्कराते हुए, हाथ जोड़े कुतब साहब के मजार पर हाजिर हुए तो मैंने सावित्री से कहा—लो देखो ! आज एक 'जिंदा ऋषि' 'मुर्दा ऋषि' से मुलाकात करने आया है। सब हंस रहे थे। सब खुश थे तबर्रुक (प्रसाद) बंटा तो पहले की तरह मजहब के किसी भेदभाव के बिना लोग एक के ऊपर एक टूटे पड़ते थे।

महात्माजी चबूतरे पर गाव-तकिए से लगकर बैठ गए और हर दिशा से फूलों

---

46. अकेला छोड़ देना।
47. एक पार्टी के सदस्य।
48. लाल वर्दी।

की बारिश होने लगी। वह कमजोर जरूर थे मगर खुश और संतुष्ट थे। दरगाह के सज्जादानशील हिलाल साहब[49] उठे और उन्होंने कुतब साहब की जिंदगी और विसाल (मृत्यु) के हालात सुनाए। कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का जिक्र किया। मौलाना अहमद सईद[50] और सरदार संतसिंह[51] ने भी भाषण दिए। आखिर में खुद बापू ने बहुत कुछ कहा लेकिन मैं उस वक्त न जाने कहां थी ? अगरचे उनके बिल्कुल पास खड़ी थी लेकिन इसके सिवा और कुछ न समझ सकी, न सुन सकी कि उन्होंने कहा—मुहब्बत और सलीका[52] यही कुतब साहब का मिशन था। यही मैं भी कहता हूं। और मैं गहरी सोच में गर्क[53] हो गई।

मैं सोच रही थी हजरत कुतब साहब ने कैसे अब से सदियों पहले अपने जमाने के हैवानों की-सी सिफत[54] रखने वाले इंसानों को इसी तरह मुहब्बत और सचाई की तरह बुलाया होगा। कैसे उन बेरहम, जाबिर[55] खुदगर्ज लोगों को उन खुदाई सिफतों के रहस्य और लाभ समझाए होंगे। शायद इतिहास अपने आपको फिर दुहरा रहा है। इस समय फिर अतीत के पन्ने उलटे जा रहे हैं। सदियों की उलट-फेर में ऐसे बहुतेरे सीन होंगे जिन पर परदा पड़ चुका है और गुजरे हुओं की आंखें हमें देख रही होंगी। काश यह सबक कभी न भूलने वाला सबक हो जाता !

और फिर कव्वाल ने गजल छेड़ी...

कुश्तगान-ए-खंजर-ए-तसलीमरा
हरजमान अज गैब जाने दीगर अस्त[56]

इस शेर ने सदियों पहले अगर हजरत कुतब को तसलीम-ए-जां (प्राण न्योछावर करना) का पाठ पढ़ाया था तो यह मौजूद जमाने के सुधारक को भी सत्य की वेदी पर हे राम ! हे राम ! कहते हुए अपनी जिंदगी की भेंट चढ़ा देने का बुलावा दे गया। इसके चंद ही दिन बाद बापू ने भी अमरता प्राप्त कर ली।

है कभी जां और कभी तसलीम-ए-जां है जिंदगी

---

49. मुझे नहीं मालूम वह पहले भी सज्जादानशील (बड़े फकीर या महात्मा के बाद उसकी गद्दी ग्रहण करने वाला—अनु.) थे या नहीं मगर उस वक्त तो वह सज्जादा और खुद्दाम (सेवकगण) के अकेले नुमाइंदे थे।
50. मौलाना अहमद सईद मशहूर आलिम, कांग्रेस के जबरदस्त नेता और दिल्ली की लोकप्रिय हस्ती थी, साफ और प्रवाहमयी भाषा सबसे पहले उन्हीं से सुनी।
51. पुराने कांग्रेसी, गांधी भक्त और असली संत।
52. शिष्टाचार।
53. डूबना।
54. मानसिकता।
55. बर्बर।
56. जो लोग निष्ठा के खंजर से मारे हुए हैं, उनके लिए हर क्षण गैब (परलोक) से एक नया जीवन आता है।

लेकिन कव्वाली के वक्त बापू चले गए। एक सिक्ख जोड़े ने भी कव्वाली और भजन सुनाए। मैंने मौलाना हिफ्जुर्रहमान से कहा, "मौलाना, आपको तो कव्वाली सुनने का पहला इत्तिफाक होगा ?" बोले, "जी हां, मगर सुनूंगा। यह सियासत है और हुक्म।[57] मुझे तो आखिर तक ठहरना है।" हालांकि वह बहुत लुत्फ ले रहे थे।

बाहर निकली तो खुदाई खिदमतगार[58] एक सुर्ख कपड़े का ऐलान लिए खड़े थे जिन पर बड़े-बड़े हर्फों[59] में लिखा था "सरहद के खुदाई खिदमतगार हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख एकता चाहते हैं।" वक्ती तौर पर बने रेस्तोरां में हिंदू मुसलमानों को चाय पिला रहे थे और मुसलमान हिंदुओं को। यहां हम सब लोगों ने भी चाय पी।

दिल्ली पहुंचकर ऐसे मालूम हुआ जैसे हवा बिल्कुल हल्की हो गई है। कदम तेजी से उठने लगी। रुत बदल गई। मैंने खुली हवा में इत्मीनान की सांस ली। आज उसमें न खून की बू थी, न बदले की गरमी। सबके चेहरों पर सुकून था। सड़कों पर इक्का-दुक्का मुसलमान चलते नजर आए। शरणार्थियों की त्यौरियां गायब हो गई थीं।

मगर बापू खुश न थे, मुतमइन न थे। अलबत्ता रंजीदा[60] भी न थे जैसे कोई हकीम मरीज के अच्छे होने को गहरी नजरों से देख रहा हो और जरा से संभाले पर तीमारदारों[61] की खुशी में शरीक होने से एहतियात करे।

हम सबने खबर सुनाई बापू, अब तो दुनिया ही बदल गई। ऐसा अमन हो गया है कि जहां चाहो चले जाओ। मस्जिदें भी खाली हो रही हैं। और बापू ने कहा 'हूं'। जैसे बच्चे की हिमाकत[62] भरी बातों को मां सुनी अनसुनी कर देती है। इस 'हूं' में वही बात थी कि अभी तुम बच्चे हो, तुम्हें नहीं मालूम मेरी उंगली हिंदुस्तान की नब्ज पर है। अभी सेहत कहां ?

एक दिन खबरें सुनकर दौड़ी गई कि महात्माजी, क्या आप पाकिस्तान जा रहे हैं ? मैं भी चलूंगी।

मुस्कराए, "तू भी चलेगी ? मेरे साथ जानेवालों से तो ट्रेन भर जाएगी। सब यही कहते हैं। मगर मैं कैसे पाकिस्तान जा सकता हूं ? अभी तो यहां बहुत काम पड़ा है।" कुछ देर ठहरकर मैं वापस चली गई और शायद उनसे मेरी यह आखिरी मुलाकात थी।

---

57. गांधीजी ने मौलाना से कहा था कि जाकर कुतब साहब का उर्स कराओ।
58. एहार पार्टी के सदस्यों को खुदाई खिदमतगार भी कहा जाता था।
59. अक्षरों।
60. दुखी।
61. बीमारों की देखभाल करने वाले।
62. बेवकूफी।

3. पुराने किले का मुस्लिम कैंप

उन दिनों मुस्लिम पनाह गुजीनों[1] के दो कैंप थे। मैं दोनों का हाल अलग-अलग इसलिए लिख रही हूं कि मेरे खयाल में उन दोनों में इतना साफ फर्क था कि उसे नजर अंदाज नहीं किया जा सकता।

पुराने किले का कैंप किसी ने कायम[2] नहीं किया था। पहाड़गंज, करौलबाग और शेदपुरा, सब्जीमंडी और करीब के दूसरे इलाकों से भागकर जख्मी, मरीज, बूढ़े, बच्चे और औरतें सभी भूख-प्यास से दीवाने हो रहे थे। पास ही टीले पर मटके शाह[3] का मजार था। वहां शायद कुदरत इसी दिन के लिए मोतकिदीन (श्रद्धालु) से मटके जमा करवा रही थी। मुजाविरों[4] ने बड़ी उदारता से ये मिट्टी के बरतन मांगने वालों को दे दिए। जो गया ले आया। पानी पिया और जब राशन बंटा तो उन्हीं घड़ों-मटकों को तोड़कर उनके पेंदे में खिचड़ी या चावल भी पका लिए। उसी के टुकड़ों से गिलास-कटोरी का काम भी निकाला। इंसान चाहे तो उसकी जरूरत कितनी आसानी से पूरी हो सकती है।

नवाब अली नाम के एक ठेकेदार की लाखों रुपए की अच्छी खरीदी हुई इमारती लकड़ी पुराने किले में ढेर थी। लोगों ने चार लकड़ियां पतली-पतली लेकर चारों कोनों पर गाड़ीं और उन पर अपनी एक चादर या दुपट्टा या टाट का टुकड़ा जो मिला बांध लिया। खासी छत बन गई। धूप और सरदी से, ओस से बचाव का सामान हो गया। हाथों से झाड़-झंखाड़, पेड़, लकड़ी के तख्ते जमीन पर डाले। यही तख्त थे और यही पलंग।

---

1. शरणार्थियों।
2. निर्मित।
3. टीले पर बनी हुई इस दरगाह में सिर्फ एक दीवाना खादिम बाकी रह गया था जिसने चंद दिन पहले टीले पर लकड़ियां गाड़कर घड़े टांगने शुरू कर दिए। लोग देख-देखकर हंसते रहे मगर वह अपने काम में मेहनत से लगा रहा। जब 5 सितंबर को फसाद हो गया तो भागने वालों के काम आए। मुजाविर बेचारे को किसी ने वहीं कत्ल कर दिया था। उससे मांगने की जरूरत न पड़ी। जखीरा कोठरियों से निकालकर वह पहले ही बाहर रख गया था।
4. कबरों की रखवाली करने वाले।

ये थे उनके मकान और खेमे[5] और ये थीं उनकी जिंदगी की जरूरतें और वे सब बजाहिर[6] उसी से मुतमइन थे। जरूरतों को बढ़ाओ तो शैतान की आंत की तरह बढ़ती जाती हैं और घटाओं तो ये इतनी थोड़ी हैं कि यों मालूम होता है हमें किसी चीज की जरूरत ही नहीं। यही लकड़ियां उनके मकान थे और यही जरूरत के वक्त तापने-पकने के लिए ईंधन का काम भी देती थीं। और लुत्फ यह कि तीन महीने की फूंक-ताप के बाद भी इतनी बच गई कि कैंप खत्म होने पर पुलिस और मिलिटरी की लूट के बाद कस्टोडियन प्रापर्टी बनी।

पुराने किले की चारदीवारी में कुछ दालान और ताक बने हुए हैं। ये ताक एक ही आदमी के बैठने या लेटने के लिए बनाए गए होंगे। कुछ कोठरियां भी थीं। एक बाबर की बनवाई हुई मस्जिद भी थी जिसे पनाहगजीनों के कुछ इज्जतदार खानदानों ने अपने रहने की जगह बना ली थी। फाटक के करीब दालान में एक दवाखाना कायम हो गया। किले के फाटके के करीब जीने के ऊपर का हिस्सा बिल्कुल टूट चुका था। यहां बड़े ताकों में दुपट्टे का परदा बांधकर औरतें बैठ गई। खेमे पीछे आए, दवाएं बाद में आईं। नर्स और डाक्टर भी अभी नहीं आने पाए थे लेकिन बच्चों ने आना शुरू कर दिया।

वह बच्चा जिसकी पैदाइश पर घर में महीनों ढोलक बजती, जिसके बगैर सल्तनत[7] वीरान, घर बेरौनक और खानदान का चिराग गुल हो जाया करता है। जिसके लिए मंदिर, मस्जिदों और दरगाहों की खाक छानी जाती है, दौलत के ढेर बेकार और इलाकों, जमींदारियों की तिक्का-बोटी हो जाती है वही बच्चा इस कैंप में बिन बुलाए मेहमान की तरह हर रोज आने लगा। न कोई नर्स थी, न दाई लेकिन बगैर किसी की डाक्टरी मदद के एक-एक दिन में पंद्रह-पंद्रह बच्चे और एक-एक रात में दस-दस बच्चे रोते-चीखते दुनिया में उतरने लगे। यह एक ऐसा मसला था कि जिसका कोई हल नहीं सूझता था। न मां-बाप की परेशानी से कोई फायदा था, न हम ऊपर से देखने वालों की हमदर्दी का। जिम्मेदारियां बढ़ती जा रही थीं और हम सब बेबस होकर कहते—ऐ खुदा हम पर रहम फरमा।

न कोई उनको पूछने वाला, न नहलाने वाला। रात की ड्यूटी पर सिर्फ एक दाई, वह कोस-कोसकर नाल काटती और पटक-पटककर नहलाती और मांएं अपना कलेजा थाम-थामकर रह जातीं लेकिन दम नहीं मार सकती थीं। आखिरकार डाक्टर भी आ गए और दाइयां भी। महात्माजी दिल्ली आ गए और सुशीला नैयर अपने साथियों समेत मरीजों को देखने के लिए आने लगीं। दवाएं भी आ गईं, मगर सब कुछ यहां ऊंट के

---

5. तंबू।
6. ऊपर से दिखने पर।
7. राज्य।

मुंह में जीरे की मिसाल थी।

छोटी-छोटी लड़कियां सूखे के मारे बच्चों को कंधों से लटकाए, चेहरों पर हसरत, बेबसी और फाके की दास्तानें लिए कतार-दर-कतार[8] दो छटांक दूध के इंतजार में सुबह से दोपहर तक खड़ी रहतीं। हर मां यह चाहती कि उसके बच्चे को दूध ज्यादा मिल जाए ताकि उसकी सूखी छातियों को थोड़ा-सा आराम नसीब हो। हर लड़की या लड़का इसरार[9] करता कि जरा-सा और दे दीजिए, ताकि उसकी भूखी अंतड़ियां भी शरीक हो सकें। लेकिन मुस्तैद, किफायती[10] वालंटियर उन्हें धक्के देकर निकाल देते। अगर वे ऐसा न करते तो सुबह की चाय कैसे बनती और वे सूखी रोटी किस चीज से भिगोकर अपने गले से नीचे उतारते।

इंसानों का यह जंगल जानवरों की-सी जिंदगी बसर कर रहा था। लोग हाथों में ले-लेकर या कागजों और ठीकरों में खाना खाते और ठकरों पर मिट्टी मिले हुए आटे की सियाह रोटियां पकाते। तवा, देगची और गिलास सबका काम पत्तों और मटकी के टुकड़ों से लेते थे। दो ईंट रखकर जरूरत से निपटते और कभी-कभी इन्हीं दो ईंटों से बावर्चीखाना भी बना लिया जाता।

हैजा, सूखा, पेचिश, बुखार, गरज कौन-सी बीमारी थी जो यहां नहीं फैली हुई थी। "मूए को मारे शहमदार" रही-सही कसर सांपों ने पूरी कर दी। उन्होंने बीसियों इंसानों को इस मुसीबत की जिंदगी से छुटकारा दिला दिया। सितंबर में खुदा कहर[11] बारिश की सूरत में नाजिल[12] हुआ। लोग घुटनों-घुटनों कीचड़ में आसमान की छत के नीचे एक-दूसरे से लिपटे हुए मौत का इंतजार करने लगे।

कैंप का कमांडर अपने स्टाफ समेत सदर दरवाजे के पास एक सहनची[13] में रहता था। वह उस वीराने का सबसे बड़ा हाकिम था। किसी गरीब के लिए उस तक पहुंचना जू-ए-शीर लाने[14] से कम न था। मुसलमान, उस पर सेठ, करैला नीम चढ़ा। सिर्फ जनता की सेवा करने के जज्बे ने उसे मजबूर किया था कि पाकिस्तान जाने से पहले उसने यह काम अपने हाथ में ले लिया। मगर उसे जल्दी थी कि किसी तरह खत्म हो और वह कारगुजारी[15] की सनद जेब में डालकर पाकिस्तान सिधारे।

---

8. लंबी-लंबी लाइनों में।
9. आग्रह।
10. बचत करने वाले।
11. ईश्वरीय प्रकोप।
12. उतारा जाना।
13. मुख्य द्वार के साथ ही एक छोटा सा कमरा।
14. फरहाद ने शीरीं को दूध की नहर लाने का वचन दिया था जो बड़ा दुष्कर कार्य था। वहीं से 'जु-ए शीर लाना' मुहावरा बना, जिसका अर्थ है दुःसाध्य कार्य करना—अनु.।
15. किए गए काम।

कैंप में हरेक दाखिल होने वाले को कैंप कमांडर से इजाजत लेनी पड़ती थी। पाकिस्तान जाने का परमिट भी उसी की मार्फत मिलता था। जब-जब कोई स्पेशल ट्रेन पाकिस्तान जाने वाली होती, तो ऐसे मौके पर बड़ी रेलपेल होती। जरूरतमंदों की भीड़ भिखारियों की तरह उसकी निगाह-ए-करम[16] के उम्मीदवार कतार-दर-कतार खड़े रहते। कई हाजतमंद[17] निकाले और धुतकारे भी जाते, मगर कितने ही खुशनसीबों को परवाना मिल जाता। सुना है उस कैंप का इंतजाम पाकिस्तान दूतावास के हाथ में था। उनकी सिफारिश पर राशन, रेल, दवाओं और हवाई जहाज का इंतजाम हिंदुस्तानी हुकूमत करती थी। पाकिस्तान से भी यहां सरकार की मदद आती थी। राशन का बंटवारा भी यही लोग करते थे।

कैंप का अस्पताल

सिर्फ पुराने किले के शरणार्थियों की तादाद साठ हजार थी और लोग कहते थे कि सितंबर में अस्सी हजार रह चुकी है। बड़े ताक, टूटी-फूटी सेहदरी[18] और चबूतरे पर लगे हुए खेमे सब घायलों और रोगियों से भरे पड़े थे। उनमें से एक पर चार दाइयां बैठी लड़ा करती थीं। उनमें से एक यह दावा करती कि इस डेढ़ महीने में जितना काम मैंने किया है कोई और कर दिखाए तो जानें ? लेकिन कौन कद्र करता है ? अब देख लीजिए पाकिस्तान जाने का पास मिल गया है मगर किसी से इतना नहीं हो सकता कि म्युनिसिपैलिटी से ही तनख्वाह[19] दिलवा देता। एक दिन में मैंने पचास बच्चे जनाए हैं, इसके बावजूद डाक्टर की जबान से तारीफ का एक लफ्ज नहीं निकलता। और उसके बाद फौरन ही दूसरी दाई अपनी श्रेष्ठता जतलाने लग जाती : मैंने क्या कुछ कम काम किया है ? जरा डाक्टर से तो पूछो। तुम तो बन्नो उस वक्त आई भी न थीं। ये बाहें सुन्न हो गईं हैं अकेले ही हफ्ता गुजारा है। और फिर तीसरी अपना राग छेड़ देती और फिर चौथी। मगर कोई माली आमदनी न होने का दुखड़ा भी साथ-साथ रोती जातीं।

एक दिन मैंने पूछा, "कैंप खत्म होने पर क्या तुम लोग अपनी नौकरी पर वापस जाओगी ?"

कहने लगीं, "हम लंडूरे ही भले ऐसी आजादी से। हमें तो बस तनख्वाह दिलवा दीजिए। म्युनिसिपैलिटी ने तो हमें भेजा है, तनख्वाह क्यों नहीं देगी ? किसी तरह पैसा मिले और पाकिस्तान चल दें।"

एक ने शिकायत की, "ये हिंदू औरतें हमारा मजाक उड़ाने क्यों आती हैं ? देख-देख हंसती हैं और इस तरह हमारे जख्मों पर नमक छिड़कती हैं।"

---

16. दया की दृष्टि।
17. जरूरतमंद।
18. तीन द्वारों वाला कमरा।
19. वे पहले दिल्ली म्युनिसिपैलिटी की नौकर थीं।

मैंने कहा, "यकीनन तुम्हें गलतफहमी हुई है। मुझे तो ऐसी कोई औरत नहीं मिली जो इतनी बेरहम हो कि तुम्हारी मुसीबत पर खुश हो।" बस फिर तो हो गई, "आपको क्या मालूम हम पर क्या कुछ बीत गई ? अब तो इनकी सूरत देखने को जी नहीं चाहता। इन्हीं सबका तो किया धरा है।"

जल्द ही उन सबको तनख्वाह मिल गई और वे पाकिस्तान रवाना हो गईं। मगर जब तक रहीं हिंदुओं के खिलाफ प्रोपेगंडा करती रहीं, हालांकि लेडी डाक्टर हिंदू, नर्सें हिंदू और ईसाई, मगर उन्हें सोचने की जरूरत कहां थी ?

गंदगी, कीचड़ और बदबू से हमारा दिमाग परेशान हुआ जा रहा था। चूंकि अस्पताल कुछ ऊंची जगह पर था इसलिए यह बहुत कुछ सुरक्षित रहा। अस्पताल ही की सेहदरी में राशन की बोरियां भी रखी थीं और सामने आंगन में दो चूल्हे बने थे जिन पर दूध और खिचड़ी की देग चढ़ा करती थी। दवाइयों और टीन की चीजों का स्टोर भी यहीं था। दाहिनी तरफ जो खेमा था उसमें दाइयां, अस्पताल का स्टाफ, काम करने वाले मर्द, बावर्ची और तमाशाई सभी जमा रहते थे। दूसरी तरफ कोने में लेडी डाक्टर की कुर्सी और मेज थी। यहां एक पलंग पर लाल किले से भागा हुआ एक लेफ्टीनेंट चित लेटा हुआ हमेशा बातें करता रहता था। पास ही एक खेमे में कनात लगाकर उसे जच्चाखाना बना लिया गया था और एक-दूसरे से मिले हुए चार खेमे मरीजों से भरे पड़े थे।

नीचे जहां तक नजर जाती खेमों और टीन की चादरों की छतों के बेतरतीब ढेर थे, जिनमें नंगे बच्चे, मैली-कुचैली औरतें, नंगे सिर लड़कियां और खुद्दारी और गुस्से से भन्नाए हुए मर्द बराबर आते-जाते रहते थे।

पहले दिन जब मैंने मरीजों को खाना दिवलाया तो सारे बोल उठे कि "आज तो इस खिचड़ी में घी की खुशबू भी है।" मैंने पूछा, "क्या इससे पहले घी नहीं पड़ता था ?" गोदाम के मुंतजिम[20] ने कहा, "क्यों नहीं ? हर रोज दिया जाता है।" (मगर वह घी अक्सर स्टाफ के पराठों के काम आ जाता, यह मुझे बाद में मालूम हुआ)।

बच्चों के लिए दूध के टीन खोलकर देग में उंड़ेल दिए जाते और यों एक पूरी देग दूध की तैयार हो जाती। पता नहीं पहले कौन तकसीम[21] कर रहा था, मगर जब पहले दिन मैंने अपनी लड़की और एक पनाहगुजीन ईरानी लड़की, माहगुल को दूध की तकसीम सुपुर्द की तो मालूम हुआ कि आज छोटे बच्चों को एक-एक पाव देने के बाद उनके बड़े भाई-बहनों को भी मिला है। सुशीला ने सुना तो बहुत खुश हुईं। कहने लगीं, "खैर अब बच्चों और मरीजों को खाना और दूध तो ठीक से मिल जाया करेगा।"

लोगों ने बताया कि आपसे पहले एक दिन महात्माजी कैंप आए तो शरणार्थियों

---

20. प्रबंध करने वाले।
21. बांट रहा।

ने उनकी मोटर घेर ली। सख्त-सुस्त भी कहा। विरोध में नारे भी लगाए। और बहुत ही उत्तेजना दिलाने वाली बातचीत की।

अब भी लोग गुस्से में भरे बैठे थे। औरतों को जरा छेड़ दो, बस चीखने लगतीं, "यह भी कोई मुकाबला था, यह भी कोई मर्दानगी थी।" पीठ में छुरा घोंपकर अकड़े हुए घूमते हैं। बड़े बहादुर बने हैं। पंजाब से पिटकर आए, यहां निहत्थों को मारकर सूरमा बने फिरते हैं।"

बेशुमार संदूकों, ट्रंकों के दरम्यान बैठी हुई एक कजलबाश बेगम मिलीं। रेशमी कपड़े, हलका-फुलका नफीस[22] जेवर, चादरों की कनात लगाए, फर्श बिछाए बैठी थीं और जोर-जोर से कहे जा रही थीं :

"बड़े मर्द बने हैं नामर्द कहीं के। औरतों और बच्चों पर हाथ उठाकर सूरमाई की धौंस जमाने चले हैं। जरा खुले मैदान में हम औरतों के मुंह तो आकर देख लें। इन्हीं जूतियों से न पीट डालें तो कहना। यह भी कोई मुकाबला था ? उनके हाथ में तो कृपाण थी, हमारे पास क्या धरा था ? हमारे भी छुरी हाथ में हो तब मुकाबला देख लें।"

मैंने अपने दिल में कहा, "जा के पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई। अगर ये ट्रंक तुम्हारे साथ न होते तो तुम भी इतना गरजने के बजाए गरेबान बंद करने के लिए उस नौजवान औरत की तरह दो बटन मांग रही होतीं, जो पास की झोंपड़ी में बैठी हुई है।" उसमें वह औरत जिसका गरेबान फटा हुआ था और दो जवान लड़कियां जो नंगे सिर थीं, बैठी थीं। मैंने उनसे कहा कि तुम बाहर निकलकर कुछ काम क्यों नहीं करतीं, तमाम दिन बैठी रहती हो ? वे आंखों में आंसू भरकर बोलीं—कैसे निकलें, देखती नहीं हो ? हमारे सिर पर दुपट्टा तक तो है नहीं। एक महीने में कुरता भी खील-खील हो गया है। कहीं से कपड़े मिल जाएं तो बाहर निकलें।

और यह हकीकत थी कि दो-चार को छोड़कर जो अपना सामान लेकर आए थे बाकी के जिस्म पर वही अधूरे कपड़े थे जो वे घर पर पहने बैठे थे। डेढ़ माह हो चुका था। साबुन तक नसीब न हुआ था, जो धोने ही से कुछ गंदगी दूर हो जाती।

खुदा भला करे ईसाई मिशनरियों का कि इस मौके पर भी अपनी सफाई और हमदर्दी और रहमदिली लेकर आ गईं। बहुत जल्द आधी कीमत पर खरीदे हुए साबुन से बहुतों की सड़ांध दूर हो गई जिन्होंने जरूरत की और चीजें भी सस्ते दामों बेचना शुरू कीं, जो आधे दाम देने की भी सकत न रखते थे उनके लिए जो कुछ मिल सका, मैं ले आई। इस तरह हजार में से पचास के कपड़े धुल गए। किले की दीवार से लगे हुए दालानों में सब्जी मंडी का पिटाहारा चरवाहों का दल भरा हुआ था। ऐसे लोग जिनके साथ सिर्फ बूढ़ी या अधेड़ औरतें और बच्चे थे वे अपने नौजवान बेटों और माल-दौलत

---

22. बढ़िया किस्म के।

के अलावा अपनी जिंदा बेटियों को भी रो रहे थे और गम-गुस्से से बेताव होकर कहते थे, "काश, सरकार अपनी मिलिटरी पुलिस अलग कर लेती और हमें मुकाबले का एक मौका दे देती तो दिल की भड़ास निकल जाती।"

उस बिफरे हुए, जान से बेजार भीड़ को तस्कीन-दिलासा नामुमकिन था। यहां कोई कांग्रेसी दम न रखता था। मुस्लिम लीडर पाकिस्तान जा चुके थे। जो बाकी रह गए थे वे भड़काने और गालियां देने में मसरूफ[23] थे।

अलबत्ता जमीअत[24] के उलमा और अहरारी[25] आते थे। बुरा-भला सुनते; गालियां खाते मगर रोजाना आते। पके हुए खाने की दो देगें पहुंचाते, दुख-दर्द की खबर लेते मगर सूरत देखते ही शरणार्थी उनको गद्दार, बेईमान, हिंदू का गुलाम और सभी कुछ कह डालते लेकिन उनको अपने काम से काम था। शहर में एक मशहूर अपने आप बने लीडर की मातहती[26] में रिलीफ कमेटी बनी हुई थी। यहां भी उसका खेमा लगा हुआ था और कफन की तकसीम[27] और कब्र खुदवाना उन्होंने अपने जिम्मे ले लिया था।

फिर जामिआ के छात्र थे। वे एक दूसरा कैंप भी संभाले हुए थे। यहां भी आते और मेहनती मजदूर की तरह ज्यादा बातचीत किए बिना हर किस्म का काम करते रहते। कुछ मुस्लिम कांग्रेसी नौजवान भी बिल्ले लगाए हुए इधर-उधर छोटे-बड़े कई काम करते रहते थे।

लोग कहते थे यह कैंप पाकिस्तान[28] ने बनाया है। अस्पताल और उसका कुल सामान भी वहीं से आया है। राशन और रोटियां पाकिस्तान की हैं और हम सब पाकिस्तानी हैं। हमें तो इस हिंदू हुकूमत ने मरवा दिया। अब यहां कोई मुसलमान जिंदा नहीं रह सकता, जो हिंदू बन जाएंगे वही रहेंगे।

यह प्रोपेगंडा था जो बराबर हो रहा था कि अगर पाकिस्तान न बन गया होता तो जितने जिंदा बचे थे वे भी न बचते और अगर पाकिस्तान गवर्नमेंट मदद न करती तो भूखों मर जाते और अब जो यहां रहेगा, हिंदू बनकर रह सकेगा।

लोगों ने बताया पाकिस्तान से हवाई जहाज से रोटियां आई थीं। रुपया आया था। मैंने पूछा, "फिर क्या, इन दिनों तो मजे रहे होंगे ?"

कहने लगे, "खाक ! आठ-आठ आने में रोटियां बिकीं। ये बड़ी डबल रोटियां

---

23. व्यस्त।
24. जमीअत-उल-उलमा नामक पार्टी।
25. मुसलमानों का एक संगठन अहरार पार्टी के सदस्य।
26. आधीन।
27. बंटवारा।
28. बाद में मुझे पता चला कि दरअसल इस कैंप का बहुत कुछ इंतजाम पाकिस्तानी अफसरों से संबंधित था और कैंप कमांडर भी उन्हीं का नियुक्त किया हुआ था।

थीं। जिनके पास पैसा था उन्होंने खूब खाई, हमें क्या मिलता ? गरीबों के लिए इस दुनिया में कुछ नहीं है।''

जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर उन दिनों पांच रुपए तोला सोना और रुपए में एक दर्जन प्लेटें बिक रही थीं। और यहां मरीज रद्दी अखबारों पर खिचड़ी खा रहे थे और सिगरेट के खाली टीन (जो मैं अक्सर इकट्ठा करके ले जाया करती थी) पानी पीने के काम आते थे। आखिर वह रुपया दर्जन वाली प्लेटें मंगवाई गईं। मगर कई दर्जन मंगाने के बाद अंदाजा हुआ कि हमेशा नाकाफी[29] रहेंगी। अच्छे होने वाले मरीज अपनी प्लेट और टीन समेत चले जाते और दूसरों के लिए फिर अखबार के टुकड़े फाड़ने पड़ते। जमीअत के उलमा कपड़े मुहैया कर रहे थे। दूसरे सभी काम करने वाले भी इसी कोशिश में लगे थे। मगर जो भी कुछ आता एक कोने के लिए भी काफी नहीं हो पाता था।

उन्हीं दिनों नवाब रामपुर ने कई हजार कंबल भेजे। रियासत के चीफ मिनिस्टर[30] और दूसरे ओहदेदार आए और रामपुरियों का जरा ढांढस बंधा। तय यह हुआ कि जरा इधर-उधर फिर कर हम लोग अंदाजा कर लें कि ज्यादा हकदार कौन लोग हैं ताकि पहले उनकी खबर ली जाए।

मुझे तो अस्पताल से फुर्सत न मिली। मेरी बहन और लड़कियों ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया। गुल-गपाड़े की आवाज सुनकर मैं भी लपकी तो देखा कि एक रामपुरी खां साहब और सब्जी मंडी का चरवाहा बुरी तरह उलझ रहे हैं। बात यह थी कि खां साहब के नजदीक कंबल सिर्फ रामपुरियों के लिए थे और चरवाहा कह रहा था कि मुसीबत तो सब पर पड़ी है। मगर उन दयालु लोगों को उस समय भी रामपुरी और गैर-रामपुरी का फर्क याद रहा। आज खुद ने इस हालत को पहुंचा दिया कि एक कंबल मांग रहा हूं। यह मेरी औरत बैठी है इससे पूछ लीजिए, कभी पैंतीस रुपए से कम की चादर इसे नहीं ओढ़ाई है। इस वक्त गया-गुजरा हूं, हमेशा ऐसा नहीं था।

बमुश्किल समझा-बुझाकर उन सबको इस पर राजी किया कि रामपुरियों को देने के बाद जो बचेंगे वे दिल्ली वालों में तकसीम होंगे। एक से ज्यादा किसी को न मिलेगा और बंटवारा पर्चियों के जरिए होगा।

जमीअत की कोशिश कामयाब हुई और बिहार-यू.पी. से इस्तेमाली[31] कपड़ों के गट्ठर आ गए। लखनऊ से भी कई सौ रुपए और कपड़ों की बहुत-सी बोरियां आईं। कुछ दानी बेगमात ने जरूरत की हर चीज, यहां तक कि जूते, कोट और चादरें तक भेजीं। मुझे इंतजार ही था और उम्मीद थी कि मेरी अपील रायगा[32] न जाएगी। लखनऊ

---

29. अपर्याप्त।
30. कर्नल बशीर हुसैन जैदी।
31. उतरन।
32. व्यर्थ।

वालियां भी दिल खोलकर मदद करेंगी और यही हुआ। खैर हजार में से दो सौ के तन ढक गए।

लखनऊ में बैठे-बैठे सुना था कि दिल्ली में बाकायदा तोपों, मशीनगनों और बंदूकों की लड़ाई हुई मगर उस कैंप में मुझे कोई ऐसा न मिला जो अपने कारनामे सुनाता कि तोप उसने कहां पाई थी, मशीनगन कैसे हासिल की थी। अलबत्ता बंदूक चली क्योंकि ज्यादातर के पास लायसेंस थे, बंदूकें थीं, जिन्हें अपनी हिफाजत के लिए उन्होंने इस्तेमाल किया।

चरवाहों ने बयान किया कि हमारे पास तरकारी काटने के फरसे थे और बल्लम। कसाइयों ने कहा हमारे पास गोश्त काटने के बड़े-बड़े छुरे थे। दोनों कहते थे कि हमने जमकर मुकाबला किया। लड़े, मारे गए और हारे, मगर हथियार यही थे।

पीतल के कारखाने वालों ने बताया : जंग[33] के खात्मे पर खाली कारतूस की पेटियां पीतल गलाकर बरतन बनाने के लिए हमने खरीदी थी। उसमें सिलिटरी की गफलत[34] या बेपरवाही से दो-चार अच्छे कारतूस भी बाकी रह जाते थे, जिन्हें हम अलग रखते गए। इत्तिफाक देखिए कि वे इस झगड़े में हमारे काम आए। बंदूकें तो दो ही चार थीं पीतल की खोखली नलकी बनाकर हमने ऐसी तरकीब की कि कारतूस काम आ सकें और इस तरह कई घंटे पहाड़गंज में हमने मुकाबला किया। मगर पुलिस और फौज ने इस बेदर्दी से धावा बोल दिया कि हमारा सुथराव हो गया। आठ सौ आदमियों की ठठेरा बिरादरी में से बमुश्किल तीन सौ बचकर कैंप आए थे। बाकी वहीं खेत रहे। चंद एक को छोड़कर बाकी सब कांग्रेसी थे। कांग्रेस कमेटी का सेक्रेटरी भी उन्हीं में था।

लेकिन उस हालत में भी जब उनकी मुसीबतें और गरीबी इंतिहा[35] को पहुंच चुकी थी, उनकी आंखों में अभी शर्म और खुद्दारी बाकी थी। वे दूसरों के सामने हाथ फैलाते हिचकिचाते थे। अभी सिर्फ डेढ़ महीना इन घटनाओं को गुजरा था। अभी तक आने वालों का सिलसिला भी जारी था इसलिए उनमें गुस्सा भी ज्यादा था। हिंदुओं पर गुस्सा, खुद की बेरहमी का जिक्र, औलिया अल्लाह की बेहिसी, हुकूमत का जुल्म और बेइंसाफिया, यही तजकिरे[36] थे, यही मशविरा[37]। लोग एक-दूसरे से मिलते, खौफनाक हंसी हंसकर एक-दूसरे का हाल पूछते, जैसे जिंदगी, कुदरत और मौत सबका मजाक उड़ा रहे हों। एक कहता अल्लाह का शुक्र है जान बच गई। दूसरा अपने घर और बाल-बच्चों की तबाही की दास्तान सिर्फ चंद लफ्जों में सुना देता—अरे मियां क्या

33. दूसरा महायुद्ध।
34. जानबूझकर बरती जाने वाली लापरवही।
35. चरमसीमा।
36. बातें।
37. सलाह।

पूछते हो :

रहा खटका न चोरी का दुआ देता हूं रहजन[38] को।

चैन की नींद सोता हूं। अब गम ही क्या बाकी रह गया है ? और उस वक्त उसकी दर्दनाक हंसी सुनकर दिल कांप जाता। मगर उनमें ऐसे बहुत-ही कम थे जिन्होंने तोबा-ओ-इस्तिगफार[39] की तरफ रुख किया हो। उनके अंदर अभी वह दर्द और बेबसी भी नहीं पैदा हुई थी जो मोमिन[40] की शान बताई गई है। एक-दूसरे की मदद करने का जज्बा भी बाकी न था। खासकर औरतें तो कुछ करती ही न थीं, सिर्फ रोती और कोसती रहतीं। काम करने वाले एक-एक करके पाकिस्तान रुख्सत[41] हो रहे थे और नए अभी आए नहीं थे।

यह तो रोज ही का किस्सा था कि लाशों को नजर अंदाज करके हम जिंदा लोगों की देखभाल में लग जाया करते थे। एक दिन मैं यह देखकर कि एक लाश एक मरीज के पास ही दूसरी चारपाई पर पड़ी है अस्पताल की तरफ चल दी। वैसे भी यह हमारा काम न था। रिलीफ कमेटी या जमीअत-उल-उलमा के लोग तजहीज-ओ-तकफीन[42] कराने के लिए जिम्मेदार थे या मरने वाले के रिश्तेदारों को इत्तिला कर देते। काफी देर के बाद जो पलटी तो देखा कि लाश अब तक वहीं पड़ी है। मैंने कहा, अरे ! अब तक इसके कफन-दफन का बंदोबस्त किसी ने नहीं किया ? मालूम हुआ उसका कोई रिश्तेदार ही नहीं। सिर्फ यह लड़की है और नाती जो बैठे रो रहे हैं। मैंने कहा अगर अजीजों[43] में कोई नहीं है तो किसी और मुसलमान को आना चाहिए। जमील बेगम[44] ने कहा आइए, हम दोनों बुला लाएं।

हम दोनों पहले रिलीफ कमेटी के खेमे में गए और बिल्कुल भिखमंगों की तरह देर तक खड़े रहे। मगर मौलवी साहब ने नजर तक न उठाई। आखिर खुद ही मुखातिब किया। दास्तान सुनाई तो कहने लगे, "कब्र खोदने वाले और नहलाने वाले सब पिछली ट्रेन से पाकिस्तान चले गए। अब हम क्या कर सकते हैं ?" हमने जोर दिया कि यह तो हर मुसलमान पर फर्ज है। यह काम आपको किसी-न-किसी तरह कराना चाहिए।

---

38. लुटेरा।
39. अपने गुनाहों की माफी चाहना।
40. मुसलमान।
41. विदा।
42. नहलाना और कफन पहनाना।
43. प्रिय।
44. सर सैयद खानदान की एक खातून जिनके रिश्तेदार पाकिस्तान जा चुके थे मगर वह नहीं गई थीं और आखिर तक कैंप में काम करती रहीं। जब कैंप खत्म हो गया तो अपने मकान वापस गईं। वह रोगियों को अस्पताल पहुंचातीं और अच्छे होने वालों को वापस लाती थीं। खुद म्युनिसिपैलिटी में मेडिकल सुपरवाइजर रह चुकी थीं। आजकल तिराहा बैरमखां में सर सैयद की बैठक में रहती हैं।

बेपरवाही के साथ कहा, "हम कुछ नहीं कर सकते, सिर्फ कफन दे सकते हैं।" मैंने फिर इसरार किया कि यह तो उलमा का काम है कि इंतजाम करें। जवाब दिया, यहां नहलाना या कब्र खोदना कोई नहीं जानता। लाख कहती रही मगर उनकी बेरुखी और गुस्सा बढ़ता ही गया।

झल्लाकर हम लोग जामिआ के खेमे में आए। वहां के लड़के अभी-अभी जा चुके थे वरना सारा काम उन्हीं से ले लेते। अगरचे यहां जामिया वालों की पूछ न थी, न कोई खास काम उनके जिम्मे था। दो-चार कांग्रेसी और चंद जामिआ के लड़के आते और दो-चार घंटे में जो काम जरूरी समझते, करके वापस चले जाते। कांग्रेस वर्कर ही थे जिनका ताल्लुक[45] जमीअत से था। सूबाई[46] या जिला कमेटी का कोई कांग्रेसी मैंने नहीं देखा यहां काम करते हुए।

हमें मालूम नहीं कितने मुसलमानों के सामने हाथ फैलाया कि खुदा के वास्ते हमारी मदद करो और इस लाश को ठिकाने लगाओ। यह मर्द है, हम औरतें इसको नहला नहीं सकतीं। चलो कब्र खोदने में हम तुम्हारी मदद करेंगे। मगर हर जगह यही जवाब मिला कि हमको क्या पता कैसे गुस्ल[47] दिया जाता है, कैसे कब्र खोदी जाती है? एक मुल्ला ने कहा, "जनाब, यह काम हर शख्स नहीं कर सकता। इसके लिए शरअ[48] में कुछ उसूल और कायदे मुकर्रर हैं, उनकी पाबंदी किए बगैर गुस्ल दुरुस्त[19] न होगा।" मगर मौलाना खुद हाथ लगाने को तैयार न हुए।

मजबूरन हमने मरने वाले की बेटी से कहा कि तुम उठो, हम सब साथ देंगे। वह खुदा की बंदी जगह से न हिली। उसने साफ इनकार कर दिया और 13-14 साल के लड़के को भी हाथ पकड़कर बिठा लिया, उठने न दिया। खुद दूर बैठी रोती रही। इतने में दो बूढ़ियां आ गईं और उन्होंने कहा, तरीका-वरीका तो हम जानते नहीं, मगर खैर, जो कुछ सुन रखा है उसके मुताबिक कर ही लेंगे। यह दिन तो सबके लिए है। आज वह, कल हमारी बारी है।

गरज, गुस्ल औरतों ने दिया। कब्र खोदने हम दोनों चले। जमीला ने थोड़ी-सी मिट्टी हटाई भी, मगर इतने में दो-तीन भले मानस आ गए और उन्होंने इसरार करके हमें वहां से हटा दिया। कफन-दफन के सारे काम उन्होंने करा दिए। उस हजारों के जनसमूह में वे चंद इंसान निकले। खुदा उन्हें इसका नेक बदला दे।

आखिरकार वे दिन-रात दुखड़ा रोने वाली दाइयां भी पाकिस्तान सिधार गईं और अब सिर्फ दो नर्सें सुबह आकर दो घंटा मरीजों की देख-भाल कर जाया करतीं। बाकी

---

45. संबंध।
46. प्रांतीय।
47. नहलाना।
48. शरीअत, धर्मशास्त्र।
49. उचित।

सारे दिन के लिए एक शरणार्थी डाक्टर था और सारे कैंप के रोगी।

एक रोज मैं खेमों की तरफ चली गई थी। अस्पताल में सिर्फ मेरी लड़की[50] थी। इतने में एक जच्चा भी आ गई। लड़की दौड़कर डाक्टर को बुला लाई। बाहर की नर्सें दोपहर में जा चुकी थीं। जमीला बेगम शहर के अस्पतालों में मरीजों की खबर देने चली गई थीं। गरज, न कोई दाई मौजूद थी, न नर्स। लड़की सब तरफ दौड़ी-दौड़ी फिरी, कोई न मिला। न मैं ही उसे मिल सकी और कोई औरत भी मदद करने को तैयार न हुई। वह घबराई हुए पलटी तो बच्चा भला काहे को स्वागत करने वालों का इंतजार करता। वह खेमा सिर पर उठाए हुए था। चीख-पुकार सुनकर डाक्टर भी परेशान हो गया और लड़की डर के मारे कांपने लगी। मगर होशियार डाक्टर ने लड़की को दिलासा दिया, जच्चा को तसल्ली दी और मुंह फेरे हुए आहिस्ता-अहिस्ता सब कुछ उस नतजुर्बेकार[51] 'दाई' को समझाता रहा। कांपते हुए हाथों से उसने डाक्टर की हिदायत[52] के मुताबिक जच्चा और बच्चा को दुरुस्त[53] किया। जरूरी कामों में डाक्टर खुद भी हिस्सा लेता रहा। मैं भी इस दौरान पहुंच गई। देखा तो मां-बच्चा दोनों मुतमइन थे। अलबत्ता लड़की बेहद घबराई हुई और परेशान मुझसे कहने लगी ढूंढ़ते-ढूंढ़ते थक गई। कहां चली गई थीं ? डाक्टर मुस्करा-मुस्करा कर कह रहा था यह लड़की बहुत अच्छी है। मैंने सब काम इसी से लिया। मैंने कहा, चलो यह भी अच्छा हुआ कि इसे दूसरे की मुश्किल में अकेले मदद करना तो आ गया।

सारे खेमे मरीजों से भर गए। सूखे हुए खून में लिथड़े हुए कपड़े पहने मरीज अपने जख्मी हिस्सों को सड़ते हुए देख रहे थे। एक बारह साल का लड़का जगह न होने की वजह से गोदाम के करीब चौकी पर पड़ा आहिस्ता-आहिस्ता कब्र की तरफ खिसक रहा था। पीप उसकी हड्डी तक पहुंच चुकी थी और उसके बच जाने की कोई उम्मीद नहीं थी। सैकड़ों बच्चे हैजे और सूखे के शिकार हो चुके थे। वे मैले, गंदे बंदर जैसी शक्लें खपच्चियों की तरह हाथ-पैर और निकले हुए पेट से बिल्कुल मेंढक के बच्चे लगते थे। मगर सुबह से दोपहर तक उस मधुर क्षण के इंतजार में पड़े रहते जब उनकी भूख से बिलबिलाती हुई अंतड़ियां दूध की कुछ बूंदों से तसल्ली हासिल करेंगी। लेकिन उनके दुश्मन तो बावर्ची और अस्पताल का जमला था जो ज्यादा-से-ज्यादा बचा लेने की फिक्र में रहते या फिर उनके बड़े भाई-बहन जो दो घंटे कूल्हे पर लादे फिरने की मजदूरी में खेमे तक पहुंचने से पहले आधा दूध खुद पी जाते और वहां पहुंचकर मांओं लड़-झगड़कर फिर अपना हिस्सा ले लेते।

---

50. किश्वर, उम्र लगभग 18 साल।
51. अनुभवहीन।
52. निर्देश।
53. ठीक।

मैंनें इधर-उधर कहा। घर में फरियाद की। राजकुमारी अमृत कौर[54] तक खबर पहुंचाई और बापू से हाल बयान किया। तब कहीं जाकर दो नर्सें और एक लेडी डाक्टर का इंतजाम हुआ, जो सारे दिन रहती थीं। दवाएं भी आईं और पहले की बनिस्बत[55] कुछ बेहतर हालत हुई सुबह के वक्त सुशीला बहन आ ही जाती थी।

कैंप कमांडर से दुबारा मुझे भी मिलना पड़ा। मगर मेरी लड़की किश्वर से तो रोज ही झगड़ा रहता था। पनाहगुजीनों को शिकायत थी कि सरकार से घी, दूध, चीनी, राशन और दवाएं सब कुछ मिलता है, मगर उनकी किस्मत का कुछ नहीं। यहां भी अमीरों की बन आई है और ओहदेदार[56] खा रहे हैं। मैं नहीं जानती असलियत क्या थी। शायद यह उनकी बदगुमानी हो। मगर लड़की सुनते ही लड़ने पहुंच जाती। कई बार समझाया क्यों झगड़ा बढ़ाती है ? लेकिन उसे तो गरीबों की वकालत करने में लुत्फ आता था और ऐंडे बैंडे सवाल करके कमांडर और उसके स्टाफ को चेतावनी देना जरूरी समझती थी। उधर लोग खुश थे कि चलो हमारी आवाज ऊपर पहुंच तो जाती है।

चीजों की तकसीम भी हमारा नया प्रयोग था, इसलिए अक्सर हकदार रह जाते। वे शर्म के मारे सामने न आते और दीला-दिलेर[57] लड़-झगड़कर ले जाते।

नवंबर में रामपुरियों का दल खुश-खुश नवाब साहब को दुआएं देता हुआ उनकी भेजी हुई स्पेशल ट्रेन से रामपुर रवाना हो गया। पूर्वी पंजाब वालों को जो उस वक्त तादाद में बहुत थोड़े थे, परवाना मिल गया। टोंक के रहने वालों की भी उनकी रियासत से मदद आ गई। मालूम हुआ जल्द ही उनकी रवानगी का भी बंदोबस्त कराया जाएगा और दिल्ली वाले सोचने लगे—काश, हम भी किसी रियासत के बाशिंदे[58] होते ! उधर जमीला बेगम जख्मियों और मरीजों को बड़े अस्पतालों में पहुंचाने और ले जाने के लिए तमाम दिन एंबुलेंस पर चढ़ शहर की गश्त किया करती थीं। पाकिस्तान के लिए स्पेशल नग जाती तो रिश्तेदार शोर मचाते कि हमारे रिश्तेदारों को फौरन लाओ, हम अपने साथ ले जाएंगे। जिनके अजीज खोए हुए थे या अस्पताल में मर जाते थे उनकी फेहरिस्त[59] भी उनको अपने पास रखनी पड़ती थी ताकि नाम पढ़-पढ़कर सुनाए कि कितने मरे, क्या हुए। शहर से भी बहुत से आदमी जख्मी होकर भाग आते थे। कभी-कभी पुलिस और मिलिटरी वाले भी जख्मियों को लाकर कैंप के अस्पताल में डाल जाते थे और फिर ट्रेन पर से फेंके हुए भी अक्सर अपनी टूटी हड्डियां और चूर-चूर जिस्म लेकर आ जाते थे। गरज शहर और कैंप के अस्पतालों में हर जगह एक-सी भीड़ थी।

---

54. राजकुमारी अमृत कौर स्वास्थ्य मंत्री थी।
55. अपेक्षा।
56. अधिकारी।
57. हठधर्म।
58. जनसाधारण।
59. सूची।

एक दिन सुबह मैं भी जमीला बेगम के साथ चली गई। इधर कई दिन से हम दोनों को एक फिक्र थी कि मिशनवालियां बहुत आ गई हैं। वे बच्चे समेट रही होंगी। आखिर हम खुद क्यों न इन लावारिस बच्चों का इंतजाम करें ?

हालत यह थी कि जिस दिन रेल पाकिस्तान जाती, बेशुमार[60] बच्चे उसमें सवार हो जाते। उनके मां-बाप अक्सर यहीं रह जाते और वे सफर के शौक में चल देते। कभी मां-बाप चले जाते, बच्चे स्टेशन पर छूट जाते। खुदा जाने पाकिस्तान में उन बच्चों का क्या हश्र हुआ ? अपने मां-बाप तक पहुंचे या रास्ते में ही जाया हो गए ? बहरहाल हम इसी इरादे से इरविन अस्पताल पहुंचे। ज्यादा वक्त नहीं था इसलिए सरसरी नजर से सारा हाल देख लिया। बच्चों की तादाद नोट कर ली। एंबुलेंस हमें छोड़कर जा चुकी थी और एक घंटा बाद दूसरे अस्पताल में रोगियों को छोड़कर वापस हमें लेने के लिए आने वाली थी, इसलिए नीचे आफिस में बैठकर इंतजार करने और हालत के मुताबिक प्रोग्राम बनाने की सूझी लेकिन अभी हमने बात शुरू भी न की थी कि दूसरी एंबुलेंस आकर रुकी और बहुत से आदमियों ने घबरा-घबराकर पूछना शुरू किया : कब ? कैसे ? हमारे पूछने पर अस्पताल के एक कर्मचारी ने बताया कि पहाड़गंज की गश्त करते हुए डाक्टर मुफ्ती (हेल्थ आफिसर) को कत्ल कर दिया गया है और यह उनकी कटी-फटी लाश है जो एंबुलेंस से उतारी गई है।

मैं फौरन बैठ गई। कुछ भूला हुआ मुझे भी याद आया। जिस्म में सनसनी-सी दौड़ गई और जमीला ने दोनों हाथों से सिर थाम लिया, "मार दिया। गवर्नमेंट आफ इंडिया के मुलाजिम[61] को भी मार दिया। हद है, इंतिहा है।"

पता नहीं वह क्या-क्या कहती रही, मैं कुछ सुन न सकी। मगर अब ठहरना नामुमकिन था। मैंने खुशामद की : "जमीला, खुदा के लिए मेरे घर फोन करके गाड़ी मंगा लो। एंबुलेंस न मालूम कब आएगी। मुझसे अब नहीं रुका जाता।" घबराहट में उस वक्त नंबर भी गलत हो-हो जाता था।

खैर, खुदा-खुदा करके फोन हुआ। गाड़ी आई हम दोनों वापस हुए, लेकिन इस वाकिए[62] का नतीजा यह हुआ कि फिर कई दिन तक मेरी हिम्मत न पड़ी जो बच्चों की खबर लूं। दूसरे, एक बड़ी मुश्किल हमारे सामने यह थी कि उनको लाकर रखेंगे कहां ? जमीला बेगम का मकान खाली था और उन्होंने यही सलाह दी कि सरकार से फौजी गारद मांगा जाए और बच्चे वहां रखे जाएं। मगर न हमारे पास कोई फंड था और न कोई दूसरी औरत जिसके सुपुर्द बच्चे किए जा सकते।

कैंप के अस्पताल में दवाएं अब भी कम थीं और मरीजों की तादाद काफी थी।

---

60. अनगिनत।
61. नौकर।
62. घटना।

ख़ुशकिस्मती से भाई साहब के पास भी अपनी लगातार बीमारी की वजह से हमेशा कुछ दवाएं रहा करती थीं कुछ घर में कभी-कभार बीमारों के लिए आई हुई बची हुई पड़ी थीं, कुछ डाक्टरों ने पर्चे पर मुझे लिखकर दे दीं, वे बाजार से मंगाईं। सब समेटकर ले गई। मगर कहीं ओस चाटने से प्यास बुझती है ! पता नहीं सरकार देती थी या अफसरों के पक्षपात और अमले के लालच की भेंट हो जाती थीं। जो हो बड़ी मुसीबत थी।

इन्हीं दिनों एक साहबजादा हामिद नामी अपने खानदान समेत पुराने किले में ठहरे हुए थे। चूंकि कार उनके पास थी इसलिए रोजाना शहर जाते थे। कैंप में भी करम करते थे और बहुत ही मेहनत और तन-दिली[63] से करते थे। एक रोज कहने लगे कि क़िदवई साहब को मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूं। जब अलीगढ़ में फसाद हुआ और ख़बर सुनकर किदवई साहब[64] गए।उस समय मैं भी यूनिवर्सिटी में पढ़ता था। लड़कों में बड़ा जोश फैला हुआ था। खूब प्रोपेगंडा उनके खिलाफ था और यही तय था कि आज उनको जिंदा वापस न जाने दिया जाए।

मैंने पूछा, "और तुम किस जगह थे ?" कहने लगे, "मैं भी उस पार्टी में था। अब वक्त गुजर चुका है, इसलिए बता रहा हूं। बहरहाल किदवई साहब आए तो उनके खिलाफ नारे लग रहे थे, आवाजें कसी जा रही थीं और शोर था कि मार दो। लेकिन उन्होंने क्या किया ? बिल्कुल अकेले पुलिस को पीछे छोड़कर हमारी भीड़ में घुस आए। उस हंगामे से सिर्फ इतना असर उन्होंने लिया कि रंजीदा हो गए और कहा, "तुम लोग शायद मुझे अपना दुश्मन समझते हो हालांकि मैं भी इसी अलीगढ़ का पढ़ा हुआ हूं।" और फिर न जाने क्यों सबके हाथ रुक गए। शोर कम हो गया। लोगों ने कहा, जाने दो। बल्कि उनकी बातें और नसीहतें[65] हम सबने सकून से सुन लीं। बाद में हमारे दरम्यान बहुत झगड़ा हुआ। एक-दूसरे पर हमने बुजदिली और गद्दारी का इल्जाम भी लगाया।

लड़का जल्दी ही चला गया, मगर जब तक रहा निष्ठा से काम करता रहा। अब भी पक्का लीगी था, लेकिन मुझसे खुलकर बात करता था। मैंने चाहा कि पुराने किले के आवारागर्द बच्चों को जो दूध और खाना लेने आया करते हैं और अपने मां-बाप को ढूंढते रहते हैं, किसी और स्कूल या जामिआ मिलिया में डाल दूं। हालांकि अभी मेरी जामिआ के अफसरों से बातचीत भी नहीं हुई थी लेकिन मुझे यकीन था वे लोग इनकार न करेंगे। मगर मुसलमान भाइयों के लिए उस वक्त एक पाकिस्तान की कल्पना जन्नतुल फिरदौस[66] की कल्पना से कम न थी और उस काल्पनिक जन्नत में नौकर

---

63. रुचि लेकर।
64. रफी अहमद किदवई, क्रेंद्रीय संचार मंत्री।
65. उपदेश।
66. स्वर्ग।

मिलने की बिल्कुल उम्मीद न थी। इसलिए बच्चों को 'दाश्ता आयद बकार'[67] के खयाल से अपने साथ ले गए। शायद यह भी खयाल हो कि मुसलमान का बच्चा कुफ्रिस्तान में न छोड़ा जाए।

आखिरकार लोगों के रोने-फरियाद करने के बावजूद कैंप टूट गया। भर भरकर रेलें पाकिस्तान रवाना हो गईं। वे लोग भी गए जो उसे देखने के लिए बेताब थे और वे भी गए जो नहीं जाना चाहते थे। कुछ हंसते और यह कहते हुए रुखसत हुए, "इंशा अल्लाह, इस दिन के बाद दिल्ली में पेशाब करने भी न आएंगे।" और कुछ दर-दीवार से लिपटकर रोते और जिन्ना साहब को, पाकिस्तान को गालियां देते सवार हो गए और बाकी को हुमायूं के मकबरे में भेज दिया गया। उनमें अस्पताल का स्टाफ, वह भगोड़ा लेफ्टिनेंट, जमीला बेगम और डॉक्टर सिद्दीक भी थे, जिनको कैंप खत्म होने और सारे पनाहगुजीनों के चले जाने तक हिंदुस्तान में रुकना था।

हुमायूं का मकबरा

हुमायूं का मकबरा कुछ पुराने किले से ज्यादा दूर न था। बहुत जल्द शरणार्थियों के ट्रक और मेरी मोटरकार मकबरा पहुंच गई। जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं यह कैंप पुराने किलेवाले कैंप से कई बातों में अलग था। यह अपने आप नहीं बन गया था बल्कि कायम किया गया था। जामिआ के वालंटियरों ने उसका इंतजाम संभाल लिया और इसकी जरूरतें हिंदुस्तानी सरकार पूरी करती थी। यहां दो अमली न थी, न हिंदुस्तान पाकिस्तान का ही झगड़ा था।

सफाई-सुथराई भी काफी थी। सबके पास खेमे थे। अस्पताल के दो साफ-सुथरे खेमे जुदा थे—मर्दाना अलग, जनाना अलग। डाक्टर के बैठने का ठिकाना और मरीजों की रिहाइश इन दोनों में काफी फासला था। नर्सें और दाइयां भी थीं। पीछे की तरफ परदे की जगह देखकर नालियां खोदी गई थीं और जरूरतों से निपटने के लिए एक ही बार में कई आदमी आबादी से थोड़े फासले पर आ-जा सकते थे। खेमे भी तरतीब[68] से लगे थे। बावर्चीखाना अस्पताल से बहुत दूर था और गोदाम फाटक में था। किसी को लेकर खाने की इजाजत[69] न थी। पका हुआ खाना सिर्फ अस्पताल के मरीजों और अपाहिज बूढ़ों को मिलता था। नवंबर में यहां जख्मी कम थे और मरीज ज्यादा। जो टोला दिल्ली के फसादजदा मुहल्लों से लुटकर और तबाह होकर आया था वह अब पाकिस्तान और यू. पी. के जिलों में बिखर चुका था। उनमें कुछ लोग अब भी बाकी थे। गरीबों की तादाद ज्यादा थी और अमीरों की कम। पुराने किले में ऐसे लोग भी

---

67. रखी हुई चीज काम आ ही जाती हैं।
68. क्रम से।
69. राशन लेकर खाना खुद पकाना होता था।

थे जो अपना लाखों[70] रुपया संभाले ट्रेन या हवाई जहाज के इंतजार में तैयार बैठे थे। मगर यहां इस वक्त बहुतेरे ऐसे लोग थे जिनकी समझ में ही न आता था कि कहां जाएँ और क्या करें ? अगरचे यह यकीन दोनों जगह यकसा[71] था कि इंडियन गवर्नमेंट उनको निकाल रही है।

यहां बिगड़े दिल कम थे और इबादत[72] करने वाले ज्यादा। ईंटों और लकड़ियों से हदबंदी कर के जगह-जगह नमाज के लिए साफ जगह बना ली गई थी और अक्सर सुबह के वक्त खेमों में औरतें कुरान-ए-पाक पढ़ती नजर आती थीं। हर तीसरे-चौथे दिन मेवाती-मौलवियों की टोकली बंगला वाली मस्जिद से नमाज और कलमा सिखाने के लिए आती थी। यहां गालियां कम थीं और दुआएं ज्यादा। गुस्से के बजाए नरमी थी और नफरत की जगह एक-दूसरे की मदद का जज्बा।

दोनों में इतना जबरदस्त फर्क क्यों था ? क्या यह डॉ. जाकिर हुसैन और उनके साथियों की निष्ठा का असर था ? या नमाज और कलमें की सीख का ? गवर्नमेंट इस कैंप के लिए ज्यादा दानशील हो गई थी या कार्यकर्ता निःस्वार्थ सेवा करने वाले थे ? मैं यह अक्सर सोचा करती हूं।

डॉ. जाकिर हुसैन से पहली बार बकरीद के दिन यहीं मुलाकात हुई और उनके ढाले हुए इंसानी नमूने यानी विद्यार्थी मैंने यहीं देखे।

खून-खराब के बाद पहली ईद। हजारों इंसानों की कुरबानी के बाद ईद-ए-कुरबान अजीब दर्दनाक मंजर था : आंखों में आंसू, मैले-कुचैले कपड़े, फाकाजदा[73] चेहरा लिए हुए औरत-मर्द अपने कटे हुए हाथ और लंगड़ाती टांगें घसीट-घसीटकर खुदा के हुजूर में हाजिर हुए। कुछ कहने की जरूरत ही न पड़ी होगी : "सूरत ब वीं हालश म पर्स।"[74]

किश्वर[75] को बच्चों की मिठाई से बहुत दिलचस्पी थी। पुराने किले में भी अक्सर दूध के साथ वह लाइम ज्यूस बच्चों को पिलाया करती थी। मुझे तो बहुत याद न आया। मगर आज बकरीद के दिन भी वह एक टीन लेकर पहुंच गई और बच्चों को पैसे और मिठाइयों से खुश कर आई। पुराने किले में जब कोई चीज बांटी जाती तो ज्यादातर हाथों ही से छिन जाती। बच्चे एक-दूसरे पर टूट पड़ते। मगर मकबरे के ऊपर छत पर

---

70. डॉ. जाकिर हुसैन ने मुझे बताया कि एक ऐसा आदमी भी उन शरणार्थियों में था जिसने एक लाख के नोट अपने जिस्म पर धागे और रस्सियों से कस रखे थे और चलते वक्त एक हजार रुपए पनाहगुजीनों (शरणार्थियों) के लिए दे गया। वह एक माह यहां ठहरा, चलते समय उसने यह राज डाक्टर साहब पर जाहिर किया।
71. एक जैसा।
72. ईश्वर को याद करने का मुसलमानों का तरीका।
73. भूख से कमजोर।
74. मेरी सूरत देख, मेरा हाल न पूछ।
75. मेरी लड़की।

कतार-दर-कतार बच्चे बिठा दिए गए और बारी-बारी से उन्होंने अपना हिस्सा बगैर किसी शोर-गुल के ले लिया। लेकिन मुझसे यह मंजर देखा न गया। उनकी इंतजार करती आंखें, भोला-भोला चेहरा और हसरत देखकर मेरा दिल भर आया और वहां से हटकर एक जगह बैठ गई। इतने में डॉ. जाकिर हुसैन[76] आ गए। अपना परिचय कराया और कहा कि लावारिस बच्चे जितने भी मिल सकें आप सब जामिआ भेज दें। हम उनके लिए अलग इंतजाम कर देंगे। कितनी बड़ी मुश्किल उनके चंद लफ्जों ने हल कर दी।

बच्चे खुश-खुश नीचे उतर रहे थे और नौजवान आंखों में आंसू भरे हुए डाक्टर साहब और उनके साथियों से बगलगीर हो रहे थे। उस दिन पुलाव और मीठे की देगें भी मजलिस-ए-अहरार[77] और जमीअत-उल-उलमा[78] के लोग लेकर आए और यह यादगार ऐतिहासिक ईद खत्म हुई। हजारों आंसुओं, आहों, फरियादों में लिपटी हुई ईद।

यहां एक खास बात और थी कि तीन खेमे सिर्फ अपाहिज बूढ़ों के लिए हमें लगवाने पड़े थे उन बूढ़ी औरतों के लिए बाकायदा इंतजाम की जरूरत इसलिए पेश आई कि उनकी तादाद बहुत बढ़ गई थी। पाकिस्तान जाने वाले सपूत बेटे अपनी मांओं, नानियों और दादियों को छोड़कर चल दिए थे। एक दिलावर ने जब देखा कि अंधी बुढ़िया न मरती है न जीती, अब इसको पीठ पर लादना ही पड़ेगा, तो जीती जान को कब्रिस्तान में फेंक दिया। मगर जिंदगी तो फिर जिंदगी है। उसने कराहकर, चीखकर, राह चलतों का ध्यान खींचा और वालंटियर उसे उठा लाए।

पुराने किले में एक रोज ट्रक लद रहे थे। स्पेशल ट्रेन उसी दिन छूट रही थी। लोग झुंड के झुंड "पाकिस्तान-पाकिस्तान" रटती हुई बूढ़ियों को छोड़कर सवार हो रहे थे। मैंने यह हाल देखा तो पूछा कि आखिर इन्हें क्यों नहीं साथ ले जाते ? कहने लगे ये वहां जाकर क्या करेंगी, चलना-फिरना तो मुश्किल है ? मुझे गुस्सा आ गया।

"नहीं तुमको ले जाना पड़ेगा। क्या सड़े-गले बूढ़े हिंदुस्तान ही के लिए रह गए हैं ? उठाओ।" मैंने वालंटियर से कहा, "इनको उठाकर इनके रिश्तेदारों के साथ कर दो।" उन्होंने तीन बूढ़ी औरतें गोद में लेकर ट्रक में चढ़ा दीं। एक बुड्ढे को दो आदमियों ने पकड़कर सवार करा दिया। लेकिन स्टेशन से बूढ़ा फिर वापस आ गया। उसके अजीज उसको छोड़ गए थे। औरतें भी रह जातीं अगर वालंटियर उनकी मदद न करते।

बहरहाल पुराने किले की बूढ़ियों को भी मिलाकर उस कैंप में बूढ़ी औरतों की तादाद बहुत हो गई थी। किश्वर को भी फिक्र उन्हीं की हुई। उसने तीन खेमे लगवाए। जामिआ के वर्कर जो काम करते थे सलीके से वहां टाट के गद्दे पुआल भरवाकर सिले

---

76. डॉ. जाकिर हुसैन कई दोस्तों के साथ एक बार रफी भाई से मिलने मसौली आए थे लेकिन मैं उस वक्त सख्त परदा करती थी इसलिए मिल न सकी।

77. अहरार पार्टी।

78. एक पार्टी।

हुए ले आए और जिन लोगों के पास बिछाने को कपड़े या पलंग न थे उनको पहुंचा दिए गए। किश्वर ने उन्हीं से बहुत से गद्दे लेकर बूढ़ियों के ओढ़ने और बिछाने का इंतजमा किया। उनके कपड़े बदलवाए और मैंने देखा कि वे उसके कदमों की आहट का इंतजार किया करती थीं, क्योंकि खाना और पानी भी वही पहुंचाती थी।

और फिर वह बड़े मियां जो स्टेशन से वापस आए थे, उन्होंने देखा, मौका अच्छा है। पाकिस्तान न जा सका न सही, यहीं कुछ दिन आराम कर लूं। अपने चेहरे की बड़ी त्योरी दिखाकर किश्वर को अपनी सख्त बीमारी का यकीन दिला दिया और अस्पताल के पलंग पर गद्दा लिहाफ ओढ़ आराम से लेट गए।

यहां काम करने वाले जामिआ के अलावा और भी कई नौजवान लड़के थे, जो सब मिलकर भंगी से लेकर नर्स तक का काम किया करते थे। उन्हीं में अफसर नाम का एक जहीन[79] बी. एस-सी. का छात्र भी था। वह अभी कुछ दिन पहले आया था और पनाहगुजीनों में शामिल होते हुए भी अस्पताल में फर्स्ट एड किया करता था। उसने जो देखा कि बड़े मियां को किश्वर अपने हाथ से खाना खिलाती है, बूढ़ियों के बिस्तर बिछाती है, तो उसने कहा कि आपको बहुत काम है। लाइए इनको खाना मैं खिला दूं। बड़े मियां बढ़-बढ़कर निवाले[80] ले रहे थे कि मैं पहुंच गई। मैंने पूछा यह क्या ? तुम इनको खाना क्यों खिला रहे हो ? क्या ये बीमार हैं ? अफसर ने कहा, जी हां। ये तो कई दिनों से अस्पताल में लेटे हैं। किश्वर इनको खिलाती थी, आज मैंने यह काम ले लिया। तब तो मैंने बड़े मियां को खूब डांटा कि अगर चंद बेवकूफ लड़के-लड़कियां तुमको न मिल जाते तो दिल्ली की कोई गली भीख मांगने से न छोड़ते। इन बच्चों को क्यों उल्लू बना रहे हो ? उठो और बिस्तर छोड़ दो। बिस्तर तो खैर उन्होंने नहीं छोड़ा, फरवरी तक उस पर लदे रहे। मगर खाना-पानी अपने हाथ से खाने-पीने लगे।

कैंप की व्यस्तता बढ़ती जा रही थी और मुझे कई-कई दिन बापू के पास जाने की मुहलत न मिलती। किसी दिन शाम को जाती, प्रार्थना में शरीक[81] होकर वापस चली आती। जब थक जाती, जब दिल की दुखन बढ़ जाती और जब ये तमाम हालात देखते-देखते जी उलझ जाता तो महात्माजी के पास पहुंचती और वहां से नई ताकत लेकर पलटती। जरा-जरा सी बात लेकर बिड़ला हाउस दौड़ती और मुश्किलें हल हो जातीं। कितना बड़ा सहारा थे वे।

एक दिन मुझे एक आदमी मिला जिसका बायां हाथ आधा कटा हुआ था। मैंने उससे पूछा--क्या तुम पाकिस्तान[82] जा रहे हो ?--वह मुस्कराया। विश्वास, निडरता और व्यंग्य वाली मुस्कराहट उसके चेहरे पर दौड़ गई। उसने कहा मैं भला पाकिस्तान

---

79. बुद्धिमान।
80. कौर।
81. शामिल।
82. ट्रेन शायद उसी दिन छूट रही थी।

जाकर क्या करूंगा ? मेरा वहां क्या रखा है ? एक हाथ कटवा चुका, बीवी-बच्चे मारे जा चुके अब कहीं जाकर क्या करूंगा ? मैं तो शहर जा रहा हूं। और यह कहते वक्त उसकी आंखों में किसी खौफनाक इरादे की चमक आ गई। अजीब-सी मजबूती। मैं सोचने लगी यह शहर जा रहा है, वहां क्या करेगा ? इसके अंदर तो बदले की आग दहक रही है। देखो, अपने इस एक हाथ से यह कितने खून करे, किसका गला घोंटे ? और मुझे वह सिक्ख नौजवान याद आ गया जो अभी थोड़े दिन हुए एक दोस्त से मिला था और उसने बताया था कि घर के उन्नीस आदमी मारे जा चुके हैं और मैं बीसवां सिर्फ इसलिए जिंदा हूं और जिंदा रहना चाहता हूं कि ज्यादा से ज्यादा कातिलों की कौम से बदला ले सकूं और फिर या तो फांसी पाऊंगा, नहीं तो आत्महत्या कर लूंगा।

मैं दिल्ली के नवाबजादों, बेगमात और रईसों को ढूंढ़ती रही। न उन्होंने कहीं पनाह ली थी और न पनाहगुजीनों की मदद करने वालों में ही थे। न वे आने वालों में मिलते, न जाने वालों में। दोनों कैंपों में बिसाती, करखनदार[83], सादाकार[84], चरवाहे, न्यारिए, नौकरीपेशा सभी थे मगर दिल्ली का ऊंचा तबका अपनी शराफत, तहजीब और कौसर[85] में धुली हुई जबान लेकर मालूम नहीं कहां चला गया था। बहुतों से सवाल किया तो पता चला कि वे लोग दो-दो, एक-एक दिन कैंप में ठहरकर सितंबर में ही पाकिस्तान चले गए। अवाम[86] रह गए थे, वे अब जा रहे हैं।

लोग कहते थे कि सितंबर में पुराने किले की आबादी एक लाख या अस्सी हजार तक पहुंच गई थी और मकबरे में साठ हजार बरसाती मेंढकों की तरह तले-ऊपर पड़े थे। अब तो खैर यह हाल नहीं था, न इतनी आबादी थी।

लेकिन नवंबर 1947 में मकबरे के अस्पताल में बहुत-से जख्मी ऐसे भी आए जिन्हें चलती गाड़ी से नीचे फेंक दिया गया था और वे महीनों अपनी टूटी हड्डियों के दुरुस्त होने के इंतजार में पड़े रहे।

इधर कैंप की आबादी फिर बढ़नी शुरू हो गई क्योंकि पंजाबी शरणार्थियों ने मकानों पर कब्जा करने की मुहिम शुरू कर दी। जैसे-जैसे सरदी बढ़ रही थी लोगों की बेरहमी में भी बढ़ोतरी हो रही थी।

इधर कैंप की यह हालत थी, उधर शहर में भी हालत कुछ बेहतर न हुई थी। मैंने अभी तक शहर नहीं देखा था, इसलिए एक दिन मैंने जामिआ के एक नौजवान से कहा कि भई, मैंने अब तक शहर नहीं देखा है। जरा मुझे फसादवाले इलाके और आम हालात तो दिखा दो। मैं न रास्ते से वाकिफ हूं, न मेरा ड्राइवर ही यहां का रहने

---

83. लघु-उद्यमी।
84. विशेष प्रकार के दस्तकार।
85. स्वर्ग का एक कुंड या हौज; साफ और परिमार्जित भाषा के लिए ऐसा प्रयोग किया जाता है।
86. जनता।

वाला है। इसलिए मुझे एक रास्ता दिखाने वाले की जरूरत है।

मेरी एक मिलने वाली मिसेज सावित्री भार्गव[87] उन दिनों कालका और शेख सराय के शरणार्थियों में इमदाद और बहाली का काम करती थीं। वह अक्सर मुझे बताती कि शहर की गलियों में घूमते हुए गोलियां मोटरकार के ऊपर से सनसनाती हुई गुजर जाया करती हैं और अभी मुहल्लों की हालत इस काबिल नहीं है कि कोई आसानी से गुजारा जा सके। कई बार उन्होंने मुझे कालका चलने की दावत दी लेकिन बापू मुझे मुस्लिम कैंप भेज चुके थे और यहां कोई-न-कोई जरूरी काम रोज ही लगा रहता था। इसलिए कालका जाना लगातार आजकल पर टलता ही रहा और मैं पंजाबी शरणार्थियों के बारे में सिवाय सुनी-सुनाई बातों के कुछ भी न जान सकी। जो बातें सुना रही थी उनसे अंदाज होता था कि यहां और वहां हालात और जज्बात[88] के एतबार[89] से बहुत ही थोड़ा फर्क है—वह यह कि उनकी इमदाद[90] और बहाली हो रही है और इन्हें शहर से निकाला जा रहा है। उनके नौजवान लड़के-लड़कियां हिम्मत करके अपने इल्म और अमल से यह मुसीबत की घड़ी काट लेने की कोशिश कर रहे हैं और यहां जाहिलों की भीड़ है जो मुश्किलों को बढ़ाने का काम कर रही है। इक्का-दुक्का शरणार्थियों से मुलाकात हुई तो उन्होंने अपनी दिल हिला देने वाली दास्तानें सुनाकर मुझे बताया कि दिल्ली में तो कुछ हुआ ही नहीं। बस महात्माजी शोर मचा रहे हैं और पंडित नेहरू उसको इतनी अहमियत[91] दे रहे हैं। अगर कोई इंसाफ वाली गवर्नमेंट होती तो मुसलमानों के साथ भी वही करती जो हमारे साथ पंजाब में हुआ है। इन लोगों को जल्द से जल्द पाकिस्तान भेजकर इन सबके माल-असबाब और जायदाद पर हमारा हक माना जाना चाहिए, मगर वे तो और मुसलमानों की मुहब्बत में उनको जाने से रोक रही है।

इधर मुसलमान कहते, "ये झूठे हैं, बेईमान हैं। मुसलमानों ने इन पर कुछ जुल्म नहीं किया। ये तो वैसे ही भाग आए हैं। सिर्फ मार-काट और लूट-मार करने के लिए आए हैं। अपना माल और दौलत सब समेटकर लाए हैं। देखते नहीं, कैसे अच्छे कपड़े पहने हुए हैं ये ? उधर सरकार है कि इनकी मुहब्बत में मरी जा रही है। हिंदू हुकूमत हमको तो मरवा ही रही है और इनकी मदद कर रही है। हुकूमत की मदद न होती तो यह फौज हम पर गोलियां क्यों चलाती ?

दोनों तरफ की ऐसी-ऐसी बातें सुनकर जी चाहता कि आंखों देखकर अंदाज करूं, मगर कोई मौका मिलता ही न था। आखिरकार कोशिश करके मैं एक दिन शहर गई।

पहाड़गंज, करौलबाग, मुल्तानी ढांढा, सब्जी मंडी, चांदनी चौक और चूना मंडी

---

87. लखनऊ की एक महिला जो तीन माह से सेंट्रल रिलीफ कमेटी के साथ काम कर रही थी।
88. भावनाओं की।
89. दृष्टि।
90. सहायता।
91. महत्त्व।

सब का गश्त किया। मोटर कहीं रुकी नहीं, आहिस्ता-अहिस्ता मुहल्ले से गुजरती रही। जले और खुदे हुए मकान, ढाए गए कब्रिस्तान, मूर्तियां रखी हुईं मस्जिदें देखती हुई जब जामा मस्जिद पहुंची तो सामने पार्क में खेमे नजर आए और आजादी से आते-जाते मुसलमान नजर पड़े। मालूम हुआ यहां अलवर और पटियाला के काफिले आकर उतरे हैं। जामा मस्जिद के बरामदे और सामने का पार्क सब उन्हीं लोगों से भरा हुआ है।

इतनी देर तक मैंने गश्त लगाई लेकिन किसी सड़क पर चलते मुझे मुसलमान नजर नहीं आए। भांति-भांति के इंसान दिल्ली में भर गया था सबके चेहरों पर अंदरूनी बेचैनी और गड़बड़ की झलक दिखाई देती थी।

इससे पहले कभी सड़क पर चलते हुए किसी के दिल में हिंदू-मुसलमान का खयाल भी न आता होगा। लेकिन यह असलियत थी कि आज मैं गौर से चेहरा देखकर पहचानने की कोशिश कर रही थी। अपनी खास किस्म की तराशी हुई दाढ़ी और अक्सर गोल टोपी से दिल्ली के मुसलमान पहचाने जा सकते थे।

जब शहर का बड़ा हिस्सा देख चुकने के बाद मुसलमान एक भी मुझे नजर न आया तो मेरे दिल से आह निकली, खुदाया ! क्या मुसलमानों पर इतनी भारी मुसीबतें पड़ीं और तेरा कहर-ओ-गजब[92] इस हद तक उन पर गिरा है कि वे अब सिर्फ मुंह छिपाए ही फिर सकते हैं :

ले गए तसलीम को फरजंद मीरास-ए-खलील
खिश्त-ए-बुनियाद-ए-कलीसा बन गई खाक-ए-हिजाज[93]

मुझे सब कुछ कहना है, इसलिए आप महसूस करेंगे कि कहीं मैं इंसान को ढूंढती थी और कभी मुसलमान को रोती थी। यह खयालात और जज्बात हैं जिन पर काबू नहीं पाया जा सकता और जो हालात के मुताबिक बदलते रहते हैं।

मगर जामा मस्जिद पर अब भी ज्यादा आबादी मुसलमानों की थी। शाहजहां की बनवाई हुई मस्जिद, ताजमहल नहीं थीं, जिससे इश्क-मुहब्बत की कोई रिवायत जुड़ी हुई हो, फिर क्यों उससे नफरत की नहीं, मुहब्बत की लपटें आ रही थीं, क्यों ? उसके दामन से भोले-भाले, गरीब मजलूम चिमटे हुए थे। क्या इसकी बुनियाद में भी वही खोया-खोयापन और प्यार करने वालों का-सा प्यार शामिल था ? क्या ताज की लाक्षणिकता यहां वास्तविकता में बदल गई है ? यहां के रहने वाले हिंदू-मुसलमान अभी तक जिंदा हैं। इंसान हैं। क्या अब भी इस मिट्टी में इंसानियत का कोई अंश बाकी है ?

ऐसे बहुत से सवाल थे जो एक साथ दिल-दिमाग से उठते थे और जिनका कोई

---

92. क्रोध।

93. हजरत इब्राहिम (एक पैगंबर) की दाय ईसाई ले गए और अरब की मिट्टी गिरजे की नींव की ईंट बन गई—'इकबाल'

जवाब न मेरे पास था, न किसी और के। जामा मस्जिद से गुजरकर, जामा मस्जिद से आगे हिंदू आबादी कायम थी, दरीबा और चावड़ी बाजार में मुसलमान कारीगर घरों में छिपे हुए अपने हिंदू व्यापारियों के लिए चीजें भी बना रहे थे। कनाट सर्कस और नई दिल्ली तक सारा इलाका मुसलमानों से खाली था। मेरे मार्गदर्शक की उम्र 24 साल की होगी मगर तजुर्बे ने उसे बूढ़ों से ज्यादा गंभीर बना दिया था। वह आंखों देखा हाल उन सारे मुहल्लों का मुझे सुनाता रहा। वह खुद उस वक्त करौलबाग में था, जब घर जल रहे थे, लुट रहे थे और लोग जान बचाने के लिए झाड़ियों और पत्थरों की ओट में पनाह ढूंढ़ रहे थे। उसी करौलबाग में जामिआ का स्कूल, मक्तबा[94] सब तबाह हुआ और शफीकुर्रहमान किदवई मरहूम अपने चंद साथियों समेत एक मकान में मौत का इंतजार कर रहे थे। एक-एक करके जब सारे साथियों को बचाकर निकाल चुके, तब जबरदस्ती खुद निकाले गए।

हुमायूं के मकबरे से फिर मुस्लिम आबादी शुरू होकर निजामुद्दीन तक जाती थी। एक छोटी सड़क थी जो मकबरे और निजामुद्दीन के दरम्यान चल रही थी। उस पर हर वक्त मुसलमानों की आमद-रफ्त[95] थी। उससे आगे बढ़ी तो फिर महरौली तक उनका कहीं नामो-निशान तक न था।

दो ठिकाने—मुहब्बत के दो निशान, इश्क की दो मदरसा और मंजिल के दो रास्ते। बल्कि यों कहिए, मुसीबतजदों की दो पनाहगाहें थीं जहां रहमत[96] और मुहब्बत के दो चश्मे जारी थे। देहातों, मुहल्लों और रियासतों के दूर-दराज फासलों से सिमट-सिमट कर मुसीबत के मारे आ रहे थे और यहां पनाह लेते थे। उधर ऊंची शानदार जामा मस्जिद के सफेद मीनार दोनों हाथ उठाए हुए अमन और मुहब्बत का पैगाम सुना रहे थे। इधर निजामुद्दीन में कोई गैबी[97], गैर-महसूस हाथ तस्बीह के बिखरे दानों को दामन में समेट रहा था।

मेरे दिमाग में जैसे धक्का-सा लगा। खयालात का ताना-बाना टूट गया। मैं घर पहुंच गई थी और कैसर कह रहे थे, अब उतरिए और मैं यह सोचती हुई उतर पड़ी कि कहीं नई दिल्ली में एक तीसरी पनाहगाह बिड़ला हाउस भी तो है। वह शांति का घर, जिंदा हकीकत रोशन सचाई, हिंदुस्तान का बाप, जो आंखों में आंसू भरे अपने बच्चों के लिए सीना सामने करके लड़ रहा है। वहीं तो हर दुख की दवा मिलती है और जख्मी दिलों के लिए मरहम भी।

एक दिन जो कैंप पहुंची तो देखा कार्यकर्ताओं के खेमे के पास खाली जमीन पर दरी बिछाए, चादर डाले बहुत से लोग बैठे हैं। मैंने सोचा शायद कोई और काफिला

94.प्रकाशन गृह।

95.आना-जाना।

96.दया।

97.अदृश्य।

आ गया। महफिल-सी जमी हुई थी। एक साहब ने जनसमूह से उठकर एक कागज मेरे हाथ में दे दिया। पढ़ा तो एक दरख्वास्त थी जो किसी यतीमखाने की तरफ से लिखी गई थी। नीचे यतीमों के दस्तखत थे। लिखा था कि यतीमखाने की इमारत पर शरणार्थियों ने कब्जा कर लिया है, इसलिए हम सब अपने मुंतजिम के साथ उठ आए हैं। हमें खेमे, गद्दे और राशन दिलवाया जाए। मैं एक नौजवान को साथ लेकर उनके पास गई और पूछा—कहां हैं वे यतीम लड़के, मुझे दिखाइए। मुहतमिम ने जवाब दिया, फेहरिस्त में सबके नाम लिखे हुए हैं और ये सब जो बैठे हैं वही लोग हैं। उस समय मुझे डॉ. जाकिर हुसैन का कहना याद आ गया। यही सोचा, कि जितने बच्चे मिल जाएंगे अच्छा है, सबको जामिआ भेज दूंगी। मर्दों के लिए राशन और खेमे का इंतजाम कर दिया जाएगा।

लेकिन वहां जमा भीड़ पर जो नजर पड़ी तो बच्चे कम और बड़े ज्यादा नजर आए। इसलिए मैंने लड़कों से एक-एक नाम पुकारकर देखने को कहा कि बच्चे कितने हैं। मुझे तो बहुत ही कम नजर आ रहे हैं। उनकी तादाद तो बाजबी ही बाजबी नजर आ रही है।

उसने पला नाम लिया तो 17-18 साल का एक तंदुरुस्त लड़का जिसकी मूंछें निकल रही थीं, आवाज सुनते ही खड़ा हो गया। मैंने समझाकर कहा, बेटा तुम तो बहुत बड़े हो, कमा सकते हो। मगर शायद यतीमखाने में पाले गए होंगे, इसलिए इन सबके साथ हो। खैर।

दूसरे और तीसरे नाम पर दो बच्चे उठे जिनकी उम्र 11-12 साल की थी। मगर चौथा नाम लेते ही एक 30-35 बरस का खासा गबरू जवान खड़ा हो गया। मेरे साथी ने बहुत झल्लाकर कहा, आप, यतीम हैं ? या यतीम के बाप ?

और इस फिकरे पर पीछे खड़े हुए लोगों ने फरमाइशी कहकहा लगाया। इधर मैंने गौर किया तो अधेड़ मुहतमिम साहब खुद यतीमों की सूची में शामिल थे। लोगों को हंसते देखकर वे गुस्से से झल्ला उठे। उन्होंने कहा, जनाब हम सब यतीमखाने को चलाने वाले लोग हैं। यतीम बच्चे ये हैं। लेकिन अठारह-बीस आदमियों की फेहरिस्त में मुश्किल से आठ-नौ बच्चे थे, बाकी सब यही यतीमखाना चलाने वाले बड़ी उम्र के बुजुर्गवार थे।

मैंने कोशिश की कि किसी तरह उन बच्चों को रोक लूं मगर वे "इमामिया यतीमखाने" की मिल्कियत थे और उनको हासिल करने के लिए मुझे खुद किसी मज्तहित[98] सें शीइयत[99] की सनद लेनी पड़ती। यहां तक कि इस प्रस्ताव को भी उन्होंने मंजूर न किया कि ये बच्चे लखनऊ के शीया यतीमखाने में भेजे जाएं। बदकिस्मती

98. मुसलमानों के शीया संप्रदाय का आध्यात्मिक नेता या मार्गदर्शक।
99. शीया होने का भाव।

देखिए मुझे कोई शीया[100] भाई भी कैंप में उस वक्त न मिला जो मेरा हमखयाल होता या मदद करता। नतीजा यह हुआ कि मुहतमिम साहब अपनी दुकान लेकर लाहौर रवाना हो गए, जहां, उम्मीद है, वह अब भी अच्छी तरह चल रही होगी।

इसी तरह एक दिन एक और दिलचस्प घटना घटी। मैंने ऊपर कहा है कि कफन का इंतजाम यहां जमीअत-उल-उलमा की तरफ से था। पुराने किले की तरह रिलीफ कमेटी नहीं करती थी। मुमकिन है पहले उसी की तरफ से हो। मगर मेरे सामने उसका इंतजाम जमीअत के सर था और तकसीम जामिआ के वालंटियर करते थे। बहरहाल कफन की तकसीम के सिलसिले में मैयत के वारिसों और लड़कों से बहसा-बहसी होते देख मैं पहुंची तो मालूम हुआ कि मैयत[101] के कोई पीर भी हैं जो खुद कैंप में ठहरे हुए हैं और उन्होंने फतवा[102] दिया है कि इतने गज कपड़े के बगैर जिस्म पूरी तरह ढंका न जा सकेगा, उधर लड़के कम देना चाहते हैं और उस पर हुज्जत हो रही है। मैंने लोगों को समझाया कि जितना कपड़ा मिल गया है ले लो। चलो मैं पीर साहब से बात कर लूंगी।

पीर साहब खेमे के सामने पयाल के दो मोटे गद्दे तले-ऊपर बिछाए हरा जुब्बा और अमामा[103] पहने आलती-पालती मारे बैठे थे। इर्दगिर्द कुछ मोतकिद[104] घुटनों के बल बैठे थे। मैंने उनकी खिदमत में अर्ज किया कि देखिए साहब मरने वालों की तादाद ज्यादा है और कपड़ा मुहैया[105] करना बेहद दुश्वार[106] हो रहा है। इन दिनों खासतौर पर सख्त दिक्कत हो रही है। एक रोज तो ऐसी हालत हो चुकी कि मरने वाले बदन के कपड़ों में या मैली चादरों में और औरतों के दुपट्टों तक में दफन किए गए। हमें भी मालूम है कि आम हालत में कफन के लिए कपड़े की कितनी मात्रा जरूरी होती है। मगर यह तो मुसीबत और मजबूरी का जमाना है, इसमें सब कुछ जायज है।

पीर साहब बहुत बिगड़े, उनके मोतकिद भी नाराज हुए और लड़कों से फिर झगड़ा होने लगा। मैंने फिर कहा, जनाब आप कैंप में पीर बनकर क्यों रह रहे हैं ? अब तक ये तमाम लोग सालहा साल[107] से आपकी खिदमत कर रहे हैं। अब इन पर वक्त पड़ा है तो आपको इनकी खिदमत[108] करनी चाहिए। यहां कोने में मत बैठिए, आइए हमारे

---

100. अगर्चे कई शीया नौजवान लड़के उस समय कैंप में काम कर रहे थे मगर वे उस समय न शीया होने के लिए तैयार थे न सुन्नी, सिर्फ इंसान रहना चाहते थे।
101. अर्थी।
102. धार्मिक आदेश।
103. विशेष पोशाक।
104. भक्तगण।
105. उपलब्ध।
106. कठिन।
107. वर्षों से।
108. सेवा।

साथ काम कीजिए तो, आपको मुश्किलों का खुद ही अंदाजा हो जाएगा।

मगर पीर साहब भला क्यों सुनने लगे ! काफी देर तक गरमा-गरम बातचीत रही। आखिर हम उन्हें गुस्से में बकता-झकता छोड़कर अपने-अपने काम में लग गए। कई दिन बाद कपड़े बांटते वक्त वह फिर मुझे मिल गए और कहने लगे, बाबा फकीर की कुछ फिक्र है। मैंने ताना देते हुए कहा जब आपके पास दो गद्दे, लंबा कुरता, साफा और तहबंद है तो आपको और क्या चाहिए ? कहने लगे—कंबल। मैंने फिर उसी अंदाज में जवाब दिया, आप तो खादिम[109] हैं, फकीर हैं। आपको दुनिया के माल-असबाब[110] की क्या जरूरत ? और नहीं तो फिर खिदमत कीजिए, मजदूरी कीजिए। बहुत बिगड़े और बड़बड़ाते हुए चले गए। फिर तो उनसे कई बार मुलाकात हुई और ऐसा इत्तिफाक हुआ कि जब वे बिगड़कर चले जाते तब मुझे अफसोस होता। मगर जाने क्या था कभी मेरा दिल ही न चाहा कि उन्हें कोई चीज दूं। शायद जहां होंगे मुझे कोसते होंगे।

यहां कैंप कमांडर गवर्नमेंट का मुकर्रर[111] किया हुआ एक एंग्लो-इंडियन था और बाकी सब ऑनरेरी काम करने वाले जिनमें से किसी की ड्यूटी रात की होती तो किसी की दिन में। लड़कों ने कैंप के नौजवानों की एक टोली को कैंप पुलिस का नाम दे रखा था, जो छोटे-छोटे डंडे लिए कैंप में रात-दिन गश्त करते थे ताकि किसी तरफ से हमला न हो जाए।

कुछ ही दिन गुजरे थे कि यहां हुमायूं के मकबरे में भी मुहल्ले उजड़कर, गांव वीरान होकर हजारों के काफिले आने शुरू हो गए। तंदुरुस्त और हट्टे-कट्टे देहाती मर्द, हट्टी-कट्टी औरतें, लंबे-तड़ंगे नौजवान चारपाइयां, छाज, छलनियां, पिटारे, अनाज की बोरियां, बैलगाड़ियों, लारियों और फौजी ट्रकों पर रखे आन-की-आन में कई-कई हजार तादाद में आकर उतर पड़ते। शहर के लोग सिरों पर बक्से उठाए, बच्चों की उंगली पकड़े, औरतें पिटारी-पानदान संभाले सटर-पटर करती कतार-दर-कतार कैंप में चले आ रहे थे। जल्द ही कैंप की सफाई गायब हो गई—न कोई व्यवस्था बाकी रह गई न ही बाकायदगी। जिसे जहां जगह मिली चादर तानकर बैठ गया और खेमे के लिए हम लोगों की जान खानी शुरू कर दी।

पुराने किले के सारे खेमे उखड़कर (पाकिस्तान से आए) शरणार्थियों[112] के लिए

---

109. सेवक।

110. सामान।

111. तय।

112. यह अजीब सा लफ्ज उसी जमाने की पैदावार था। कुछ दिन तो हम लोग सही उच्चारण भी न कर सके। इतना मोटा-सा लफ्ज जैसे मुंह भर जाता था। धीरे-धीरे आदी हो गए तो पंजाबी अखबारों ने शोर मचाया कि हमको शरणार्थी न कहो, हम पुरुषार्थी हैं और फिर अपने आपको 'महाजिर' (देश त्यागकर आने वाले) कहने लगे। समझ में नहीं आता क्या लिखूं ? 'पनाहगुजी' और 'महाजिर' फारसी-अरबी के शब्द हैं, 'पुरुषार्थी' से मजदूर की गंध आती है, शरणार्थी ही लिख रही हूं।

जा चुके थे। यहां कहीं फालतू तो रखे न थे। नवंबर-दिसंबर की सरदी और खुले आसमान के नीचे चादर तानकर बैठने वाले ही जान सकते हैं कि क्या बीती होगी ? निमोनिया और बुखार हो गया। जिसे देखो खांसी, सीना जकड़ा हुआ, पहनने को कपड़े तक नहीं और हवाएं ऐसी सर्द कि हड्डी के अंदर घुसी जा रही हों। यह नाकाबिले-बरदाश्त मुसीबत देखकर मैं रो पड़ी और डॉक्टर जाकिर हुसैन से जाकर कहा। सारा हाल सुनकर दुखी हुए और कहने लगे, आखिर वे क्यों आ रहे हैं ? उन्हें समझाइए। मैंने बताया कि बहुत समझा चुकी हूं, मगर आने वालों का तांता टूटता ही नहीं। उस रोज मेरी बहन ने समझाने की कोशिश की कि हिम्मत बांधो और अपने मकान वापस चले जाओ। इतनी ज्यादा तादाद में अगर पाकिस्तान पहुंचोगे तो वहां भी भूखों मरोगे। रेल में कटोगे। इस पर लोग इतने भड़क गए कि उनको घेर लिया और लड़कों ने बड़ी मुश्किल से सबको हटाया। डॉक्टर साहब ने नहीं मालूम कहां से दो सौ खेमों का इंतजाम किया और कैंप में भिजवाए। हफ्तों वे लगाए जाते रहे और बंटते रहे। मुश्किल यह थी कि खेमा लगाना भी किसी को न आता था। वहीं लड़के दूध और राशन बांटते, कपड़े और कंबल तकसीम करते, फिर खूब गालियां और उलाहने भी सुनते। गरज झगड़ते भी वही और निपटते भी वही।

मगर सिर्फ खेमे ही तो इंसानी जरूरतों के लिए काफी न थे। सरदी भयंकर पड़ रही थी। बीमारों से अस्पताल पट गया था। एक बार फिर राजकुमारी अमृत कौर तक खबर पहुंचानी पड़ी, सुशीला ने रिपोर्ट की, डॉक्टरों ने लिखा तब कहीं अस्पताल के लिए नई बेड और दवाएं आईं। एक नए डॉक्टर की भी नियुक्ति हुई और दो नर्सें, चार दाइयां भी आ गईं। खास तौर पर लेडी डाक्टर तो बहुत ही भली थी, लेकिन खास दिक्कत यह थी कि मरीज भी जाड़े में ठिठुर रहे थे। आखिर बड़ी मुश्किल से अस्पताल के लिए साठ कंबल आए जिनमें से सिर्फ अठारह अस्पताल में इस्तेमाल हुए, बाकी मालूम नहीं डाक्टर या कैंप कमांडर किसके गोदाम में सुरक्षित होंगे। मुमकिन है दो-एक और निकाले गए हों, मगर मेरी पूरी कोशिश के बावजूद ठिठुरते हुए लावारिसों को एक कंबल भी न मिल सका।

आखिरकार थककर मैंने बापू को सारी कथा सुनाई और कहा, हजारों रजाइयां गवर्नमेंट दूसरे शरणार्थी कैंप में बांट रही है। आखिर निमोनिया और बुखार से मरते हुए लोगों पर उसे क्यों रहम नहीं आता ? यह फर्क क्यों है ? जब सरकार भी ऐसा करेगी तो आम लोगों में और उसमें क्या फर्क रहा ?

बापू प्रभावित हुए। फौरन सेक्रेटरी को बुलाया और कहा कि दो सौ कंबल उस खैराती स्टाक में से जो पड़ा हुआ हो मकबरे भेज दिए जाएं। मैंने खुश-खुश आकर कैंप वालों को खुशखबरी सुना दी कि बहुत जल्दी दो सौ कंबल आ जाएंगी। मगर नहीं, बापू से शिकायत करने और याद दिलाने का फिर मौका न मिला और जो लोग कर्त्ता-धर्त्ता थे वे इतना बड़ा दिल कहां से लाते कि दान देते समय हिंदू-मुसलमान के फर्क को भूल जाएं ? बदकिस्मती से डॉ. सुशीला नैयर पंजाब या किसी और जगह जा चुकी थीं।

वरना उनको याद दिलाती और फौरन मिल जाते और किसी से तब मेरी मुलाकात न थी।

बहरहाल कंबलों के लिए डाक्टर साहब को कहीं से रुपया मिल गया और उन्होंने बहुत से कंबल भिजवा दिए। फिर मेरी लड़की और बहन ने लखनऊ, बाराबंकी और इलाहाबाद की दानी बेगमात से कपड़े और रुपया हासिल करके भिजवाए। जतीअत-उल-उलमा ने बिहार और यू. पी. के पूर्वी जिलों से कपड़ा हासिल किया। लखनऊ यूनिवर्सिटी के एक छात्र ने लावारिस बच्चों के लिए ऊनी स्वेटर और नए कपड़े सिलवाकर भिजवाए और इस तरह खुदा उन सब लोगों का भला करे यह मुश्किल भी आसान होती रही। लोगों ने मुझसे कहा कि आमद[113] और खर्च का हिसाब अखबार में छपवा दो ताकि देने वालों को इत्मीनान हो जाए। मगर नहीं मालूम क्यों, मेरा जी न चाहा कि खैरात करने वालों को खैरात इस तरह जाया कर दूं। अगर उनको भरोसा न था तो न देते।

मेरा इसके सिवा उस वक्त और काम ही क्या कि जहां से मिल जाए लाकर कैंप की जरूरतें पूरी करूं ? रोजाना खिचड़ी खाते-खाते मरीजों को उबकाइयां आने लगती थीं। आखिर उनको तरकारी, शोरबा, दही वगैरा देने के लिए भी तो पैसे की जरूरत थी और यह सब उन्हीं रकमों में से होता था जो लोग मुझे देते थे या जामिआ से आती थीं।

हां, अगर यह कोई मुस्तकिल[114] इरादा होता, बंधा हुआ खर्च होता तो साल भर का हिसाब मुकम्मल करना और लोगों को बताना मेरा फर्ज था। हंगामी हालात, वक्ती जरूरतें, अचानक हादसा। सुबह से शाम तक अजीब-ओ-गरीब जरूरतें पेश आती थीं। कहां तक वे याद रहतीं ? और कौन उनका हिसाब रखता ?

नकद रकम लखनऊ से आई, फिर ब्रिगेडियर उस्मान मरहूम ने पांच सौ रुपए और ऊनी कपड़े भेजे। ये सारी चीजें मैंने बच्चों के लिए जामिआ को दे दीं।

कितनी बड़ी नाशुक्री होती अगर इस मौके पर उस महान् हस्ती का जिक्र न किया जाए जिनकी सरपरस्ती[115], मदद और ताकत ने हमें ये मौके दिलाए कि हम दूसरों का दुख-दर्द बांट सकें। रफी अहमद किदवई मरहूम ने सुभद्रा और दूसरे कार्यकर्ताओं को कार, जीप और माली इमदाद के जरिए और मुझे खुद अपनी निजी कार, फोन, नौकर-चाकर और रहने की जगह देकर इस काबिल रखा कि बेधड़क हर जगह पहुंच जाती थी। हर किसी की मुसीबत में उनके सत्ता में होने का फायदा उठा लेती थी। एक सिक्ख ड्राइवर के बाल-बच्चे पुंछ में थे और जब कबायलियों ने हमला किया तो उसका दर्द नाकाबिले-बरदाश्त हो गया। मैंने बात रफी साहब तक पहुंचाई और उन्होंने चंद ही दिन में उसके पांच बच्चों और बीवी को बहुत ही खतरे की जगह से हवाई जहाज से मंगवाकर उसके सुपुर्द कर दिया। भला यह मेरे बस में कहां था ?

---

113. आय।

114. पक्का।

115. छत्रछाया।

4. लावारिस बच्चे

मैं पहले कह चुकी हूं कि अक्तूबर में कई अस्पतालों का गश्त करके बच्चों की सूची मैंने बनाई थी और जमीला बेगम ने अपना मकान उनकी रिहायश के लिए देने का वायदा भी किया था मगर अकेले बिना किसी सुरक्षा के बच्चे वहां कैसे रहते ?

इसमें कोई शक नहीं कि जिले के बड़े अफसरों से हम जिस वक्त भी कहते वे फौरन सुरक्षा गार्ड मुहैया कर देते ! मगर दो-चार दिन के बाद जब बच्चे मार दिए जाते तो सिर्फ अपनी बेबसी और रंज-अफसोस का इजहार करके खामोश हो रहते। किसी को मुजरिम करार देना भी उनकी शराफत गवारा न करती, सजा देना तो बड़ी चीज है। बहरहाल जाकिर साहब ने यह मुश्किल आसान कर दी और मैं नवंबर में इरविन अस्पताल इस इरादे से गई कि जो बच्चे अच्छे हो चुके हैं उन्हें जामिआ ले आऊं।

ऊपर की मंजिल का विशाल कमरा उस समय खाली था और तमाम बच्चे बरामदे में धूप ताप रहे थे। कुछ बच्चों के सिर में जख्म थे, कुछ की टांग टूटी हुई थी। एक लड़की का हाथ बाजू से कटकर लटक गया था। एक सात साल के लड़के का सारा पेट फटा हुआ था, खाल जुड़ चुकी थी और टांके काटे जा चुके थे। एक नौ माह का नन्हा सा बच्चा जख्मी सिर और हाथ लिए अपनी छोटी सी मसहरी पर कराह रहा था मगर एक तेज, जहीन लड़की उन सबको लिए हुए धूप में बैठी खुश-खुश खेल रही थी।

मैंने पूछा, "तुम तो अच्छी हो, क्या तुम्हें भी चोट आई थी ?"

हंसकर बोली, "नहीं मैं तो अपनी बुआ के साथ आई थी। खिलाई[1] होती है न, उसको मैं बुआ कहती थी, वह यहां मर गई। मेरे मां-बाप इटावा में हैं।"

मैंने पूछा, "और इन सब बच्चों के ?"

वैसे ही खुश होकर बोली, "इन सबके ! यह देखो, यह रशीद है न, इसके तो सब मर गए और वह जो जैनब है उसके भी सब लोग मर गए और नाबू की अम्मा का गला काट दिया गया।"

लड़की हंस रही थी और लगातार बोलती जा रही थी। उसकी उम्र मुश्किल से

---

1. आया।

पांच साल की होगी। मौत उसके नजदीक एक खेल था—कोई दिलचस्प चीज ! सब मर गए, मार डाले गए, अम्मा का गला कट गया। कितनी मामूली बात ! अजीब-सी, ऐसा तमाशा, ऐसी कहानी, जो उसने कहीं पहले न सुनी थी।

मैं उससे बातें कर रही थी और एक लड़का मुझसे कह रहा था कि मेरा बाप है, दो भाई मर गए। मेरा अब्बा लखनऊ में है। मैं तो अपने भाई के साथ आया था। उन दोनों को स्टेशन पर मार डाला, मुझे लखनऊ भेज दो। लड़का होशियार था उसने अपना पूरा पता बता दिया। किसी बच्चे की उम्र आठ साल से ज्यादा न थी। मगर ये सब उस समय एक घर, एक खानदान के बच्चों की तरह आपस में घुलमिल कर रह रहे थे। सबने एक दूसरे की राम-कहानी सुनाई।

उन तमाम बच्चों में सिर्फ दो इस काबिल थे कि मैं उन्हें ले जाऊं। नर्स ने कहा कि आज देर हो चुकी है। आप मेहरबानी करके कल दस बजे आ जाइए और डाक्टर से इजाजत लेकर इन्हें ले जाइए।

सामने ही दूसरा कमरा था जहां जख्मी औरतें और लड़कियां थीं। नर्स मुझे वहां भी ले गई। सबसे पहले मैंने एक अठारह साल की लड़की को देखा जिसकी एक टांग गायब थी। दूसरी चारपाई पर 13-14 साल की एक सांवले रंग की लड़की कराह रही थी। उसके जिस्म पर बेशुमार जख्म थे। दो माह हो चुके थे, मगर अब तक उसकी तकलीफ में कोई कमी नहीं आई थी। एक खूबसूरत लड़की भी थी, वह मेरठ से अपने कैंसर के फोड़े का इलाज कराने दिल्ली आई थी मगर उसे नहीं मालूम था कि तीन माह बाद अब उसके रिश्तेदार जिंदा भी होंगे। वह उन सबको रो रही थी और सबसे ज्यादा खौफनाक रोगी एक जवान औरत थी जिसका एक हाथ कलाई से और दूसरा बांह से कटा हुआ था। उसकी बारह साल की लड़की पास ही दूसरे पलंग पर तख्तियों और पट्टियों से जकड़ी हुई हाय-हाय कर रही थी और वह खुद उन हाथों महरूम हो चुकी थी जिनसे उसका सिर सहलाती, थपकियां देती, पानी पिलाती। वे बेबसी के आंसू शायद मैं जिंदगी भर न भूल सकूंगी।

मैं अपनी नोटबुक देखती हूं तो उस पर आज भी केला, गजक और रेवड़ियां लिखी हुई हैं। ये तीन चीजें मुझे महरौली वाली रशीदा याद दिला देती है। रशीदा ज्यादा से ज्यादा सोलह साल की होगी। उसने बताया कि जब धार[2] चढ़ी तो मर्द-लड़ने-मरने में लग गए और औरतों ने कुरान सीने से लगाकर कुएं में छलांग लगा दी। कुछ भाग निकलीं, उन्हीं में रशीदा भी थी। लेकिन वह भागने से भी बच न सकी। तलवारों ने उसके जिस्म का हर अंग घायल कर दिया। उसने कहा, मां तुम मुझे अपनी बेटी बना लो। मेरा अब कोई नहीं रह गया है। और फिर बहुत दिनों तक वह मुझे मां कहकर पुकारती और कई-कई दिन मेरा इंतजार करती रही। एक दिन मैंने कहा, रशीदा ! कुछ

---

2. दिल्ली सूबे में धावा या हमला होने को धार चढ़ाना बोलते हैं।

खाने को जी चाहता है ? कहने लगी हां, कल जब तुम आना तो मेरे लिए केला, गजक और रेवड़ी लेती आना। लेकिन मैं सुबह सवेरे जो कैंप जाती तो शाम तक घर पलटने की नौबत न आती थी। नई दिल्ली में न गजक मिली, न रेवड़ी। नौकरों की शहर जाते हुए जान निकलती थी। अफसोस ! मैं उसकी इच्छा पूरी न कर सकी। ये तीन शब्द मुझे उसकी याद दिलाकर शर्मिंदा करते हैं, मगर यह भद्दी-सी नोटबुक मैंने इसीलिए संभालकर रख ली है कि अपनी उस गलती और आलत को याद करती रहूं। उस दिन मैं रशीदा को देख ही रही थी कि एक औरत ने मुझे पुकारा। उसने बताया मेरा नाम भूरी है, मेरे भैया को बुला दो। वह इस अंदाज से कह रही थी जैसे दिल्ली में उसके भैया को हर कोई जानता है। उन सबको दिलासा देकर और फिर आने का वायदा करके मैं लेडी हार्डिंग अस्पताल गई।

फरीदाबाद खत्म हो चुका था और उन दिनों वहां के मशहूर देहाती शायर और पुराने कांग्रेसी सैयद मुत्तलवी[3] दिल्ली में ठहरे हुए थे। बेशुमार मरीज उन्होंने शहर के विभिन्न अस्पतालों में और ज्यादातर लेडी हार्डिंग अस्पताल में दाखिल कराए थे और उनसे ज्यादा तादाद लापता थी। मुझसे उन्होंने कहा कि जरा हमारे फरीदाबाद की औरतों का पता लगाइए। इर्विन अस्पताल के साथ सिवा और सब जगह मरीजों का क्या हश्र किया जाता है पता नहीं। लेडी हार्डिंग अस्पताल में हमने जो जख्मी दाखिल कराए, उनका कुछ हाल मालूम नहीं होता।

पुराने किले में मिस ख्वाजा के साथ जब मैंने जाकर देखा था, तो फरीदाबाद के बहुत से बच्चे और औरतें वहां थीं। उनके नाम भी मेरे पास लिखे हुए थे। मैंने सैयद मुत्तलवी को सुनाए तो कहने लगे कि इनमें एक औरत तो वही है जिसकी मैं बहुत दिनों से तलाश कर रहा हूं। मेहरबानी से आप खुद जाकर ले आइए। मगर आज जो मैं लेने गई तो औरत अपने तीन बच्चों के साथ जा चुकी थी। अस्पताल वालों ने बताया कि उसके अजीज ले गए हैं। कौन ले गया, किस दिन ले गया—यह कुछ न मालूम हो सका, न वह कैंप ही में पहुंची।

अब भी वहां कई मरीज थे और बहुत से बच्चे। एक प्यारी छोटी-सी छह साल की बच्ची थी जिसकी खोपड़ी पर तलवार का जख्म था जो किसी तरह अच्छा होने में न आता था। वह बेचारी अपने बाप का नाम भी न बता सकी। बहुत पूछा। यही कहती रही, "पहाड़गंज में सब उनको मुंशीजी कहते थे।" चार बच्चे और उनकी मां बरामदे में लेटे हुए उस दिन का इंतजार कर रहे थे जब उनके अजीज आकर उनको

---

3. सैयद मुत्तलवी फरीदाबादी बहुत मुस्तैद सरफरोश सोशलिस्ट थे। हरियाणवी भाषा के बड़े अच्छे शायर थे। अपने भाषण और कविता से श्रोताओं में आग लगा दिया करते थे। अबू नईम फरीदाबादी बच्चों के लोकप्रिय कहानीकार थे। फरीदाबाद मुसलमानों से खाली हो चुका था। सैयद मुत्तलवी दिल्ली में कहीं ठहरे हुए थे, मीलों दौड़-धूपकर अपने वतन के बिखरे दाने समेट रहे थे। कई माह बाद जब मायूस हो गए तो शायद पाकिस्तान सिधार गए क्योंकि अब यहां उनका क्या रह गया था।

ले जाएंगे। कहां, यह उन्हें खुद मालूम न था। महरौली के किसी देहात में उनका घर था। छोटे जमींदार का खुशहाल घर और बहुत सारे खेत। मगर अब उनके जख्म अच्छे होने वाले थे और फिर उम्मीदों ने उनके चेहरे पर मुस्कराहट पैदा कर दी थी।

दूसरी तरफ बरामदे में मसहरी के अंदर छिपी हुई एक नौजवान औरत पड़ी थी जिसके दोनों हाथ और दोनों पैर तख्तियों और पट्टियों से जकड़े हुए थे। सीने पर भी गहरे घाव थे और वह आहिस्ता-आहिस्ता सिर्फ बोल सकती थी। बहुत ज्यादा खून निकल जाने के कारण उसकी दृष्टि बुरी तरह कमजोर हो चुकी थी। उसने अपने कई भाइयों, भावजों, नौजवान भतीजों और कमसिन[4] भतीजियों की फेहरिस्त मुझे लिखाई और कहा कि उन सबसे कहना कि पहाड़गंज की बिल्कीस लेडी हार्डिंग अस्पताल में है। पाकिस्तान जाते हुए उसको भी लेते जाएं। फैजाबाद की अधेड़, नूरन अपना जख्मी हाथ जोड़े खड़ी थी कि किसी तरह मुझे फैजाबाद पहुंचा दो, वहां मेरा भाई है। शौहर और बच्चे तो खो चुकी, भाई के पास चली जाऊं वहीं जिंदगी कट जाएगी।

मरीजों को देखती हुई जब मैं पिछले बरामदे में पहुंची, तो एक हिंदू बहन ने चुपके से मुझे बुलाया और एक खूबसूरत लड़की के पास ले जाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने बताया यह लड़की फरीदा तलत मुसलमान है। किसी अच्छे घराने की है, इसके बाप वगैरह पता नहीं कहां हैं ? जख्मी नहीं है, बीमार थी। फसाद से पहले दाखिल हुई थी। अस्पताल वालों के पास उसका पता भी है। बेचारी बहुत रोती है। मगर शायद उन्होंने अब तक इसके मां-बाप को खबर नहीं की है। आप इसकी खबर लीजिए। कमरे के एक सिरे पर नन्हें बच्चे को गोद में लिए एक नौजवान औरत फूट-फूट कर रो रही थी। पास ही पलंग पर उसकी तीन साल की बच्ची चीख रही थी। वह नन्हीं-सी जान 'शेर दिल सूरमाओं' की बर्बरता का इस बुरी तरह शिकार हुई थी कि खयाल से रोंगटे खड़े होते हैं। भाला उसके गुप्तांग से गुजरकर पेट तक पहुंच गया और इतने गहरे जख्म में जब गजों लंबी दवा में डूबी हुई बत्ती जाती थी तो बच्ची की तड़प और मां के आंसू देखना किसी महसूस करने वाले जिंदा इंसान के बस की बात न थी। औरत कह रही थी, उन्होंने सबको मार डाला। मेरी बच्ची को भाले पर उठा लिया मगर मुझे छोड़ गए यह सब देखने के लिए ! अब क्या करूंगी ? कहां जाऊंगी ? वह मुजस्सम दर्दनाक सवाल बनकर मुझसे पूछती और मैं लरज[5] उठती।

ये सारे हृदय विदारक दृश्य देखकर जब मैं वापसी के लिए मुड़ी तो एक बंगाली बहन मुझे अपने कमरे में ले गई। वह मां थी और मांओं की बेकरारी देखकर उसका दिल तड़प रहा था। बड़े रंजीदा अंदाज में उसने अस्पताल के हालात मुझे बताए और कहा कि एक तीन बरस की लड़की और भी है। वह अब तंदुरुस्त है। हलका-सा जख्म

4. छोटी उम्र के।

था जो चंद दिन में अच्छा हो गया। इसका कोई नहीं है। यों ही सारे अस्पताल में फिरती रहती है। किसी मुसलमान की बच्ची है। अपने साथ ले जाइए।

बच्ची लाई गई। मैंने पूछा, "तेरा नाम क्या है ?" सीता और हसीना। बाप का नाम पूछा, एक हिंदू एक मुसलमान। इसी तरह मां का नाम भी। बंगाली बहन ने कहा वह जो भी कहे, है मुसलमान ! क्योंकि यह दोनों हाथ फैलाकर बताती है—मेरा बाप कहता था अल्लाह भला करे। हो न हो किसी मुसलमान फकीर की लड़की है। नर्सें कह रही थीं यह हिंदू है। मैं जरा मुश्किल में पड़ गई। बस एक ही हल समझ में आया कि उसको गांधीजी के पास ले जाऊं। लिखा-पढ़ी करके मैं बच्चों को लेकर चली आई और सीधे बापू के यहां गई। फौरन मुलाकात की दरख्वास्त की और खुशकिस्मती से उन्होंने फौरन बुला लिया। बापू बैठे चरखा कात रहे थे। हमेशा की तरह मुस्कराते हुए पूछा, "यह लड़की कहां से लाई ?" मैंने कहा, "बापू, यह लड़की तो हिंदू-मुसलमानों में झगड़ा करा देगी। अपने और अपने मां-बाप के दो-दो नाम बताती है। कितना ही पूछो भेद नहीं खुलता। अब आप हो बताइए मैं इसको क्या करूं।" हंसे, और बच्ची से मुखातिब होकर नाम पूछा। उसने बड़े इत्मीनान से बताया हसीना और सीता। कहने लगे अच्छा, अभी इसको अपने पास रखो। फिर कस्तूरबा ट्रस्ट का जो स्कूल महरौली में है वहां छोड़ देना। लड़की फिर कई दिन मेरे साथ रही और हफ्ता-डेढ़ हफ्ता बाद महरौली भेज दी गई। शहर के सारे अस्पताल मैंने देख डाले। बच्चों की सूची थी मगर बच्चे न थे। वे क्या हुए, कहां गए यह भेद न खुला। शायद अच्छे होकर जिधर सींग समाए उधर चल खड़े हुए या मिशनवालियों के हत्थे चढ़ गए। जो भी हुआ हो मगर मुझे रह-रहकर अपने ऊपर गुस्सा आ रहा था कि आते ही मेरा ध्यान इस तरफ क्यों न गया ? क्यों मैंने फिक्र न की ? अब क्या हो सकता है ? वक्त हाथ से निकल चुका था। दो-एक कालड़ा अस्पताल में मिले जो कैंप ही में अपने मां-बाप के पास पहुंच गए। मैं सेहत पाने वाले बच्चों को ला-लाकर जामिआ (ओखला) छोड़ती गई। वे एक-एक करके अच्छे हो रहे थे। उनके कटे हुए पेट, फटे हुए सिर, लटकी हुई टांगें जुड़ गईं और लंगड़ाते हुए कमजोर बच्चे जामिआ पहुंचाते गए। वहां जामिआ का एक पुराना नौकर खुदा बख्श उनकी टांगों पर मालिश करता, मास्टर उन्हें नहलाते और जैसे-जैसे रिश्तेदार मिलते जाते उनके हवाले कर देते। बच्चे भी सब दिल्ली के नहीं थे। कोई कलकत्ता का कोई लखनऊ का। एक लड़की मेरठ की, दूसरी आगरा की। मगर खुदा की ताकत बहुत बड़ी है उसने सबको तितर-बितर किया, फिर इकट्ठा किया और फिर बिखेर दिया।

लेकिन इरविन अस्पताल के बच्चे जब वहां से चलते तो मां से ज्यादा मेहरबान नर्सों से लिपटकर रोते। चार माह बाद अस्पताल के स्टाफ से जुदा होते वक्त उन्हें ऐसा लगता जैसे घरवालों से बिछुड़ रहे हों। यह विशाल कमरा उनका घर था। छोटी-छोटी मसहरियां जमीन पर बिछे हुए गद्दे और बरामदे में पड़े हुए छोटे बेंच और चौकियां इन

सबसे उनको गहरी मुहब्बत पैदा हो गई थी। कुछ जानवर थे, जिन्होंने उनको जख्मी किया, कुछ इंसान थे, जिन्होंने उनकी जान बचाई और आराम पहुंचाया। दुनिया अभी इंसानों से खाली नहीं हुई थी।

मेरठ वाली लड़की को उसके बताए हुए पते पर मैं सर मुहम्मद यामीन खां की मदद से घर पहुंचाने में कामयाब हो गई। खां साहब अपने साथ ले जाकर उसे उसके मामू या चाचा को सौंप आए।

और वह कटे पेटवाला बच्चा मिस्टर फिरोज गांधी की मेहरबानी से अपनी सादाकार बिरादरी में लखनऊ पहुंच गया। उसने फिरोज साहब को खूब सताया। रास्ते भर हैरान किया। पहले तो यही सवाल किया कि तुम हिंदू हो या मुसलमान ? फिर कहने लगा मुझको हिंदू बहुत खराब लगते हैं। तुम मुझे कहां ले जाकर छोड़ोगे ? प्यास लगी तो किसी स्टेशन पर उतरा और फौरन पलट आया। फिरोज साहब को हुक्म दिया कि जाओ, तुम मेरे लिए पानी लाओ। यहां सिख बहुत हैं, मुझे मार देंगे। मैं तो नहीं उतरने का। रास्ते भर वह हिंदू-सिख की बात करता रहा। मगर फिरोज साहब उसे हिफाजत के साथ पहुंचा आए और उसका बाप जो तीन बेटों को ढूंढ़ने के लिए जान पर खेलकर दिल्ली रवाना हो चुका था, पता नहीं उसे देखकर कितना खुश हुआ होगा। नाउम्मीदी में उम्मीद। तीन में से बचकर एक तो आ ही गया।

वह तेज-तर्रार लड़की जरीना सबसे पहले मेरे साथ आई। बातें करती हुई खुश-खुश नीचे उतर रही थी कि एक अधेड़ उम्र के सिख रास्ते में मिल गए। लड़की मेरा हाथ छोड़ झट उनसे लिपट गई। सरदारजी ने उसे प्यार किया और पूछा कहां जा रही हो। मैंने उन्हें बताया कि अब यह अच्छी हो गई है। जामिआ ले जा रही हूं। वहां पढ़ेगी और जब इसके रिश्तेदार मिल जाएंगे, चली जाएगी। बहुत खुश हुए। बच्ची को फिर लिपटाया और मिठाई दी और ऊपर चले गए। मैंने पूछा, यह कौन हैं ? मगर लड़की को खुद नहीं मालूम था। वह तो सिर्फ 'बाबा' था, सब बच्चों का बाबा। लोगों ने बताया कि यह रहमदिल इंसान यहां आया करता है और सारे बच्चे इससे लिपट जाते हैं। सबसे प्यार करके और मिठाई देकर हंस-बोलकर वापस चला जाता है। इंसानियत का सच्चा नुमाइंदा इस दर्द और दुख की दुनिया में कौम और मजहब का कोई फर्क किए बिना मुहब्बत और प्यार बांटने आता था। ऐ काश, हम सब इतने ही बड़े दिल वाले हाते ! अफसोस है, उसका नाम भी मालूम न हो सका।

एक रोज कैंप का गश्त करते हुए मुझे सिद्दीकन नाम की वह लड़की मिली जिसकी एक टांग कटी हुई थी। उसकी ननद और उसका पति उसे गोद में उठाकर इधर से उधर ले जाते थे। नई ब्याही हुई दुल्हन 'बरस पंद्रह या कि सोलह का सिन'[6] मगर जवानी की रातें ख्वाब बन गई थीं और मुरादों के दिन अतीत की कहानी। हालांकि

---

5. सिर से पांव तक कांपता।

उस वक्त वह अपने रिश्तेदारों में खुश थी। गरीब लड़की मालूम नहीं कब तक खुश रह सकेगी ? क्या यह मुहब्बत और हमदर्दी ज्यादा दिन बाकी रहेगी ? उसका नौजवान शौहर कब तक इस मजबूर और अपाहिज औरत को बरदाश्त करेगा ? क्या उसकी किस्मत में सड़कों पर घिसट-घिसटकर भीख मांगना है ? ऐसे बहुत से सवाल दिमाग में आए मगर भविष्य के बारे में कौन कुछ यकीन से कह सकता है ? मुझे तो वर्तमान देखना था। कुछ ही दिन बीतेंगे कि इस अतीत पर भी परदा पड़ जाएगा और फिर वह प्यारा बच्चा जिसे बाबू कहते थे, अच्छा होकर मेरे साथ जामिआ आया। रास्ते भर वह अपने नौ माह के भाई कल्लू को याद करता रहा जिसे एहतियात के तौर पर हमने कुछ दिन के लिए अभी अस्पताल में छोड़ दिया था। दोनों की शक्ल अलग थी। बाबू गेहुएं रंग का बहुत तंदुरुस्त, जहीन और बातूनी बच्चा था और कल्लू काला-कलूटा, सूखा, बदसूरत। किसी को मालूम नहीं था कि वे दोनों एक मां-बाप के बच्चे हैं, एक घर के हैं या पराए। मिलिटरी वालों ने दो बच्चे जख्मी उठाकर ट्रक में डाले और अस्पताल में उतार दिए। बाबू ने उसको भैया कहना शुरू किया और लोग भाई कहने लगे। मैं जब जामिआ जाती तो लिपट जाता। मिठाई के लिए लड़ता। सेब लेकर जाऊं तो रूठ जाता कि मैं नहीं बोलूंगा, मिठाई क्यों नहीं लाई हैं ? एक रोज जीप पर गई तो उसे बहुत गुस्सा आया कि लाल मोटर पर क्यों नहीं आई ? यह बुरी है। मैं इस पर नहीं जाऊंगा। मैंने कहा, तुम्हें ले कौन जा रहा है ? मैं तुमको लेने थोड़े ही आई हूं। बस गुस्से में नोचने लगा कि बाजार चल, मिठाई लूंगा।

इकराम साहब ने कहा, साहब, बाबू बहुत गुस्सेवर है। यह कहता है मैं तुम्हें मार दूंगा। तुम्हारा खून कर दूंगा। इकराम[7] तुम मर जाते तो मेरी जिंदगी हो जाती। तुम मरते क्यों नहीं हो ? मैं भी मर जाऊंगा, वगैरह-वगैरह। खून और मरने की बातें बहुत करता है।

एक रोज इकराम साहब ने मुझे फोन किया कि बच्चों के लिए कुछ चीजें खरीदनी हैं। अगर आप आ सकें तो चली आइए, वरना जामा मस्जिद तक जाने के लिए गाड़ी भेज दीजिए। मैंने सोचा अच्छा है आज बाबू को तफरीह करा दूंगी। खुद ही चली गई। बाबू खुश-खुश सवार हुआ मगर थोड़ी देर बाद जैसे उसके कोई भूली हुई बात याद आ गई। जैसे कोई नींद में बोल रहा हो, ख्वाब में बातें कर रहा हो। गर्दन पर हाथ रखकर उसने कहना शुरू किया, मेरे अब्बा के यहां से खून बह रहा था। उस जगह गर्दन से और वह कहते थे, हाय ! मेरी औरत को मार डाला। और भैया को भी मार डाला। और फिर मुझे उन्होंने उठाया, यूं जोर से ऊपर फेंक दिया, ऐसे ! मैं टीन पर बैठा रोता रहा। फिर फौजी आया और मोटर में बैठ गया। फिर घर में रहने लगा।

मैंने पूछा किस घर में। बराबर दूसरी तरफ नींद की-सी हालत में देखते हुए जवाब

---

6. पंद्रह या सोलह वर्ष की।

दिया, इसी घर में जहां मिस साहब हैं, कल्लू है। एकदम वह चौंक पड़ा। उसने मोटर पर हाथ फेरा और फिर बोलना शुरू कर दिया।

अपने अब्बा के साथ मैं भी मोटर पर जाता था जामा मस्जिद। मिठाई और गुब्बारा और चीजें लेता था। एकदम उसे गुस्सा आ गया। उसने कहा मैं मार डालूंगा इकराम को। चार बरस का तोतला बच्चा 'इतराम' (इकराम) से इतना खफा क्यों था ? मरने की आरजू उसे किसलिए थी ? वह क्यों खून-खून चिल्ला रहा था ? मैं लरज गई। रशीद और बाबू ने मुझे वह अंजाम[8] दिखा दिया जिसकी तरफ मेरा दिमाग अभी गया भी न था ?

हमारे पूर्वज न खूनी थी, न डाकू, न चोर। उन्होंने कब हमारे अंदर इन गुनाहों के बीज बोए थे ? और फिर भी हम सब इतने पापी निकले। लेकिन ये बच्चे जो चार साल की उम्र में खून-खून पुकारते हैं, जो मौत का मजाक उड़ाते और उसके आने की दुआएं मांगते हैं। ये बच्चे जो इस नन्हीं-सी उम्र में पूछते हैं, तुम हिंदू हो या मुसलमान ? जो कहते हैं सिख मिले तो उसकी बोटी-बोटी काटें और डरते हैं कि हिंदू हमें मारेंगे। हमारी गर्दन काट देंगे।

आखिर ये कैसे होंगे ? ये खूनी दिमाग, ये पत्थर दिल, ये मुहब्बत से अपरिचत बच्चे—ये कहां जाएंगे ? ये हिंदुस्तान को आखिर जिल्लत[9] के किस गड्ढे में गिराएंगे ? सोचते-सोचते कांप उठी और मुझे अपने से कहीं ज्यादा अक्लमंद जामिआ के दोनों लड़के शम्स और कैसर नजर आए। उन्होंने खतरे की बू सूंघ ली थी। उनकी आंखों ने भयानक भविष्य की झलक देख ली थी और वे रचनात्मक काम के इरादे से कैंप छोड़कर शहर का रुख कर चुके थे। लेकिन मैं मां होकर न समझ सकी कि यह नस्ल तो खैर डूबी ही है, वर्तमान तो बुरा है ही भविष्य भी तबाह हो रहा है। आनेवाली नस्ल इससे भी कई गुना बढ़-बढ़कर अंधी होगी और अगर अभी से संभलने की कोशिश न की गई, उससे भी गहरे कुएं में डूबेगी।

जब इंसान नहीं, तो हिंदू मत और इस्लाम कैसा ? आदमी ही के लिए तो धर्म, मजहब, उसूल और कानून सब कुछ है। वह नहीं तो कुछ भी नहीं। हिंदुस्तान भी गया और हिंदु-मुसलमान दोनों खत्म हो गए।

उन तमाम औरतों के सामने जो जरूरतमंद थीं, लावारिस थीं, मैंने अनाथ बच्चों की खबरगिरी के लिए नौकरी पेश की। डाक्टर साहब जायज तनख्वाह पर किसी होशियार औरत को रखना चाहते थे, मगर मुसलमान औरत को क्या हो गया था कि खैरात लेने में सबसे आगे और काम के नाम से कोसों दूर भागतीं। कोई कहती हम अपने तीन बच्चों को रो रहे हैं, कलेजा तो छलनी पड़ा है। अल्लाह मियां न जाने कहां

---

7. यह बच्चा पहले जामिआ में फिर 'बच्चों का घर' दरियागंज।
8. अंत।

सो रहे हैं। मौत भी नहीं भेजते। यहां जीने की हसरत किसे है जो नौकरी करें। एक कहती हमें तो बस पाकिस्तान पहुंचा दो। और दूसरी मुंह बनाकर जवाब देती यह गूंह-मूत हमसे न होगा।

गरज यह कि हर तरफ से मायूस होकर मैंने इकराम साहब से कहा कि अब 'मां' का काम भी आप ही को करना पड़ेगा। और मैंने देखा कि वह 'घरवाली' बनकर काफी खुश थे। साफ-सुथरा मकान, सलीके से बराबर बिस्तर लगे, हर चीज एहतियात से रखी हुई। बच्चे बरामदे में खेलते रहते। कभी-कभी फोन से मुझे इत्तिला[10] देते कि बच्चे जूते पहनने बाजार जा रहे हैं या आपको बुला रहे हैं। यह इत्मीनान से घर के इंतजाम में व्यस्त थे।

एक रोज जो मैं लेडी हार्डिंग अस्पताल गई तो सकीना अच्छी हो चुकी थी। मेरे साथ कैंप आई तो यहां उसका कोई रिश्तेदार न मिला। पता चला सब पाकिस्तान चले गए। रिश्तेदारों में बाप, भाई, बहन के अलावा चार लड़कियां और उसका पति भी था। तीन दिन वह तलाश करती रही और रोती रही, तब मैंने कहा कि सकीना चलो तुमको ओखला छोड़ आऊं। बच्चों में तुम्हारा जी बहल जाएगा। और इन बे-मां-बाप के बच्चों की खिदमत करोगी तो अल्लाह ताला भी तुम पर फजल[11] रखेगा। शायद तुम्हारे बिछड़े भी जीते-जागते फिर जाएं। वह नेक औरत फौरन तैयार हो गई।

चार माह तक वह उन बच्चों की मां की तरह खबरगिरी करती रही। इस अर्से में रेडियो और खतों के जरिए सकीना के अजीजों का पता भी चल गया। उसकी चारों लड़कियां नाना के साथ कराची में थीं और शौहर आगरा में। पति जल्दी ही आ गया, मगर अब सकीना से ये बच्चे न छोड़े जाते थे। अभी आमद-रफ्त[12] भी आसान न थी, इसलिए सकीना ने जाने से इंकार कर दिया। दुबारा और तीसरी बार जब शौहर आया तो उसे ले गया। दोनों मियां-बीबी अपनी बच्चियों को लेने कराची गए। बच्चे और वह एक दूसरे से जुदा होते वक्त दुखी थे। मगर मजबूरी थी, वह कैसे रुकती ? खुदा करे जहां हो खुश हो। बड़े मौके पर उसने हमारी मदद की और अब अकेले इकराम साहब उनके मां-बाप रह गए थे।

इधर धड़ाधड़ बच्चों के रिश्तेदार मिलते चले जा रहे थे। जरीना खुश-खुश अपने मामू के साथ सिधारी।

सबसे आखिर में जो बच्चा अस्पताल से आया उसकी पूरी टांग पर प्लास्टर चढ़ा हुआ था और उस लकड़ी जैसे टांग को सीधा करना सिर्फ खुदा बख्श का काम था। जब वह चलने-फिरने लगा तो जूते पहनने जामा मस्जिद गया। जूतों की दुकान

---

9. अपमान।
10. सूचना।
11. कृपा।

पर सारे बच्चे जूते देख रहे थे और ठीक उसी वक्त उसका बाप आ गया। सारा खानदान, घर-बार सब कुछ खत्म हो चुका है। मगर जिंदगी का नन्हा-सा सहारा यह बच्चा बाकी था। बेटे को देखकर बाप की जो हालत हुई वह बयान नहीं की जा सकती।

एक रोज कस्साबपुरा से गुजरते हुए मुझे किसी ने आवाज दी। देखती हूं तो वही लड़का पुकार रहा था। वह बहुत खुश था, अपने घर में था। सारे बच्चे जा चुके थे मगर एक लड़की अभी बाकी थी। उसका कटा हुआ बाजू अभी तक ठीक न हुआ था। वह अकेलेपन से परेशान थी और मुझसे अक्सर पूछती कब ले चलोगी ? एक दिन उसने मैले गंदे-से ताश की एक गड्डी मेरे हाथ में दी और अजीब हसरत, मायूसी और शौक के लहजे में बोली कि यह मेरी तरफ से रशीद को दे देना।

दो मासूम दिन एक-दूसरे के लिए तड़प रहे थे और नन्हीं लड़की अपनी मुहब्बत जाहिर करने के लिए बेताब थी। यह ताश नहीं मालूम उसने कहां पाए थे ? वह रशीद के साथ खेला करती थी। जब वही नहीं तो उन्हें लेकर वह क्या करे ? अपना मुहब्बत भरा तोहफा, दिलचस्पी का सिर्फ एक ही सामान, अपनी सारी पूंजी वह रशीद को भेज रही थी। उस भोले-भाले स्वभाव की इस अदा ने मेरा दिल मोह लिया। उपहार पहुंच गया।

जो बच्चे बड़े थे वे दरियागंज के 'बच्चों के घर'[13] में छोड़ दिए गए। कम उम्र के बच्चे जामिआ में रहे।

---

12. आना-जाना।
13. 'बच्चों का घर' शायद कोई पुराना यतीमखाना सुन्नी वक्फ बोर्ड की तरफ से था। कुछ वर्षों से डॉ. जाकिर हुसैन उस बोर्ड के मेंबर हो गए थे और अनाथालय को सही अर्थों में 'बच्चों का घर' बनाने का श्रेय उन्हीं को जाता है।

5. दो अहम[1] महीने

मुसीबत जब अपनी इंतिहा[2] को पहुंच जाती है तो महसूस करने की ताकत मिट जाती है। उस वक्त कैंप के लोगों का भी यही हाल था। अब बेताबी के साथ खुशी ढूंढ रहे थे। एक बार फिर शहर से बलवे की खबर आई और दूसरे दिन सुबह जमीअत-उल-उलमा के एक कार्यकर्ता, जो कांग्रेस का बिल्ला भी लगाए रहते थे, दो औरतों को साथ लेकर कैंप आए, औरतों को बाहर छोड़कर उन्होंने मेरी तरफ रुख किया और हमेशा की तरह बड़े जोश-खरोश से कहने लगे—आपा ! कल सारे दिन किस कमबख्त को पानी तक पीने की फुर्सत मिली हो। सारे दिन चांदनी चौक[3] में दौड़ते गुजरी। मैंने कहा, खैर शुक्र है चंद ही घंटों का था। कहने लगे, और गजब देखिए एन उसी हंगामे में दो बुर्कापोश औरतें मिल गईं। मैंने उनको पकड़ा और कहा—बहन तुम यहां कहां ? फौरन मेरे साथ चलो वरना जिंदा रहना मुश्किल है। उन्होंने बताया हम दोनों कलकत्ता से आई हैं, हमें वापस स्टेशन पहुंचा दो, फिर कलकत्ता चले जाएं। भला खयाल तो कीजिए, उनकी हिमाकत का। मैंने कहा, पागल हुई हो। चलो इस वक्त मेरे घर चलो। कल कैंप पहुंचा दूंगा। सो देखिए वे दोनों बाहर बैठी हैं। अभी उनको आपके पास भेजता हूं।

मैं उस वक्त शायद किसी काम में व्यस्त थी। उनके आने का इंतजार करती रही, खुद खेमे से बाहर न निकली। थोड़ी देर बाद एक शरणार्थी नौजवान आया। नौजवान कैंप का वालंटियर था और अंदरूनी इंतजाम के लिए जो वालंटियर पुलिस बनाई गई थी, उसका मेंबर था। उसका चाचा कैंप कमांडर का चपरासी था और दोनों चाचा-भतीजा जिम्मेदार और काम के आदमी समझे जाते थे। व्यवस्था बनाए रखने में उनसे बड़ी मदद मिलती थी। उसने कहा कि आपसे एक अर्ज करने आया हूं। आपको तो मालूम है मैं अभी क्वांरा हूं। मैंने मुस्कराकर कहा, तो फिर ?

---

1. कठिन।
2. अंत।
3. चांदनी चौक में फसाद हुआ था।

वह बदस्तूर कहता रहा, और मेरा चचा रंडुवा है। उसकी बीवी मर चुकी है।

मैंने पूछा, आखिर इस भूमिका से तुम्हारा मकसद क्या है ? शरमाकर बोला, कि वे जो दो औरतें आई हैं, उनको आप कहां रखेंगी ?

मैंने कहा, अभी कुछ सोचा नहीं है। क्या यहां कोई खेमा खाली है ?

उसने खुश होकर जवाब दिया, मेरा खुद का खेमा खाली है। अगर आप मुनासिब[4] समझें, तो वहीं रख दीजिए। उनमें जो बड़ी हैं, उसके यहां तो खुशी होने वाली है। अस्पताल में उसे रखकर हम लोग देखभाल कर लेंगे। जब बाल-बच्चा हो जाएगा तो मेरे चाचा उसके साथ निकाह[5] कर लेंगे।

मैंने वाक्य पूरा कर दिया, और जो दूसरी छोटी है उससे तुम कर लोगे ?

मुस्कराया, जी हां, जी। यही तो बात है। मेरे चाचा ने कहा कि मैं आपके कान में अभी से यह बात डाल दूं, तो अच्छा है।

मैंने कहा, साहबजादे, अभी तो मैंने उन दोनों को देखा भी नहीं है। मेरे पास तक आने तो दो। देखूं कौन हैं, कहां से आई हैं ? ये बातें तो बाद में होंगी।

थोड़ी देर बाद वे दोनों आ गईं। हालात पूछे, तो पता चला कि दोनों शादी-शुदा हैं। एक का पति मर गया है, दूसरी का खो गया और उस जलती आग में वे कलकत्ता से शौहरों को ढूंढने आई थीं। न वे बंगाली थीं न बेवा, न कुंवारी। अजीब पहेली-सी मुझे लगीं। साफ-सुथरा रेशमी लिबास, बातचीत शाइस्ता[6]। मेरे यह कहने पर कि यहां रहो, अगर तुम शादी करना चाहोगी तो इन दोनों से कर लेना, उन्होंने रोना शुरू कर दिया। यही इसरार कि हमें स्टेशन जाने दो। हमें कोई न मारेगा। हम इसी तरह आए थे, इसी तरह वापस जाएंगे।

वर्कर्स का खेमा खाली करवाकर उन दोनों को रहने के लिए दिया गया और उनका बक्सा, पोटली सब वहां पहुंचवाकर मैं दूसरे कामों में लग गई। कई घंटे बाद मुझे याद आया कि अरे उनके खाने-पीने का बंदोबस्त करना तो भूल ही गई। जल्दी-जल्दी वहां पहुंची तो दूसरा ही तमाशा नजर आया। चाचा पास खड़े थे, भतीजा घुटनों के बल बैठा था, औरतें रो रही थीं, और उनके पास ही चटाई पर एक नई किताब, एक सेब और शायद फूल या और कोई चीज पड़ी थी। अब सोचती हूं तो हंसी आती है। मगर उस वक्त नागवार-सा हुआ। मैंने उन दोनों से कहा, तुम बाहर जाओ। यहां क्या कर रहे हो ? मुझे देखते ही चाचा पहले ही रफूचक्कर हो गए थे, इतना सुनकर भतीजे साहब भी चले गए। बहुत पूछा, मगर असलियत न खुली। मैं तो रोजना की तरह तीसरे पहर को घर वापस आ गई।

---

4. उचित।
5. विवाह।
6. संभ्रात।

दूसरे दिन गई तो मालूम हुआ चाचा-भतीजे ने खातिरदारी और खिदमत में कोई कसर उठा नहीं रखी थी, मगर उनका मुंह किसी तरह सीधा न हुआ। एक बार बक्सा लेकर फाटक तक गई थीं, वापस लाई गई। दुबारा फिर रात के अंधेरे में गायब हो गई। कुछ पता नहीं कहां गई और उनका क्या हुआ।

थोड़े दिन बाद इत्तफाक कांफ्रेंस लखनऊ से पलटते हुए चाचा-भतीजे को वे दोनों फिर मिलीं। काफी देर साथ रहा। अच्छी-अच्छी बातें भी हुईं, मगर रंडवे बदस्तूर रंडवे रहे और कुंवारे बदस्तूर कुंवारे। बेचारी तवायफें ! बुर्का ओढ़कर शरीफजादी बनने की कोशिश की तो वह भी न बन पड़ी। भला चौकड़ियां भरने वाली हिरनियां पिंजरे में कैसे बंद हो सकती हैं ? लड़कों से पता चला कि मेरे आने से पहले उस कैंप में मौज-मस्ती करने वालों का बड़ा जमघट रह चुका है। इन दिनों जामिआ के शरीफजादे इन कांटों से अपना दामन बचाए हुए राशन बांटा करते थे। हैरान-परेशान इन दीदी-दिलेर बुर्कापोशों से कतराए हुए बमुश्किल कैंप का गश्त करते और उनके झगड़े किसी तरह खत्म होने में न आते।

सबसे ज्यादा तरस मुझे एक कव्वाल पर आया : रोनी सूरतें, रोनी बातें और रोने की अवाजें सुनते-सुनते और देखते-देखते हैरान हो गया तो मेरे पास आकर कहने लगा, इस वक्त आप इत्मीनान से बैठी हों तो मैं कुछ अर्ज करूं। मैंने कहा फरमाइए। कहने लगा यह नहीं, मैं आपको कोई चीज सुनाना चाहता हूं। मैं फिर भी न समझी, सही जवाब दिया कि जो कुछ कहना हो जल्दी कहिए।

खुश होकर बोला, तो फिर इजाजत है ? ढोलक लाऊं ?

तब तो मैं चौंक पड़ी, ढोलक ? जवाब दिया, जी हां ! मैंने झल्लाकर कहा, आखिर आप हैं कौन ? चाहते क्या हैं ?

उसने अदब से झुककर जवाब दिया, हुजूर का मीरासी हूं, कव्वाल। बस हजूर ! एक चीज सुना दूंगा। फड़क न जाइए तो कहिएगा। इजाजत की देर है।

मैंने कहा, मियां होश की दवा करो। इस कब्रिस्तान में गाना ? जरा मौत के नगमे गाने से फुर्सत होने दो तो यह भी होगा। सब कुछ होगा। अभी इसका वक्त नहीं आया है।

बेचारा कव्वाल मायूस वापस गया। वे खुशी के गीत गाने वाले मजबूर हो रहे थे कि आहें और चीखें सुनते रहें।

उन्हीं दिनों मेरी लड़की और दामाद आ गए। दोनों को लेकर बापू के पास गई और परिचय कराया। लड़की बचपन में उनसे मिल चुकी थी मगर अब बड़ी हो गई थी, इसलिए बजाहिर पहचानना मुश्किल था। लेकिन बापू ने कहा, "वह तो मैं पहले ही समझ गया।"

मेरे मुंह से निकला, दो-तीन महीने इसकी शादी को हुए हैं और यह कोई नई बात न थी। दिन और महीने मैं अक्सर भूल जाया करती थी। मगर लड़की ने फौरन

टोका, अरे नहीं पांच महीने हो चुके हैं। गांधी जी हंस पड़े। उसे अच्छी तरह याद है। वह नहीं भूली और तू भूल गई।

मैंने कहा, बापू यह फौजी है। अब तक अंग्रेजों के हुक्म से लड़ता रहा है। लेकिन अब अपनी सरकार है। आप इसे कुछ नसीहत कीजिए।

अंदर जाने का वक्त हो गया था। सुशीला और मन्नू उनको उठा रही थीं। उठते हुए कहा, "अच्छा यह बात है। तो फिर अब अपने देश की सेवा करो। देश की रक्षा करना ही तुम्हारा काम है। जाओ, खुश-खुश रहो।"

आखिर दिसंबर 1947 में पहली बार मुझे दिल्ली के दो देहात देखने का भी मौका मिला। बहुत बड़ा काफिला[7] जिसमें पांच हजार मर्द, औरत और बच्चे थे, अनाज की बोरियां, चारपाइयां और सूप-चलनियां तक ट्रकों, बैलगाड़ियों पर लादे हुए आकर कैंप में उतर पड़ा। औरतें अपने मोटे-किनारी वाले जोड़े पहनकर आई थीं। लंबे-तगड़े मर्द, तुर्रेदार पगड़ियां बांधे विजेताओं की तरह कैंप में दाखिल हुए और हम सब घबरा गए कि ये बिल्कुल नए ढंग के शरणार्थी आ गए हैं, इलाही खैर करे। पूछने से पता चला कि न उनके गांव पर हमला हुआ, न उनका कोई आदमी मारा गया है। बस यों ही गांव छोड़कर पाकिस्तान जा रहे हैं।

शायद आखिर दिसंबर या शुरू जनवरी की घटना है कि एक दिन सुभद्रा ने मुझसे कहा कि सुना है उसी गांव[8] के दो हजार हिंदू भी बाहर मैदान में पड़ाव डाले पड़े हैं और सब निकाल दिए गए हं।

यह सुनकर हमने सोचा कि चलो गांव देख आएं और मुमकिन हो तो उन सबको वापस करके फिर बसा दें। सुबह सवेरे हम दोनों ने तिहाड़ का रास्ता लिया। दिल्ली से नौ-दस मील पर यह खुशहाल गांव आबाद था। रास्ते में एक जगह बहुत से खेमे और नौजवानों को कसरत करते देखकर मैंने हैरत से सवाल किया कि यह क्या हो रहा है ? सुभद्रा ने बताया यहां राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की रैली हो रही है और मुझे याद आ गया कि उसकी बहुत धूम सुन चुकी हूं। बड़े-बड़े महाराजा इन दिनों उसमें शिरकत के लिए दिल्ली से आए हुए हैं और जिस सियासत में सबसे ज्यादा खून-खराब और बर्बरता का प्रदर्शन हुआ था उसके महाराजाधिराज[9] इस अधिवेशन के अध्यक्ष

---

7. हमें यह खबर मिली थी कि दिल्ली के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने तिहाड़ गांव क़े बद्र-ए-आलम साहब की हजारों बीघा जमीन से अपनी पाकिस्तान में छोड़ी हुई प्रापर्टी का तबादला कर लिया है। उस जमीन पर बसे हुए काश्तकार मुसलमान और हरिजन थे। जमीन उनसे खाली कराकर रिफ्यूजियों को दी जा रही थीं। गांव की आबादी लगभग 7 हजार थी—पांच हजार मुसलमान और दो हजार हरिजन। मुसलमानों का सामान कैंप में आ चुका था और हरिजन कालोनी के बाहर निकाल दिए गए थे।

8. तिहाड़ गांव।

9. महाराजा पटियाला ने अध्यक्षता की थी और उसमें सरदार पटेल ने भाषण भी दिया था।

हैं। सरकार के एक जिम्मेदार सदस्य भी यहां वीरों को आर्शीवाद देने आए थे और दिल्ली के एक बदनाम शख्स ने, जो खुद ही लीडर बन गया था, मुसलमानों की तरफ से महाराजाओं में से कुछ को पार्टी या 'ऐटहोम' भी दिया। बल्कि मैं यह भी सुन चुकी थी कि एक मौलाना साहब[10] के पास जब ऐट होम की शिरकत का पैगाम पहुंचा तो उन्होंने बहुत ही रंज और गुस्से के साथ उसे वापस कर दिया और कहा, उनकी हिम्मत कैसे पड़ी कि मुझे इसमें शिरकत करने का बुलावा दें ? मैं इस काबिल नहीं हूं।

दिल्ली का अमनपसंद तबका आज कई दिन से हैरान था कि बापू की मौजूदगी में, कांग्रेस सरकार के होते हुए झगड़ालू लोगों की संस्था इस दिल्ली में इकट्ठी हो रही है, जिसमें अभी कुछ माह पहले खून की नदियां बह चुकी हैं। ये नई तैयारियां आखिर किसलिए हैं ? क्या हुकूमत अभी तक चौंकी नहीं है, समझी नहीं है ? क्या उसकी दोस्त और दुश्मन को पहचानने की ताकत इस हद तक खत्म हो चुकी है कि अब ऐसे दंगाइयों को अपने साथ लेकर चलेगी ? हम लोग आपस में यही बातें करते हुए तिहाड़ पहुंचे। गांव से बाहर ही तीन बूढ़े हमें मिले जो, दूसरे फासले पर खड़े अपनी जन्मभूमि को हसरत से देख रहे थे। हममें से एक को पहचानकर बोल उठे, बहनजी देखिए हम पर कितना अत्याचार हो रहा है ? हमारे घर और धरती सब शरणार्थियों को दे दी जाएगी और हमको अब गांव में घुसने भी नहीं दिया जाता। एक महीने से हमारे बैल, वह देखिए सामने वाले गांव में बंधे हैं। बच्चे और जानवर सब सरदी से मरे जा रहे हैं। और आज तो गांव की सफाई भी कराई जा रही है। यह कहते-कहते वे रो दिए। बेचारे को अपनी उम्र के आखिरी दौर में यह सब कुछ देखना पड़ा था।

हमने पूछा यह सब कौन करा रहा है ?

जवाब दिया सरकार।

मुझे हंसी आ गई। कैंप के मुसलमानों से पूछती हूं, "तुम सब कैसे आ गए ? आखिर किसने तुमसे गांव खाली कराया ?" तो यही जवाब मिलता है कि सरकार ! शुद्ध होने वाले और कराने वालों से पूछती हूं तुमने क्यों इनको मजहब बदलने पर मजबूर किया ? तुमने क्यों अपना मजहब छोड़ा ? तो मुंह सुखाकर कहते हैं सरकार की इच्छा। जालिम और मजलूम, कातिल और मक्तूल[11] सब सरकार की इच्छा से मर रहे थे और मारे जा रहे थे...।

बूढ़े ने अपनी रामकहानी हमें सुनाई और बताया कि हमारा गांव चूंकि पास-पड़ोस में सबसे बड़ा था, इसलिए सरकार ने उसे कैंप बनाकर सारे मुसलमान यहां इकट्ठे कर दिए थे और पहली असली आबादी से अब तिगुने-चौगुने आदमी यहां थे।

नए आने वालों से हमारी टेढ़ी-सी बात हो भी जाती थी मगर पुराने साथियों

---

10. मौलाना हिफ्जुर्रहमान।

11. जिसका कत्ल किया गया।

से न कोई लड़ाई थी और न झगड़ा। लेकिन सरकार का हुक्म हुआ कि इन सबको कैंप में पहुंचा दिया जाए। फिर तहसीलदार साहब आए, पुलिस आई और उन सबको ट्रक में बिठाकर ले गए। अपने हल-बैल वे बेचकर यहां से सिधार गए। सुनते हैं उनको पाकिस्तान में जमीन मिल गई है। उनके गए पीछे हमसे भी गांव खाली करा लिया गया और अब सफाई हो रही है। हम अंदर जाना चाहते हैं तो मना करते हैं—यहां मत आओ। ये सारे मकान-जमीन शरणार्थियों को दे दी जाएगी।

बातें करते हुए हम सब आगे बढ़े, तो खाली मकानों से पांव की चाप सुनकर कुत्तों ने मुंह निकालकर झांका। गर्दनें बाहर निकाले वे हसरत से हमें देख रहे थे। शायद अब तक अपने मालिकों की वापसी का इंतजार कर रहे थे। उनके भूखे पेट और लड़खड़ाती टांगें बता रही थीं कि भूख ने उन्हें अधमरा कर दिया है। गांव बहुत बड़ा था, पक्के दुमंजिला मकान भी थे और कच्चे साफ-सुथरे झोंपड़े भी। कुल मिलाकर खुशहाल, तंदुरुस्त और बेहतरीन गांव था।

हमने कस्टोडियन इंस्पेक्टर के बारे में पूछा। एक सिपाही जो रास्ते ही में मिल गया था, हमें उस तरफ ले चला जहां इंस्पेक्टर बैठा, सफाई करा रहा था। जमींदार के पक्के चबूतरे पर सामान निकलवा-निकलवाकर ढेर कराया जा रहा था और नीचे सायादार दरख्त के पास मूढ़ा डाले इंस्पेक्टर उसकी निगरानी कर रहा था। हमें देखते ही वह उठ खड़ा हुआ लेकिन उन तीन बुड्ढों को हमारे साथ देखकर उसकी त्योरियों पर बल पड़ गए। बिगड़कर बोला :

"तुम यहां क्यों आए हो ? चलो चलो, अपना रास्ता लो। फौरन रवाना हो जाओ।"

मैंने कहा, "अरे भई, इनका गांव है। इनके घरों से सामान निकल रहा है। इन्हीं को आप आने से मना करते हैं ? यह कैसा न्याय है !" कहने लगा, "नहीं साहब, आप जानती नहीं हैं। ये लोग बड़े चोर हैं, जरा नजर चूकी और कुछ न कुछ उड़ा देंगे।" मेरे कहने पर जरा बूढ़ों के कदम ठिठके थे, मगर इंस्पेक्टर कब मानने वाला था ? उसने फिर डांटा।

"बस लंबे बनो जी। गांव के आसपास तुम्हारी शक्ल न दिखाई दे, सुनते हो ?"

और बेचारे आंसू पोंछते उलटे कदमों पलट गए।

हमने जानबूझकर अपना परिचय नहीं कराया। यों ही चारपाई घसीटकर बैठ गए और बात करने लगे :

"अच्छा तो आप गांव की सफाई करवा रहे हैं, बड़ा गंदा होगा ? शायद रिफ्यूजियों को यहां बसाया जाने वाला है ?" इंस्पेक्टर ने जवाब दिया, "जी हां, यह गांव और इससे जुड़ी सारी जमीन उनको अलाट की जाएगी।"

हमने फिर सवाल किया, "और यह सब कस्टोडियन प्रापर्टी हो चुकी है ?"

कहने लगा, "जी हो तो चुकी है। और यह भी इरादा है कि यहां एक एग्रीकल्चरल

कालेज बनेगा, फार्म होगा। बड़ी स्कीम है।'' हमने दोस्ताना ढंग से कहा, ''अच्छा, मुसलमानों को तो छोड़िए। मगर यह बताइए कि हिंदू भाइयों की जायदाद कस्टोडियन की मिल्कियत कैसे बन गई ?''

तो बेपरवाही के अंदाज में जवाब दिया, ''नहीं साहब सब हो गई। वे भी तो गांव से भाग चुके हैं।''

हमने उसे याद दिलाया कि ''आप कहते हैं, मुसलमान वहां पाकिस्तान में हिंदुओं की छोड़ी हुई जमीन हासिल कर लेंगे। इसलिए वे तो अच्छे रहे मगर ये हिंदू किसान आखिर क्या करेंगे ? ये जमींदार हैं, इनकी गुजर-बसर कैसे होगी ? भूखों मरेंगे।''

बेपरवाही से बोला, ''इनको इसी फार्म में कुछ काम दे दिया जाएगा या शरणार्थियों के यहां मेहनत-मजदूरी कर लेंगे। भूखों क्यों मरने लगे ?''

हमने हैरान होकर सवाल किया, ''जमीन के मालिक को आप दूसरों का गुलाम और मजदूर बना देंगे ?''

कहने लगा, ''मजबूरी है, तो करना ही पड़ेगा।''

अब जरूरी मालूम हुआ कि इससे खुलकर सवाल कर लिए जाएं। इसलिए पूछा, ''किसका हुक्म है ? किसने तय किया है ?'' और खुद उसका नाम मालूम करके हम उठ खड़े हुए।

अब तो इंस्पेक्टर घबरा गया। उसने कहा, ''आपने तो यह हमें अब तक बताया ही नहीं कि आप कौन हैं, किस लिए आई हैं ? यह तो मैं समझ गया कि शहर से आई होंगी।''

चलते-चलाते हमने अपना परिचय भी दिया और इंस्पेक्टर की परेशानी देखकर बड़ा लुत्फ आया। वह हमारे साथ-साथ गांव के बाहर तक आया। राह में अपनी रहमदिली साबित करने के लिए उसने कहा, ''साहब, मुझे तो इन कुत्तों पर बड़ा तरस आता है। देखिए, आहट पाते ही गर्दन निकाल दी है। इनकी गुजर-बसर के लिए तो कुछ करना ही पड़ेगा। बेचारे भूख से बेहाल हैं। मैं सोच रहा हूं, इनके लिए क्या करूं ?''

मुझे हंसी आई। ''आप भी क्या बात करते हैं ? आदमियों को तो आपने भूखा मरने के लिए निकाल दिया और कुत्तों की आपको इतनी फिक्र है ? यह खूब रही।''

वह खिसियानी-सी हंसी हंसता हुआ हमारे साथ मोटर तक आया। थोड़ी दूर पर तीनों देहाती खड़े आंसू पोंछ रहे थे। उन्होंने इशारे से हाथ जोड़कर सुभद्रा से इल्तिजा[12] की कि हमारी फिक्र जल्द करना। वे उन्हें पहचान गए थे। वह उस गांव में बापू के हुक्म से पंद्रह दिन रह चुकी थीं। दोबारा प्राइम मिनिस्टर की बेटी इंदिरा भी यहां आईं। खुद बापू भी इन सबकी हिम्मत बंधाने एक बार आए थे। वह उनका राशन तक खुद शहर जाकर लाती थीं क्योंकि मुसलमान डरते थे दिल्ली आते हुए और अब उन्हें इन

12. प्रार्थना।

सब मुसलमानों पर बहुत गुस्सा था कि मैंने पंद्रह दिन यहां रहकर उनको रोका, बापू ने रोका। इंदिरा गांधी ने उनकी हिम्मत बंधाई कि तुम इत्मीनान से बसे रहो, गवर्नमेंट तुम्हारी मदद करेगी। जितनी कोशिश उनके लिए हुई, किसी के लिए न हुई थी और फिर भी ये न टिक सके यह इनकी कायरता है।

मैंने बताया कि वे तारीखवार बतलाते हैं कि 11 अक्तूबर को एक अफसर ने आकर कहा, अब खतरा है गांव छोड़ दो। 16 को फिर एक बड़े[13] अफसर ने आकर यही सलाह दी। 21 अक्तूबर को पुलिस अफसर ने फिर यही हुक्म दिया और फिर आखिर में सूबे के एक बड़े अफ़सर ने ट्रक भेजकर उनको कैंप रवाना कर दिया।

मगर सुभद्रा को गुस्सा था। कुछ भी हो अगर उन्हें मुझ पर भरोसा नहीं था, इंदिरा-नेहरू पर भरोसा नहीं था न सही, बापू की बात का तो विश्वास करते। जरा-सी हिम्मत भी कायम न रख सके।

मैंने बायकाट का जिक्र किया तो वह कहने लगी, इतने लड़ने वाले लोग, आस-पास के सारे देहातों में इनकी धाक बंधी हुई थी। फौज के अच्छे सिपाही और बड़े-बड़े डाकू तो इनमें पैदा होते थे, अब कहीं एक आदमी रास्ते में पीट दिया गया या एक बैल चुरा लिया गया या सौदे के पैसे छीन लिए गए, तो इतनी छोटी सी बात पर पांच हजार लड़ाके जवान गांव छोड़कर भाग खड़े हुए ? इनके दिलों में डर ही बैठ गया था। मैं औरत होकर इनका राशन लेने शहर जाती थी और ये डर के मारे पांव बाहर नहीं रखते थे।

तब मैं सोचने लगी कि कहीं यह खुदा का कहर ही तो न था ? यह वही डर और दहशत तो न थी जिसका जिक्र कलाम-ए-पाक में है कि उस कौम पर जिस पर हमारा कहर और गजब होता है, उससे भी जबरदस्त कौम हावी कर दी जाती है और फिर उनके दिलों में इतना खौफ बैठ जाता है कि वे मुकाबले पर जम ही नहीं पाते हैं। खुदा जिसे चाहता है, जमीन का मालिक बनाता है।

हमने यह तय किया कि हम में से एक तो बापू के पास जाए और दूसरी प्रधानमंत्री से मिलने की कोशिश करे। बापू ने दास्तान सुनी तो बहुत ही रंजीदा हुए और कहा, "मालूम होता है अब[14] मुझे मरना ही पड़ेगा।" और प्रधानमंत्री ने सुना तो कहने लगे, "वे लोग कैंप में कैसे आए ? उनको रोकने के लिए तो मैं और मेरी लड़की गई थीं।" उन बेचारे को क्या पता कि वे और हैं और अफसर और। दो समानांतर सरकारें इस वक्त चल रही हैं—एक का तार तोड़-फोड़ करने वालों के हाथ में है, दूसरे का बापू

---

13. डिप्टी कमिश्नर।
14. इस वाक्य ने हमारे दिल हिला दिए। प्रार्थना के बाद के भाषणों में वह अकसर उन दिनों कहते थे, "मैं तो यहां मरने के लिए आया हूं। मैंने तो जान की बाजी लगाई है; मैं तो अब सौ बरस नहीं जी सकता हूं, वगैरह-वगैरह।

के मुबारक हाथ में। सचाई कमजोर है और झूठ ताकतवर। वह जो कुछ चाहते हैं उसके होने में देर लगेगी और वे सारे काम जल्दी हो जाएंगे जो गुंडों, आतंकवादियों और देश के दुश्मनों की तमन्नाएं हैं।

बहरहाल दोनों ने कहा, वे लोकल गवर्नमेंट और होम डिपार्टमेंट से पूछेंगे, उन्हें खुद हालात की जानकारी नहीं है। मगर बापू की हिदायत[15] हुई कि इसी वक्त बाहर जाकर पड़े हुए लोगों को आबाद कर दिया जाए और दस बजे रात को सुभद्रा ने जाकर गांव के जानवर वहां बंधवा दिए। उनसे कह दिया कि सुबह होने से पहले-पहले अपने मकानों पर कब्जा कर लो। इंस्पेक्टर और उसके आदमी जा चुके थे और दो हजार हिंदू सुबह होते-होते फिर गांव में बस गए। उनसे कह दिया गया अगर किसी ने टोका, तो परेशान न होना। हम सब निपट लेंगे, फिक्र न करो। बापू का यही हुक्म है कि तुम फौरन अपनी जगह पहुंच जाओ। चलते वक्त उन्होंने हाथ जोड़े और कहा :

"इतनी दया और करो कि हमारे मुसलमान भाइयों को भी वापस ले आओ। वे आ जाएं तो गांव फिर भर जाएगा।" उनमें से आदमी कैंप आए और उन्होंने रो-रोकर अपने साथियों से आग्रह किया कि तुम सब पलट चलो।

बापू के हुक्म से जो काम पूरा हो उसमें कौन मीन-मेख निकालने वाला था ? खुद प्रधान मंत्री ने कह दिया था कि अब भी अगर लोग कैंप से पलट जाएं तो उनकी सब चीज उसी तरह उनको मिलेगी जैसे हिंदुओं को मिल रही है। अब यह हमारा काम था कि उनको वापस कराएं। मगर अफसोस है, हम इसमें कामयाब न हो सके। आगे चलकर उन कारणों का जिक्र करूंगी।

हालात ऐसे नाजुक हो गए थे कि गांधीजी जैसे जमाने को समझने वाले के लिए यह अंदाज लगा लेना कुछ मुश्किल न था कि कोई बहुत बड़ा कदम उठाए बिना, कोई मजबूत बांध बनाए बिना इस तेज धार को रोकना नामुमकिन है। और इसीलिए कुछ रोज बाद :

बेखतर कूद पड़ा आतिश-ए-नमरूद में इश्क[16]

15. निर्देश।

16. हजरत इब्राहिम (एक पैगंबर) जिन्हें तत्कालीन बादशाह नमरूद ने आग में ढकेल दिया था और वह आग खुदा के हुक्म से बगीचा बन गई थी। खुदा के इश्क में वह निर्भीक होकर कूद पड़े।—अनु.

6. कैंप में

अब जामिआ के छात्रों के अलावा भी बहुत से लड़के कैंप में काम करते थे। उनमें से एक साहब जफर अली खां भी थे। मैं उन्हें नापसंद करते हुए भी इस गलतफहमी में कि जामिआ के हैं, शरीफ आदमी समझा करती थी। यह तो बाद में मालूम हुआ कि वे कैंप में शरणार्थी की हैसियत से थे और आहिस्ता-आहिस्ता कैंप के इंतजाम में भी दखल देने लगे थे। सरकार को शुब्हा[1] हुआ कि आबादी कम है और लोग फर्जी नामों से ज्यादा राशन वसूल कर रहे हैं। इंतजाम करने वाले उनका साथ दे रहे हैं। बहरहाल स्थानीय शासन ने जरूरी समझा कि इंक्वायरी कर ली जाए और कई लड़कियों के साथ मजिस्ट्रेट तहकीकात करने आए। लड़कियां खेमे के अंदर और मजिस्ट्रेट साहब[2] खुद बाहर आंकड़ों की जांच कर रहे थे। उस समय मुझे अंदाजा हुआ कि कैंप के लोग भी बड़ी चालाकी से दो के बजाए चार का राशन वसूल कर रहे हैं। वह तीन छटांक आटा या चावल उन लंबे-तगड़े देहातियों के लिए कतई नाकाफी था और इसीलिए वे फर्जी[3] तादाद दिखाकर उसी तरकीब से अपनी खुराक पूरी करते थे। उधर वालंटियर, चपरासी, अस्पताल का सब स्टाफ अपना हक ज्यादा रखने के लिए हर रोज कुछ न कुछ बचा लेते थे। सरकारी अफसर इस बेदर्दी से चेकिंग कर रहे थे जैसे कोई साजिश पकड़ी जा रही थी, हथियार या बम निकलने की उम्मीद थी। जैसे मुजरिमों की खानातलाशी हो रही थी। मदद और हमदर्दी का जज्बा उन दिनों कहीं दूर-दूर तक न था।

इस कशमकश का नतीजा यह हुआ कि जफर खां जो राशन के प्रबंधक बन बैठे थे, गुस्से में भरे हुए मेरे पास आए और कहा कि बेईमानी की हद है। मैंने लोगों से कह दिया है, तुम पर बहुत ज्यादती हो रही है, तुम राशन न लो। मैं सोच भी न सकी कि यह किसी हड़ताल की तैयारी है। यही खयाल किया कि फौरी[4] इलाज सोचा

---

1. संदेह।
2. डिप्टी कमिश्नर।
3. झूठे।
4. तत्काल।

होगा। यह खयाल भी न था कि कोई शरारत है, लेकिन इन शब्दों ने खतरनाक सूरत पैदा कर दी और तीन दिन कैंप के किसी आदमी ने राशन न लिया। भूख के मारे बुरा हाल, चेहरों पर हवाइयां उड़ रही थीं। बच्चे उठ भी नहीं सकते थे मगर राशन लेने से बराबर इंकार। लड़के बेचारे[5] क्या जाने कि यह सब उनके एक साथी की करतूत है। और मैं हैरत से देख रही थी कि जफर खां दो दिन के अंदर कैंप के लीडर कैसे बन गए। असलियत यह थी कि दो के बजाए चार का राशन लेने वालों में खुद जफर खां भी थे और उन दिनों उन्होंने खूब हाथ-पैर निकाले थे। उन बेमुल्क के नवाब के भाई कैंप के एक हिस्से में खेमा डाले मय स्टाफ के सुरक्षा के बहाने से रह रहे थे।

इस्माइल पटेल[6] ने, जो असिस्टेंट कमांडर थे, लिखा-पढ़ी की। डिप्टी कमिश्नर को खबर की, फूड मिनिस्ट्री को लिखा और जिसे-जिसे हालात की इत्तिला दी हो, मगर कुछ हल न निकला। किसी ने खबर ही न ली।

मैंने भी चीफ कमिश्नर साहब[7] को फोन किया, तो मालूम हुआ नहीं हैं। डिप्टी कमिश्नर[8] को फोन किया। चपरासी ने कहा आराम कर रहे हैं। फिर मालूम किया। जवाब मिला धूप खा रहे हैं। फिर चीफ कमिश्नर को फोन किया खुदा-खुदा करके बोले। सारा हाल बताया तो कहने लगे अच्छा, दो दिन हो चुके ? मुझे तो खबर ही नहीं है। खैर अब तो खबर हो गई, जल्द फिक्र कीजिए। वरना मौतें शुरू हो जाएंगी। कहने लगे, जरूर। कल ही कोशिश करूंगा।

मगर सुबह हो गई। कैंप की हालत बदस्तूर थी। फूड मिनिस्टर के सेक्रेटरी आने वाले थे, मगर फुर्सत न मिली। मजिस्ट्रेट साहब आए मगर सारा हाल सुनकर वापस चले गए। शाम तक यही होता रहा। तब तो परेशान होकर मैं बापू के पास दौड़ी गई। वहां जाकर सारा हाल बतलाया। बापू ने उसी समय फूड मिनिस्ट्री को फोन कराया। सुशीला नैयर को मेरे साथ किया। सब कुछ होते-हवाते काफी देर लग गई। मगर जब कैंप पहुंची, तो देखा फूड सेक्रेटरी आकर सबके व्रत तुड़वा चुके थे और राशन तोल-तोल कर दिया जा रहा था।

इस घटना से मेरी तबीयत खटक गई और जफर खां मुझे ऐयार[9] और नाकाबिले एतबार नजर आने लगा। मगर मुश्किल यह थी कि जामिआ के लड़के कुछ कालेज खुल जाने की वजह से, कुछ उस काम की नीरसता से घबराकर दूसरे कामों में लग गए थे। कुछ लड़के अब भी आते थे मगर उनकी तादाद कम हो गई थी।

---

5. जामिआ के छात्र।
6. जामिआ मिलिआ का निष्ठावान कार्यकर्ता।
7. खुरशीद अहमद खां।
8. श्री रंधावा।
9. धोखेबाज।

मुझे कभी पुलिस या फौज से काहे को वास्ता पड़ता ? जो जिंदगी मैंने अब तक गुजारी थी उसमें न अदालत थी न कानून। यहां पहली बार एक थानेदार साहब से भी पाला पड़ गया। एक शख्स की बीवी अपने मायके में थी और वह अपने साथियों के साथ कैंप में ठहरा हुआ था। बीवी की याद ने बहुत सताया और कुछ मां-बाप और गांव-वालों ने उकसाया तो एक रात कैंप के रक्षक डोगरा सिपाहियों को रुपया देकर उसने इस पर राजी कर लिया कि दो सिपाही ट्रक लेकर उसके साथ जाएं और उसके गांव से उसकी बीवी को निकाल लाएं जहां के सारे आदमी 'शुद्ध' हो चुके हैं। औरत अपने मायके में थी और मां-बाप के साथ मजबूरन शुद्ध हो गई थी। अपनी पत्नी के अलावा उसे भाई की बीवी को भी लाना था। दो सौ रुपयों पर मामला तय हो गया। लड़कियां ट्रक पर बिठाई जा चुकी थीं, कि गांव वालों को खबर हो गई और सब लाठियां और बल्लम लेकर दौड़ पड़े। दो-एक लाठियां पड़ीं भी और एक लड़की छिन गई, मगर वह अपनी बीवी को ले आया। और यह सब इतना छिपकर किया गया कि हमें कोई जानकारी नहीं थी। इसलिए किसी की समझ में न आया कि मजिस्ट्रेट साहब किस लड़की की तलाश में हैं। एक बार थानेदार साहब आए, कैंप का चक्कर करके वापस गए। दूसरी बाद आए तो मुझसे मुलाकात हुई। उन्होंने सारा हाल बताया और कहा लड़की इसी कैंप में है। हम सबने यही कहा कि हमें कोई जानकारी नहीं। लेकिन यह जरूर पूछा कि क्या अपनी पत्नी को लाना भी किसी कानून के मुताबिक जुर्म है ? उन्होंने इस घटना को विस्तार से बताया और यह भी कहा कि लड़की के मां-बाप हिंदू हो चुके हैं और बाप की तरफ से रिपोर्ट की गई है। गोली भी वहां चली थी, बूढ़ा साथ था और उस गांव के दो-एक जमींदार और पटवारी वगैरह भी आए थे।

थानेदार ने कहा, लड़की हिंदू थी। उसे जबरदस्ती उठा लाए हैं। मैंने उनको फिर समझाने की कोशिश की कि अगर बाप शुद्ध हो गया है तो ब्याही हुई लड़की नहीं हो सकती। न ही बाप उसको रोकने का कानूनी हक रखता है। पति मुसलमान है। वह अपनी पत्नी को बुलाता रहा, बाप ने रोके रखा तो जबरदस्ती ले आया।

जरा संभलकर बोले, मगर जनाब वह मिलिटरी ट्रक लेकर गया, यह जुर्म है। फिर उसे बलवा कराया और गोली भी चली। मुझे न तो सारी घटना मालूम थी, न उस समय तक पुलिस के हथकंडों को समझती थी। हिमाकत देखिए कि उनके कहने में आ गई और लोगों से कहा कि भई उस आदमी को हाजिर कर दो। सच्चा-सच्चा बयान दे दे। और थानेदार साहब से कहा कि जब इस मामले में आपने मुझे डाला है तो मैं सच्चा बयान दिलवा दूंगी। मगर आप भी वायदा कीजिए कि इन पर दया करेंगे। बहुत मुसीबत के मारे हैं।

उन्होंने बड़े विश्वास के साथ कहा, "हां, हां। जैसा आप कहेंगी, वैसा ही होगा। उसे बुलवा दीजिए।"

यह सच था कि थानेदार साहब के हत्थे वह शख्स हरगिज न चढ़ता। तीन-चार

दिन छिपाने के बाद वे उसे पाकिस्तान रवाना कर देते। मगर मेरी बात का वे लोग लिहाज करते थे इसलिए सामने कर दिया। लड़का सहमा हुआ-सा आया। मेरे ढाढस बंधाने पर उसने सब कबूल दिया। रुपया देने का भी जिक्र किया, लाठी चलने का भी। सिर्फ गोली चलने का उसने सख्ती के साथ इंकार किया और यह सच था। थानेदार साहब को मुकद्दमा जानदार बनाने के लिए मनगढ़ंत कहानी तैयार करनी जरूरी थी।

मैंने बूढ़े से कहा कि बड़े मियां, बड़े शर्म की बात है कि तुमने बुढ़ापे में अपना ईमान खराब किया और अब चलते-चलाते दामाद को जेल भी भिजवा देना चाहते हो। अल्लाह को क्या मुंह दिखाओगे ? बुड्ढा फूट-फूटकर रोने लगा। गांव वाले, उसके जान-पहचान वाले भाई-बिरादरी सब उसे लानत-मलामत कर रहे थे और वह बेबसी से रो रहा था। लड़की और दामाद भी रो रहे थे। उनकी आंखों में बेबसी थी, हसरत थी। फौरन ही सबको मालूम हो गया कि जो कुछ हुआ है यह सब जेलदार और थानेदार की शरारत है।

थानेदार साहब ने रंग बदलते देखा तो उठ खड़े हुए। कहने लगे, "अच्छा तो बेटा तुम मेरे साथ आओ।"

मैंने कहा, "यह क्या ? क्या आप इसे गिरफ्तार करेंगे ?"

बोले, "कानून यही कहता है।"

जलकर मैंने कहा, "आपका कानून भी खूब है। वे फौजी जो कैंप के पहरेदार गार्ड हैं, कैंप छोड़कर चले जाते हैं। बिना इजाजत पब्लिक के काम के लिए ट्रक ले जाते हैं। दो सौ रुपया रिश्वत वसूल करते हैं। कानून उनको मुजरिम नहीं ठहराता। मुजरिम है वह जो अपनी बीवी को बाप के घर से लाया। आप पुलिस के आफिसर लड़की के बाप को मजबूर करके गलत रिर्पोट कराते हैं कि इन्होंने गोली चलाई और लड़े। वे जो हमला करने आए थे वे और आप अपराधी नहीं ? अपनी रक्षा के लिए उसने मिलिटरी के आदमी साथ लिए और अपने अफसर से छिपाकर जिन्होंने इतना बड़ा साहस दिखाया, कानून उन पर कोई इलजाम नहीं लगाता ? किराए पर लेने वाला मुजरिम है ? अच्छी बात है, ले जाइए। मैं भी देखूंगी आप कैसे मुकदमा चलाते हैं।"

बाप के आंसू बता चुके थे कि किसी मुसीबत में वह जिंदगी गुजार रहा है। तकरीबन पचास आदमी उस गांव में जान के डर से बजाहिर हिंदू बने हुए रह रहे थे। उनकी सूची हासिल करके दो दिन के अंदर मिस्टर बटन, एस.पी. की मदद से सबको निकलवाकर मैंने कैंप पहुंचा दिया। यानी खानदान समेत मुद्दई अब कैंप में था। उसकी तरफ से एक दरख्वास्त भी पहुंचा दी गई कि वह रिपोर्ट मुझे मजबूर करके लिखवाई गई थी और मैंने जो कुछ अपने दामाद पर इलजाम लगाया, गलत है।

मगर लड़के को थानेदार साहब ने जेल पहुंचा दिया। मैंने एक बड़े अफसर से कहा कि किसी तरह अब मामला खत्म करा दीजिए। उन्होंने वायदा किया कि मामला मेरे सामने आया तो खत्म करा दूंगा। मगर थानेदार साहब को जिद हो गई। उन्होंने

एक महीने तक कागजात अपने पास ही रखे, ऊपर भेजे ही नहीं। मुलजिम के रिश्तेदार और उसकी बीवी दिन-रात मेरी जान को रोते थे कि तुम्हारे कहने से हुआ। तुम अब खबर नहीं लेती हो। उन्हें क्या पता कि मैं कितनी कोशिश कर रही थी। मगर चालाक सब-इंस्पेक्टर जीत गया और मैं हार गई। थककर वे सारे लोग पाकिस्तान चले गए और चलते-चलते खुशामद कर गए कि उसे भूलना नहीं। और फिर एक दिन खबर आई कि थानेदार साहब को किसी ने गोली मार दी। कुछ अर्से बाद दो-ढाई माह रहकर लड़का भी पाकिस्तान गया। लेकिन मिलिटरी से कोई पूछताछ नहीं हुई। बदस्तूर लोग ट्रक किराए पर लेते रहे।

पहाड़गंज के जौहरियों में से एक नेशनलिस्ट साहबजादे जो जामिआ के विद्यार्थी रह चुके थे, पाकिस्तान से वापस आए। कैंप में वह लड़कों के साथ आए और बताया कि इस इरादे से आया हूं कि अगर कोई बची-खुची चीज मिल जाए तो उसे हासिल कर लूं। उनके मकान पर रिफ्यूजियों का कब्जा था। जवाहरात और जेवरात सब लुट चुके थे। सिर्फ एक दीवार के चोरखाने में माल बाकी था जिसे वह किसी तरकीब से हासिल कर लेना चाहते थे। यह दिलेर नौजवान खद्दर का कुरता-पायजामा पहने जीन्स का थैला लटकाए पहाड़गंज, करौलबाग तक का चक्कर लगा आता। उसने चंद चीजें अपनी छोटी बहन के लिए खुद तैयार की थीं और वे भी कहीं सुरक्षित थीं। उनकी उसे सबसे ज्यादा फिक्र थी। कहा था कि भागते वक्त कीमती चीजों की पोटली भी छोड़ देनी पड़ी और दो बहनें भी जबरदस्ती छिन गईं जिनमें से एक दूसरे ही दिन सुभद्रा की कोशिश से बरामद हो गई और दूसरी गैरतदार लड़की को जब सिख बनाया जाने लगा तो उसने चूल्हे या कढ़ाव में सिर रखकर जान दे दी।

शहर की गलियों में पंसारियों और पान वालों के पास से उसने अपने कीमती नक्शे खरीदे। बहन के जेवरात तो अंधेरे में निकाल लाया मगर उन सब चीजों को लेकर हवाई अड्डे तक पहुंचने की हिम्मत उसमें न थी और उसके लिए उसे मदद की जरूरत थी।

मैंने पूछा कि जब तुम्हें दिल्ली से इतनी मुहब्बत है तो हालात ठीक होते ही फिर आ जाओगे। उसने मायूसी के साथ सिर हिलाया। सन् 1857 के गदर में भी मेरे पुरखे इसी खूनी दरवाजे पर फांसी पा चुके हैं। अबकी फिर मेरे खानदान के दस बारह मेंबर मारे गए। इसलिए अभी तो दिल्ली आने की हिम्मत नहीं पड़ती। सारी मुसीबतें याद हैं। वह तो कहिए चंद हीरे की छोटी-छोटी पुड़ियां मैंने जेब में डाल ली थी, वरना भूखों मरने की नौबत होती। वे बच गईं और अब सारे खानदान के भविष्य का दारोमदार इन पर है। आप देख लीजिएगा कि इनमें से एक सेट बनाकर इतना कमा लूंगा कि दुकान खोल लूं। और वही हुआ। मैंने सुना है कि उस मेहनती, हुनरमंद और आर्टिस्ट खानदान ने अपनी दुनिया करांची में बना ली है।

उन्हीं दिनों एक मसला और पैदा हो गया। दिल्ली के जौहरी, चरवाहे और आम

लोग पहले कट-पिटकर बचे-खुचे पाकिस्तान पहुंच गए थे। अब चांदी वाले न्यारिए और सादाकार भी उठ-उठकर पाकिस्तान जाने के लिए कैंप आने लगे। हर ट्रेन में बड़ी तादाद उनकी निकल जाती। दिल्ली के व्यापारी परेशान थे। जरदोजीवाले[10], कामदानी साज[11] भी रुख्सत हो रहे थे। व्यापारियों ने गवर्नमेंट तक मामला पहुंचाया कि अगर ये सब चले गए तो दिल्ली का मशहूर उद्योग और करोबार खत्म हो जाएगा। इनको किसी तरह रोका जाए।

दिल्ली के एक व्यापारी मेरे यहां आए और बताया कि एक मुसलमान दोस्त ने दो सौ रुपए मुझे भेजे हैं कि मुस्लिम कैंप में खर्च कर दूं। आप बताइए कि किसे दिए जाएं। मैंने डॉक्टर जाकिर हुसैन का पता बता दिया कि उनको भेज दो।

व्यापारी बहुत चिंतित थे कि अब उनके जेवरात कौन बनाएगा, कैसे तैयार होंगे ? नगीना जड़ने वाले, सोना धोने वाले, नफीस, नाजुक जेवर तैयार करने वाले सब मुसलमान थे। वे बनाते थे, हम बेचते थे। सदियों से इसी तरह मिल-जुलकर चल रहा था। चांदी के कारीगर भी मुसलमान थे। अच्छे दर्जी भी वही थे। जरदोजी और कामदानी, गोटा-किनारी भी उन्हीं का शिल्प था। अब कैसे हम सारे हिंदुस्तान को माल सप्लाई करेंगे ? कहते थे कि मैंने बड़ी मुश्किल से अपने कुछ कारीगरों को रोका है, मगर वे भी हर रोज भागने के लिए पर तोल रहे हैं।

दिल्ली का कारोबारी तबका[12] हुकूमत को भी परेशान कर रहा था कि किसी तरह यह आफत कम हो। यों देखने में तो आम तौर से मुसलमान बड़े बुद्धू नजर आते हैं मगर इसी जमाने में उनके जौहर खुले। होटल और खाने की दुकानें अपने बेहतरीन बावरचियों को रो रही थीं और लोग कहते थे कि ड्राइवर और मैकेनिक भी उन्हीं में ज्यादा थे।

मैं पहले ही कह चुकी हूं कि गांधीजी के आश्रितों के सिवा लोकल कांग्रेस में कोई भी इस कैंप में न आता था। इसलिए अब तक मैं किसी से न मिल सकी। मगर अब इक्का-दुक्का लोग नजर आने लगे थे। एक दो बार प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मेंबर भी आए।

दिसंबर 1947 तक लगातार कैंप में काम करने के बाद जब यह देखा कि आनेवालों का तांता किसी तरह टूटता ही नहीं, तो हम सब परेशान हो गए। खेमों की किल्लत, सर्दी की शिद्दत[13], निमोनिया और चेचक की कसरत ने पनाहगुजीनों की हालत इतनी खराब कर दी कि अस्पताल में कोई गुंजाइश न रही। परेशान होकर एक दिन मैं डॉ. जाकिर हुसैन के पास ओखला गई और उन्हें मौजूदा मुसीबतों की दास्तान

---

10. जरी का काम करने वाले।
11. जरी की दस्तकारी।
12. समुदाय।
13. तीव्रता।

सुनाई। वे भी दुखी हुए मगर उनकी समझ में भी उसका कोई हल न आया। आने वाले अब मुसीबतजदा, लुटे-पिटे, कमजोर, मरीज या जख्मी न थे। अच्छे-भले अपना घर छोड़कर, माल-असबाब समेटकर या बेचकर आ रहे थे। मुहल्ले और गांव बराबर खाली होते जा रहे थे और वापसी का नाम लो तो लड़ने पर तैयार हो जाएं। डॉक्टर साहब ने कहा, मेरा खयाल है आप अब कैंप जाना कम कर दें और उनको आराम पहुंचाने के लिए ज्यादा परेशानी न उठाएं। इससे कोई फायदा नहीं। तकलीफ से मजबूर होकर अगर वे घर वापस चले जाएं तो यह उनकी सबसे बड़ी इमदाद होगी।

भाई साहब[14] से जिक्र हुआ। उन्होंने भी कहा कि नहीं देखा जाता तो न जाओ। आखिर वे आ क्यों रहे हैं ? हुकूमत उनको रोक रही है, तुम सब वापस कर रहे हो फिर भी चले आ रहे हैं। तकलीफ उठाने को खुद ही जी चाहता है, तभी तो आ रहे हैं।

लेकिन मैं जानती थी आर्थिक बहिष्कार ने उनकी जिंदगी अजीर्ण कर दी है और उसी से घबराकर वे भाग रहे हैं। इसीलिए मुझे हमदर्दी थी। महात्माजी से भी सब हाल कहा। स्वास्थ्य मंत्री तक खबर पहुंचाई। दवाओं और पलंगों के लिए डाक्टरों से और लिखवाया और कुछ न कुछ पूरा हो गया। कम से कम इलाज का बंदोबस्त हो गया।

एक दिन शहर से तीन साहबान तशरीफ लाए। मैं उनमें से किसी को न जानती थी मगर एक साहब के नाम के आगे ऑफ बर्लिन सुनकर मुझे याद आ गया कि उनकी आवाज से तो करीब-करीब सारी दुनिया वाकिफ है। दूसरे एक दरगाह के उम्मीदवार सज्जादा[15] थे और तीसरे एक व्यापारी। इन लोगों ने आते ही हमें शहरों और देहात के नुमाइंदों को बुलाने के लिए कहा। लोग आए और तीनों साहबान ने बहुत ही भोंडे तरीके से उनको शहर वापस जाने पर राजी करना चाहा। एक बिगड़े दिल हकीम जरा तेज-तेज बोलने लगे और इस पर 'ऑफ बर्लिन' को गुस्सा आ गया। वह गुस्सा कोई मामूली न था, उन्होंने अपनी सारी भाषण-कला दिखा दी, जोर-जोर से मेज पर हाथ मारे और झल्लाए हुए उठकर चले गए। मामला अब बिगड़ गया।

उन्हीं दिनों एक रोज पाकिस्तानी हाई कमिश्नर आ गए। वे अक्सर आया करते थे और मुझसे कई बार मुलाकात भी हो चुकी थी। मगर उस दिन कैंप के उपद्रवियों की बातचीत से मैं कुछ ऐसी जली हुई थी और उनके प्रोपेगंडे ने कुछ ऐसी खराब स्थिति पैदा कर दी थी कि अस्पताल के स्टाफ और उनके अनुयायियों के सामने मैंने सवाल किया कि मेहरबानी करके एक मसला साफ कर दीजिए, क्या यह कैंप पाकिस्तान की तरफ से है ? राशन, खेमे और कंबल पाकिस्तान की तरफ से बांटे जा रहे हैं ? यह

14. रफी अहमद किदवई।

15. किसी बड़े फकीर की गद्दी पर बैठने का उम्मीदवार।

सब स्टाफ तनख्वाह वहीं से पा रहा है ? हर बात का जवाब उन्होंने 'नहीं' में दिया और कहा, 'हमारा कोई ताल्लुक कैंप की आमदनी और खर्च से नहीं है'। इस कैंप में भी यही स्थिति थी। सारा प्रबंध हिंदुस्तानी सरकार करती है। हां, हमारे कहने से ? स्पेशल ट्रेन का बंदोबस्त हो सकता है, रवानगी और सुरक्षा की सुविधाएं मुहैया की जाती हैं और जानेवालों को परमिट हमारा आफिस देता है। मैंने लोगों से कहा, सुन लो ! अपने प्रोपेगंडे की असलियत। बेकार क्यों बेचारों को बहकाकर भागने पर मजबूर करते हो ?

उधर कैंप के बाहर डोगरों ने आफत मचा रखी थी। हर आने-जाने वाले से पैसा वसूल करते। दो-चार रुपए से लोगों ने थोड़ा-थोड़ा सौदा लाकर बेचना शुरू कर दिया था। दुकानदारों से जबरदस्ती चीजें ले लेते और कीमत न देते।

इसी तरह की एक शिकायत लेकर मेरे पास एक दिन दुकानदार आया। किश्वर पास खड़ी थी। मैंने कहा लड़ाई में तुम बहुत तेज हो। कभी स्टाफ से लड़ती हो, कभी कैंप कमांडर से। जरा इस बेचारे के पैसे मिलिटरी वालों से दिलवा दो तो जानूं। बेचारा टुटपुंजिया रो रहा है। बीस आने की माचिस-सिगरेट लेकर उसने पी डाली थी। यों तो रोज ही वे लोग थोड़ा-बहुत ले लिया करते थे, आज ज्यादा ले लिया था और वह बरदाश्त न कर सका।

किश्वर गई और थोड़ी देर बाद खुश-खुश वापस आई। वह हवलदार से लड़कर आई थी। उसे खूब खरी-खोटी सुनाकर उसने पैसे दिलवाए। हवलदार ने देखा लड़की आफत है, कहीं अफसरों को खबर न कर दे। उसने चुपके से निकालकर पैसे दे दिए।

जामिआ के लड़के अब यहां की हालत से बहुत उकता रहे थे। यह काम, यह सेवा और यह वातावरण अब बरदाश्त से बाहर था। मगर उनमें से कई आखिर तक जमे रहे। दो शहर चले गए। कुछ ने पढ़ाई शुरू कर दी।

शहर वाले दोनों लड़के—शम्स और कैसर—किसी-किसी दिन कैंप आ जाते थे। उन्होंने बड़ा मजा ले-लेकर अपनी हठधर्मिता की कहानी मुझे सुनाई और कहा कि कैंप के काम से आप भी ऊब चुकी हैं। अब शहर आकर हमारे साथ काम कीजिए। उधर सुभद्रा दत्त (जो अब श्रीमती जोशी हैं) कई बार मुझे बुला चुकी थीं कि अब असली काम तो शहर में है। कैंप से वापस करना दुश्वार है, मुहल्ले में रोक लेना आसान है। और इस समय सबसे बड़ी जरूरत अमन कायम करने की है। उसके बिना न कैंप बंद होगा, न भगदड़ खत्म होगी। और फिर मैंने भी यही राय कायम कर ली कि अब मुझे शहर चलना चाहिए।

शम्स और कैसर ने जिस मकान में डेरा जमाया था वह रहमानिया स्कूल की खाली इमारत थी। इतना बड़ा मकान जिसमें दर्जनों कमरे थे, अब पढ़ने और पढ़ाने वालों का मर्सिया[16] पढ़ रहा था। पढ़ने वाले और पढ़ाने वाले सब पाकिस्तान चले गए।

---

16. विलाप काव्य।

बाकी रहे नाम अल्लाह का। अब यही जगह भांय-भांय कर रही थी और रिफ्यूजी कब्जा करने के लिए इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे थे। मगर उन दो लड़कों ने बड़ी हिम्मत और दिलेरी से अपनी रातें और दिन वहां गुजारे। बम भी फेंका गया और दिन भर शरणार्थी दल घुसने की कोशिश करते, मगर ये फौलादी इरादे वाले लोग अपने शेख से ट्रेनिंग लिए हुए थे, भला क्या भागते, बदस्तूर डटे रहे। दरवाजा बंद रखा, चाय पी-पीकर पेट को शांत किया, मगर मकान न छोड़ा।

जामिआ की बुनियाद रखने के दिन जो जलसा हुआ था और उसमें शम्स ने जो भाषण दिया था उससे मुझे अंदाजा हो गया था कि उनके दिमाग में कोई नई खलबली मच रही है। यह कहना कि "जामिआ ने फैले हुए काम को समेटकर एक बिंदु पर इकट्ठा किया था, अब फिर वक्त आ गया है कि उसे फैलाया जाए, गली-कूचों में फैलाया जाए।" अकारण नहीं था। कोई स्कीम दिमाग में चक्कर काट रही थी। अमल के शौकीन नौजवान कुछ-न-कुछ करना चाहते थे और उनके साथी मंजिल का पता न होते हुए भी साथ देना चाहते थे :

कस न दानद कि मंजिल गह-ए-मकसूद कुजा अस्त[17]
ई-कदर हस्त कि बांगे जरसे मी आयद।

बहरहाल उनकी हिम्मत देखकर दो-एक साथी और भी आ गए। गली और सड़क पर खेलते हुए बच्चों को बुला-बुलाकर खेल के बहाने अपना रंग जमाने की कोशिश शुरू कर दी। जामिआ के इखलास अहमद सिद्दीकी स्काउट मास्टर भी पहुंच गए। वे पुराने खिलाड़ी, चुटकी बजाने में बच्चों को फुसला लेना उनका पुराना शौक था। बहुत जल्दी अपने रंग पर ले आए और चार दिन में बच्चों की तादाद बारह हो गई।

मैं जब पहले रोज गई तो बच्चे खेल रहे थे। गैलरी में कुर्सी डाले स्काउट मास्टर बैठे थे। मुहल्ले के मुसलमान डर की वजह से न आते थे और शरणार्थी (जो पास के तमाम क्वार्टरों में आबाद हो चुके थे) दुश्मन समझकर रुख न करते। यही बच्चे उन सबके मददगार भी थे। वे अपने घरों से छिप-छिपाकर जबरदस्ती आ जाते। मकान की सफाई जितनी मुमकिन थी उन दो-तीन आदमियों ने कर ली थी। मुझे भी दिलचस्पी पैदा हो गई और फिर दूसरे तीसरे दिन जाना शुरू कर दिया।

लड़कों ने कहा कि अब आपका काम यह है कि मुहल्ले में अमन का प्रचार कीजिए। मुसलमानों का खौफ-हिरास[18] कम कीजिए। रिफ्यूजियों में हमारा विश्वास पैदा करा दीजिए और उन लोगों को मजबूर कीजिए कि अपने बच्चे यहां भेजें। जब हिंदू-मुस्लिम बच्चे इकट्ठे होंगे तो अमन आप से आप हो जाएगा। और आपाधापी कम हो जाएगी।

---

17. कोई नहीं जानता कि मंजिल-ए-मकसूद कहां है। बस इतना है कि दूर से पुकार की या काफिले के चलने की आवाज आ रही है।

18. भय-आतंक।

होशियार लड़कों की हिदायत के मुताबिक मैंने मुहल्ले की गश्त शुरू कर दी। किसी दिन सुभद्रा के साथ हो जाती और किसी दिन अकेले। अलग-अलग किस्म के लोगों से मिली। छोटी-छोटी सभाएं कीं और उनसे अपनी मदद आप करने और हिम्मत कायम रखने की अपील की। यह तो कह भी न सकती थी कि सरकार पर भरोसा करो, क्योंकि प्रांतीय सरकार की तरफ से आम बदगुमानी और नाउम्मीदी फैली हुई थी और यह कुछ बेजा भी न थी। सूबे की हुकूमत न भरोसे के काबिल थी, न उससे कोई आशा की जा सकती थी। इसलिए जिम्मेदारी के साथ जनता से यह भी तो नहीं कहा जा सकता था कि तुम्हारी हिफाजत होगी। इंसाफ होगा। हमें खुद कब यकीन था कि यह कुछ होगा जो उनसे कहते।

मैं उनसे कहती थी कि तुम्हारा खयाल ठीक सही, हुकूमत तुमको निकालना चाहती है। यही समझ लो। लेकिन क्या किसी के कहने से तुम अपना घर, अपनी चीज, अपना हक छोड़ दोगे ?

वह एक आदमी हो या हुकूमत, अपने हक के लिए, अपने देश के लिए आखिर तुममें लड़ने का जज्बा क्यों नहीं पैदा होता ? लड़े बिना तो किसी को कुछ नहीं मिला करता और लड़ाई के लिए जरूरी नहीं है कि तलवार ही हो। आखिर अंग्रेजों से कांग्रेस ने कैसे लड़ाई लड़ी ? वही अहिंसा तुम्हारा भी हथियार हो सकती है। तुम्हारा घर, तुम्हारी इज्जत, तुम्हारा मुल्क सब खराब हो रहा है। इसे बरबाद करने वाले किसी के भी दोस्त नहीं हैं। किसी के भी साथी नहीं हैं। उनका धर्म पैसा है। शैतान ने उनको वरगला रखा है, तुम क्यों बहके जा रहे हो, जो इन सब चीजों को बुरा समझते हो ? तुम्हारा काम सिर्फ इतना है कोई कुछ कहे, मारे या जिंदा रहने दे, अपने घरों में डटे रहो। फितना-फसाद न फैलाओ और उनके हाथ मजबूत करो जो अमन कायम करना चाहते हैं। उस बाप की मदद करो जो तुम सबकी इस पशुता पर खून के आंसू बहा रहा है।

यह सुनकर कुछ बहस मुबहसा हुआ। औरतें एकदम चीख-चीखकर छत सिर पर उठा लेतीं। कुछ बकती-झकती बुर्का सिर पर डालकर भाग खड़ी होतीं, कुछ लड़ने को खड़ी हो जातीं। तुम्हारे ऊपर पड़ता तब जानती। तुम्हारे बच्चे मरते, घर-बार लुटता, मालिक मरता तब चोट लगती।

लेकिन मुझे उन दिनों गुस्सा न आता। मालूम नहीं कहां चला गया था। कभी-कभी खुद भी ताज्जुब होता कि इतनी शांत और सुलझी हुई तो मैं कभी न थी।

मुहल्ले में बुरी तरह मकान-दुकानें बेच-बेचकर, पगड़ी पर दे-देकर लोग भाग रहे थे और गरीबों पर उसकी वजह से और भी मुसीबत पड़ रही थी। गली का कोई मालदार व्यापारी या मकान-मालिक दुकान-मकान बेचकर या हजारों रुपया पगड़ी का लेकर पाकिस्तान चला जाता और उस मकान में शरणार्थी आबाद हो जाता। नतीजा यह हुआ कि पड़ोस के दस गरीबों को उस नए आदमी की धौंस, जब्र और धींगा-मुश्ती अपना मकान छोड़ने पर मजबूर कर देती। उनका बाहर निकलना, चलना-फिरना

मुश्किल हो जाता।

उस मुहल्ले में कांग्रेस लेबर सेक्शन काम कर रहा था। उन सबने शांति दल के नाम से एक अमन पसंद ग्रुप बना लिया था जो मुहल्ले में शांति बनाए रखने के लिए डंडा, बंदूक, खुशामद और हिंसा...सबसे काम लेता था। शांति दल में समाजवादी विचारों के लोग ज्यादा थे। हिंदू-मुस्लिम अमनपसंद नौजवान भी शामिल थे ऐसे लोग तो उस मुसीबत और खतरे के वक्त पार्टीबंदी को ताक पर रखकर एक समान मकसद के लिए कुछ करने को निकल आए थे।

इसी तरह का एक और दल शहर के सबसे ज्यादा खतरनाक इलाकों में भी काम कर रहा था। उसमें सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, काकोरी केस[19] के सूरमा और सेवाओं के वालंटियर सभी शामिल थे। मैं उनके बहुत से मेंबरों से मिली थी और सितंबर और अक्टूबर की अनेक चश्मदीद घटनाएं उन्होंने मुझे सुनाई थीं।

रहमानिया स्कूल के फाटक पर बहुत जल्दी कई साइन बोर्ड लग गए : 'मरकज-ए-इत्तिहाद-ओ-तरक्की', 'बच्चों का क्लब', 'शांति दल', 'आफिस' वगैरह। और मैं उन तीनों कमरों में दिन का बेशतर हिस्सा गुजारती थी।

थोड़े ही दिन बाद सहमे हुए मुसलमान इतने निडर हो गए कि यहां खुद भी आएं और अपने बच्चों को आने दें। और ताज्जुब की बात तो यह है कि उनमें इतनी हिम्मत उनके बच्चों ने पैदा की। वही उनको लेकर आते थे और यहां से जाकर तारीफ करते थे।

वे छोटी-छोटी सभाएं जो यहां रोज होती रहती थीं, अक्सर सलाह मशविरे के लिए होतीं। मगर डरे हुए दिलों के लिए इतना सहारा भी बहुत था और धीरे-धीरे लोगों की दिलचस्पी और विश्वास बढ़ गया।

शांति दल की तरफ से एक बड़ी सभा का एलान किया गया, मगर उस बड़ी सभा में मुश्किल से सौ आदमी शरीक हुए।

लोगों ने अपनी मुश्किलें बयान कीं। कारोबार बंद होने का जिक्र किया, हर वक्त के अंदेशे का जिक्र किया और फिर शम्स ने बहुत ही जोशीले ढंग से मुहल्ले के धनी-मानी लोगों से अपील की :

"दो तीन हफ्ते हमें और कोशिश करने की मुहलत दे दीजिए। अमन[20] कायम हो रहा है, बहुत कुछ हो भी चुका है। हम सब और भी जीतोड़ कोशिश करेंगे। वातावरण अनुकूल होता जा रहा है। इतनी मुहलत तो आपको जरूर देनी चाहिए। इसके अलावा

19.. चौधरी वशीर जंग भी उनमें शामिल थे। जब शांति हो गई तो वे ऐसे गायब हो गए कि कभी-कभी साल-दो साल में उनसे मुलाकात हो जाती थी। अब वह भी नहीं।

20. हम यह कहते थे, लेकिन शहर में कत्ल हो जाते थे। उनका खयाल आते ही शब्द गले में फंस जाते थे।

बच्चों को यहां आने से मत रोकिए। कई महीने से उनकी पढ़ाई बंद है। हम आरजी तौर पर उनकी पढ़ाई का बंदोबस्त करेंगे। उनका वक्त बेकार सड़कों पर घूमकर या आपस में लड़कर गुजरता है। हम उनके खेल और तालीम दोनों का प्रोग्राम बना रहे हैं।''

इस पर एक साहब उठे। उन्होंने हुकूमत, वर्कर्ज, कांग्रेस सबको लताड़ा और कहा कि हम दो हफ्ता इंतजार करने के लिए तैयार हैं बशर्ते कि हमें यकीन दिलाया जाए कि अगर उस वक्त तक अमन न हो सका तो हमारे साथ मि. किदवई और मौलाना आजाद भी हिंदुस्तान से हिज्रत कर जाएंगे। मैं कहे देता हूं मुसलमान अब यहां नहीं रह सकता। हुकूमत उसको रखना नहीं चाहती। दिल्ली से निकालना ही उसका मकसद है। हिंदू राज बनाने का मंसूबा है और हम खुद रहना नहीं चाहते।

वक्ता ने सरकार के अत्याचारों की लंबी दास्तान छेड़ दी। उनके गरमा-गरम भाषण ने बहुत से दिलजलों को खुश किया। उन्होंने विस्तार से बताया कि पुलिस और फौज ने, अफसरों ने और पड़ोसियों ने मुसलमानों के साथ क्या कुछ किया है।

जब वह कह चुके तो मैंने अर्ज किया : जनाब ने हवाले तो कुरान हदीस[21] सब के दे डाले, मुसलमानों की ऐतिहासिक परंपरा का भी जिक्र किया और 'पिदरम सुल्तान बूद[22], का राग भी अलापा। लेकिन क्या आप मुझे कुरान शरीफ में से कोई ऐसी आयत भी बता सकते हैं जिसमें यह हुक्म हो कि जब तुम्हें कोई तुम्हारे घरों से निकाले, तुम्हारा माल-असबाब लूटे, तुमसे लड़े तो तुम भागो, भागते ही जाओ ?

''मैं अपने सीमित ज्ञान के आधार पर कह सकती हूं कि मैंने तो अब तक जो कुछ पढ़ा है और समझा है उससे यही साबित होता है कि अपने हक के लिए मुकाबला करो। साबित कदम रहो। अल्लाह से मदद मांगो। मेरे अजीज भाई, अगर ऐसी कोई आयतें[23] या हदीस ले आएं तो मैं भी भाग चलूं।

इसके अलावा मुझे अफसोस है कि भाई साहब की यह ख्वाहिश[24] थी कि उनके मुस्लिम वजीर उनके साथ जाएं, शायद वह पूरी न हो सकेगी। उनकी फिक्र भी बेकार है। उनको यहीं जीना और मरना है, अपने मुल्क में और अपने मुल्क के लिए। वे भागे कि यहां मौत हो और दूसरी जगह न हो। उनका तो ईमान है कि मौत दुनिया के हर किस्से में मुकर्रर वक्त पर जरूर आएगी।

''खैर, वे तो बड़े लोग हैं। आप मुझसे कहिए तो शायद मैं भी इस पर अमल न कर सकूं। कैंप में हैजे या पेचिश से, राह में ट्रेन पर गुंडों की तलवारों या पुलिस

---

21. पैगंबर साहब की फरमाई हुई बात।
22. मेरा बाप बादशाह था।
23. कुरान का एक वाक्य।
24 इच्छा।

और फौज की गोलियों से, फिर लाहौर की सड़कों पर भिखारी बनकर, फाके से एड़ियां रगड़-रगड़कर मरने से हजार दर्जा अच्छा है कि बहादुरी से अपने घर में जान दूं। मेरे पीर गांधीजी ने भी यही सिखाया है।

''और मैं आपसे तो यह कहने भी नहीं आई हूं कि हुकूमत आपको बचाएगी। जनाब, मौत है, खतरा है, सब कुछ है। अगर आप मुसलमान हैं तो खुदा पर भरोसा कीजिए वरना फिर इस्लाम का नाम न लीजिए। मैं जिंदगी की तरफ नहीं, इज्जत की मौत की तरफ आपको बुलाती हूं। हिंसा और नफरत की तरफ नहीं, अहिंसा और प्रेम का बुलावा लेकर आई हूं। क्या अब भी आप लोग बापू की आवाज, उनकी पुकार न सुनेंगे ? यह जो कुछ हुआ है और हो रहा है अगर यह खुदा का कहर है तो इससे बचकर आप कहां जाएंगे ? वह तो हर जगह आपको घेर लेगा। बेहतर सूरत यही है कि अल्लाह की रजा[25] के आगे झुक जाइए। अगर वक्त पूरा नहीं हुआ है, जिंदगी बाकी है तो इसे खत्म करने की ताकत किसी इंसान में नहीं। मजबूती, हिम्मत और हौसले से इस मुसीबत का मुकाबला कीजिए।''

गरज यह कि खुदा का करना ऐसा हुआ कि लोगों के दिल में यह बात बैठ गई और भगदड़ में थोड़ी-सी कमी आ गई। शांति दल, कांग्रेस कमेटी और मरकज-ए-इत्तिहाद-ओ-तरक्की तीनों ने मिलकर मुहल्ले की बागडोर थाम ली।

इत्तिहाद-ओ-तरक्की

पाठकों ने इसका जिक्र अखबारों में पढ़ा होगा। लखनऊ में हिंदुस्तान के मुसलमानों ने जमा होकर मौलाना आजाद के नेतृत्व में इस आंदोलन को जन्म दिया था। वह डर, बेइत्मीनानी और बेचैनी जो उस समय मुसलमानों में आम हो रही थी, उसका हल यह सोचा गया था और सारे देश में उसकी शाखाएं फैला देने का मंसूबा बांधा गया था। मौलाना साहब के हुक्म से जामा मस्जिद के करीब एक बड़े मकान में 'इत्तिहाद-ओ-तरक्की' का एक साइन बोर्ड लगाकर एक मशहूर लेखक और एक भूतपूर्व नाजी वक्ता को उसका इंचार्ज बना दिया गया था। लड़कों ने सोचा हम भी इसको अपना लें। भविष्य के काम और उसका अंजाम दोनों पर उस समय परदा पड़ा हुआ था। नौजवानों का एक दल था जिसकी कोई मंजिल निश्चित नहीं थी, मगर जो उस स्थिति से असंतुष्ट था। उनके कानों में आहें और चीखें गूंज रही थीं और वे अपने कानों में उंगलियां भी नहीं देना चाहते थे, बल्कि सुनकर समझना और मदद पहुंचाना चाहते थे। मकान पर जबरदस्ती कब्जा, पहली नजर में तो पाठकों को हठधर्मी ही नजर आई होगी, मगर ये वे लोग थे जो शाम के अंधेरे को चीरकर सुबह की रोशनी को खींच लाना चाहते थे। वे उस मरते और सिसकते हुए समाज को पैरों तले रौंदकर नए

---

25. खुदा की मर्जी।

जमाने का स्वागत करना चाहते थे। वे जानते थे कि जो कुछ हुआ उसका दोष अंग्रेज के सिर रख देने से न घटनाओं की सचाई को झुठलाया जा सकता है, न जख्मों पर मरहम रखा जा सकता है। इस राजनीतिक बाजीगरी, इस शतरंज की बिसात पर मुहरे लड़ाने वाले राष्ट्र की टूटी-फूटी दीवार पर प्लास्टर करके उसे कुछ दिन के लिए चिकना तो कर सकते हैं मगर उसकी बरसों पुरानी बुनियादों को, जो ढह जाने के करीब है, पायदार[26] नहीं बना सकते।

इसलिए उन्होंने बड़े मोटे-ताजे दरख्तों के गिरने पर अफसोस न किया। झूलती हुई सियासत की पेंगों ने अपना दामन बचा लिया और सुरक्षित जगह ढूंढकर मेहनती मजदूर और हुनरमंद माली की तरह नए पौधे लगाने और निर्माण के लिए नई ईंटें थापने की ठान ली।

'इत्तिहाद-ओ-तरक्की' की स्कीम शहर में कहां थी ? इसका कर्त्ता-धर्ता कौन था और उसने कितनी कामयाबी हासिल की ? यह तो सब मुझे मालूम नहीं—मेरी दृष्टि सीमित थी और कार्य क्षेत्र और भी सीमित। मगर इतना जानती हूं कि पहली ही मंजिल पर उन दो मशहूर हस्तियों में इस पर झगड़ा हो गया कि कुर्सी और अलमारियां कैसी खरीदी जाएं ? कौन सा कमरा किस काम के लिए रखा जाए ? और सबसे अधिक मतभेद इस बात पर हुआ कि चपरासी रात को कहां सोएं, यहां या अपने घरों में ? एक लेखक, एक वक्ता, एक कांग्रेसी—नजरियों का टकराव हो गया। जीवन के मूल्य एक दूसरे से लड़ पड़े और उनमें से एक साहब ने बोरिया-बिस्तर बांध लिया।

लेकिन 'इत्तिहाद-ओ-तरक्की' के नाम से दो महीने हमारे साथी काम करते रहे और जल्द ही हमें मौका मिल गया कि इत्तिहाद-ओ-तरक्की का साइनबोर्ड हटाकर 'तालीम-ओ-तरक्की' लिख दिया जाए और जामिआ की यह पुरानी स्कीम जिसका फसाद से पहले सिर्फ एक जगह करौल बाग में प्रयोग किया गया था, यहां शुरू कर दी जाए।[27]

सुबह से लेकर शाम तक बीसियों समस्याएं सामने आईं। सैकड़ों आदमी अपनी-अपनी अर्जियां लेकर आए और हमारे नौजवान उनकी मदद के लिए दौड़ते रहे। काम करने वाले बहुत कम थे और अब तक हमारी पहुंच रिफ्यूजियों तक भी न हो सकी थी हालांकि उनके बच्चे खेलने के लिए आना शुरू हो गए थे। यहां तक कि करौलबाग तक से जामिआ स्कूल के पुराने विद्यार्थी आ जाया करते थे।

इस मुश्किल का जिक्र एक दिन डॉ. किचलू साहब[28] के सामने किया। वे बेचारे

---

26. एकता एवं प्रगति।

27. मजबूत।

28. शफीकुर्रहमान किदवई मरहूम ने यह आंदोलन करौल बाग में जामिआ मिल्लिया के स्कूल और मक्तबा के अधीन शुरू किया था। इस आंदोलन में प्रौढ़ शिक्षा के सिलसिले में भी बहुत काम किया और प्रौढ़ साक्षरों के लिए काफी साहित्य हर विषय पर सुलभ किया था।

अपनों के सताए हुए और परायों से त्रस्त, घर-बार खोकर आए थे और हमारे यहां मेहमान थे। उनके पास बहुत से लड़के-लड़कियां हिंदू-सिख आते रहते थे। आज भी पंजाब की जनता उन पर विश्वास करती थी, बच्चे उनसे प्यार करते थे और दोस्त उनको दोस्त समझते थे। एक कमरे में बिल्कुल खामोशी के साथ सुकून से जिंदगी गुजारने का इरादा कर लिया था जो दिन भर में बीसियों बार टूटता। लड़के गोल-के-गोल आते। मुझसे अक्सर वे शहर के हालात मालूम करते थे। हमारी इस मुश्किल में उन्होंने मदद करने का वायदा कर लिया और इंटरनेशनल स्टूडेंट कांग्रेस के आठ लड़के उनके हुक्म से हमारे साथ आ गए।

गवर्नमेंट ने ऐलान किया था कि तीन माह सोशल सर्विस करने के बाद हर लड़का डिग्री लेने का पात्र हो जाएगा और उनकी साल भर की मेहनत बरबाद न होगी।

बड़ी लगन के साथ उन्होंने काम शुरू किया और उनके जरिए से हमारी पहुंच शरणार्थियों तक हो गई। उन्हीं दिनों मिसेज सावित्री भार्गव और सुचेता कृपालानी ने आकर 'तालीमी मरकज'' (शिक्षा-केंद्र) को देखा। बच्चों की पढ़ाई, उनका खेल, उनकी आपस में दोस्ती देखकर बहुत खुश हुई। सुचेताजी को खासकर बहुत ताज्जुब था कि शरणार्थियों के बच्चे यहां एक साथ पढ़ते हैं। साथ ही उन्होंने यह प्रस्ताव भी रखा कि आपस में प्यार बढ़ाने के लिए हम मुसलमान बच्चों की तरफ से हिंदू बच्चों को और हिंदू बच्चों की तरफ से मुस्लिम बच्चों को मिठाई, खिलौने वगैरा पहुंचाएं तो यह चीज भी अमन कायम करने में मदद करेगी।

प्रस्ताव अच्छा था और हमने उस पर अमल करने में बिल्कुल देर नहीं की। दूसरे ही दिन फल लेकर हमने[29] दैवल कैंटीन[30] जाने का इरादा किया। खयाल था कि बच्चों को भी ले चलें मगर हालात संतोषजनक न थे, इसलिए जरा दिल धड़का और उन्हें साथ न लिया।

स्टेशन पर उतरने वाले हजारों हिंदू-सिख शरणार्थी, औरतें, मर्द और बच्चे जमीन पर टाट वगैरह बिछाए हुए कैंटीन में पड़े हुए थे। सैकड़ों बच्चे इधर-उधर फिर रहे थे—बेचारे मासूम बच्चे इंसान की हैवानियत के शिकार, घरों से महरूम, खानाबदोशी की जिंदगी गुजार रहे थे। वे औरतें ठीक कहती थीं :

''इससे तो गुलामी अच्छी थी। हमारा एक घर तो था जहां बच्चे समेत हम सिर छिपाए इज्जत के साथ बैठे थे। यह कैसी आजादी है कि हम सड़कों पर रुलाते फिर रहे हैं।''

दैवल कैंटीन के मैनेजर ने हमारी मदद की और बहुत ही प्रेम के साथ उस रस्म

---

29. डॉ. सैफुद्दीन किचलू अमृतसर से उजड़कर और लाहौर में मुसलमानों के हाथों पिटकर जान बचाकर गांधीजी से मिलने आए थे, फिर यहीं बस गए, यहीं पर मरे।

30. मैं और सावित्री।

का स्वागत किया। उन्होंने फौरन तमाम बच्चों को तीन-चार पंक्तियों में विठा दिया और मेज पर फलों का ढेर लगाकर हमसे कहा कि अब बांट दीजिए। मगर बांटने से पहले मुझे प्यार और सलाम भी पहुंचाना था।

मैंने बच्चों से कहा :

"मैं उन मुस्लिम बच्चों की तरफ से, जो तुम्हारी तरह प्यारे और मासूम हैं, जो खेलना चाहते हैं, लड़ना-झगड़ना नहीं चाहते, तुम्हारे लिए उनकी तरफ से मुहब्बत और प्यार लाई हूं। वे सब तुमसे दोस्ती करना चाहते हैं। उन्होंने कहा है कि हमारे मां-बाप और तुम्हारे मां-बाप सब झगड़ालू हैं, लड़ाके हैं, मारते हैं, निकालते हैं। मगर हम-तुम सब बच्चे हैं और बच्चे न हिंदू होते हैं न मुसलमान, वे तो सिर्फ एक दूसरे से मिलें और एका कर लें।"

बच्चे बहुत खुश हुए। मुझे उम्मीद न थी कि इतनी खुशी मुझे वहां देखने को मिलेगी। वे सभी बोल उठे, "हम जरूर चलेंगे और उनको अपना भाई बना लेंगे।"

एक जगह कामयाबी से हौसला बढ़ा। आरजी स्कूलों ने जो स्टूडेंट कांग्रेस के लड़के-लड़कियां चला रहे थे एक-दूसरे के यहां फल, गुब्बारे, मिठाई वगैरह और प्यार-मुहब्बत के संदेश भिजवाए।

मैंने जाकर बापू को भी खबर सुनाई। मगर वे उन दिनों न जाने कैसे हो रहे थे। उनकी मुस्कराहट में अब वह सच्ची खुशी बाकी नहीं थी जो हमेशा झलका करती थी। उनकी हर बात, हर जुमला जैसे गम में लिपटा हुआ होता। वे कुछ न कहते और मुझे ऐसा लगता जैसे :

मैं हूं अपनी शिकस्त[31] की आवाज।

लेकिन फिर भी उन्होंने इस चीज को पसंद किया और खुश हुए। अब तो कई-कई दिन गुजर जाते और मैं प्रार्थना में भी शरीक न हो पाती थी। इतनी लापरवाही क्यों पैदा हो गई थी ? अब अफसोस होता है। काश हर रोज जाती।

बहरहाल, मेरे साथियों ने यह तय किया कि तमाम टेंपरेरी स्कूलों के बच्चों को एक साथ दावत दें और यहां सिर्फ बच्चों की सभा हो। तैयारियां शुरू कर दी गईं।

हालात बहुत तेजी से बदल रहे थे। अब मरकज के सामने वाले कमरे में जहां एक मेज पर ताजा अखबार और पत्रिकाएं रखी रहती थीं लोग बराबर आते-जाते रहते, घंटों बैठकर अखबार पढ़ते, बातचीत करते। औरतें और मर्द दोनों अपनी-अपनी दुश्वारियों में हमसे इमदाद और सलाह लेने लगे। आहिस्ता-आहिस्ता कौमी और मजहबी सवाल खत्म हो रहा था। मुसलमान विश्वास, खुशी और शौक के जज्बात लिए वहां

---

31. दैवल कैंटीन एक आरजी कैंप था जहां पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थी चंद दिन गुजारकर किसी गांव या मुहल्ले में भेज दिए जाते थे। मुसीबतजदों का एक जंगल, ऐसा करुण दृश्य कि पग-पग पर आंसू रोकना मुश्किल था।

आते, शरणार्थी खुशी-खुशी अपने बच्चों को स्कूल में दाखिल कराते। हिंदू औरतें बेधड़क अंदर आ जातीं। बेतकल्लुफ[32] होकर बात करतीं और हजम लोग उन्हें हमदर्द और अपने आदमी दिखाई देते। वे मुझे पाकिस्तान में अपने ऊपर बीती हुई दास्तान सुनातीं। शर्मनाक जुल्म की कहानियां बयान करतीं और उस वक्त उनके चेहरे रंज और गुस्से से सुर्ख हो जाते।

मगर जब मैंने यह कहा कि वे लोग इंसानियत के दुश्मन हैं, हमारे-आपके दोनों के दुश्मन हैं चाहे, वे जिस मजहब के हों। हमारा मोर्चा तो ऐसे ही दुश्मनों के खिलाफ है जिन्होंने नेकी को छोड़कर बदी की पूजा की है। खुदा को भूलकर शैतान का अनुसरण किया है। और भरे-पूरे देश को लूटकर वीरान कर दिया है और आदमीयत को मारकर हैवानियत को जिंदा रखना चाहते हैं। यह सुनकर वे सब ठंडे पड़ जाते और दोस्ताना बातचीत शुरू हो जाती।

मैं प्रयोग कर रही थी और उन गुस्से से भरे हुए लोगों पर मुहब्बत का तीर छोड़कर जब चेहरों पर मुस्कराहट देख लेती तो ऐसा लगता जैसे कोई दौलत मिल गई हो।

एक मुस्तैद सिख लड़का त्रिलोक सिंह जो उन हंगामों में अपने बाप को खो चुका था, हमें बहुत अजीज था। इतना भोला, जहीन मगर चुस्त था, कि जो काम करते दूसरे लड़के हिचकिचाते हम उसके सुपुर्द कर देते। शम्स जरा फिलासफर किस्म के थे : सारा इंतजाम लिखना-पढ़ना, हिसाब-किताब, स्कीम और बजट सब उनके सुपुर्द था। कैसर अजीब माजून-ए-मुरक्कब[33] थे : काम के लिहाज से बुड्ढे-खुर्राट, मगर सूरत और हरकतों में बिल्कुल बच्चा और बच्चों के सबसे ज्यादा लोकप्रिय उस्ताद भी वही थे। सारे खेल उन्हीं की निगरानी में होते। जलसा, मेला और सारी हड़बोंग अक्सर उन्हीं के दिमाग की उपज होती। स्काउट मास्टर पाकिस्तान चले गए थे। ओखले से अध्यापक और विद्यार्थी कभी-कभार आया करते थे और नए रंगरूट उनसे ट्रेनिंग हासिल करते। मैट्रिक, एफ.ए. और बी.ए. में पढ़ने वाली कई पनाहगुजीं लड़कियां भी अब अध्यापकों में शामिल थीं। त्रिलोक सिंह भी पढ़ाते थे। मि. बनारसी दुबले-पतले, मेज के पास बैठे हुए, इल्मी और सियासी बहस करते रहते या फिर अपने साथियों की फर्जी डायरी पर दस्तखत करते। वे पार्टी के सेक्रेटरी थे और उनके ज्यादातर साथी सुबह नहा-धोकर, सूट पहनकर देर तक टहलने के लिए आ जाया करते थे, जिनकी डायरियों पर दस्तखत करना जरूरी था। कभी-कभी मैं उनको साइकिल पर किसी गांव की खबर लेने दौड़ा देती जहां से वह हमेशा लड़कर वापस आते।

कैसर मरकज के लिए दीवार अखबार, बच्चों का अखबार और पोस्टर वगैरह तैयार करते और बच्चों को समेटते। हरमेश और जब्बा वगैरह बहुत-से लड़के उनकी

32. हार।
33. संकोच रहित।

हिदायतों पर अमल और उनकी मदद करते और शम्स उन सब टुकड़ों को जोड़कर उन्हें व्यवस्थित रूप देते। वही डायरेक्टर थे। ये तमाम लड़के-लड़कियां, वालंटियर, चपरासी, विद्यार्थी मेहतर और सभी कुछ थे और मैं उन बच्चों की मां।

उन लड़कों ने शांति स्थापित करने में जो मेहनत की है उसका इकरार[34] कांग्रेस वाले हरगिज न करेंगे। मगर वे यहां थे ही कहां जो देखते । वे बिड़ला हाउस में, गवर्नमेंट हाउस में या प्रांतीय कांग्रेस के दफ्तर में होंगे। यहां गलियां और मुहल्लों में तो मैं उन्हें ढूंढती ही रही।

इधर सुभद्रा थी जो दीवानावार अमन कायम करने पर तुली हुई थी। दुबली-पतली-पीलीजर्द, कमजोर-सी लड़की मगर बला की सख्त जान, गांधीजी की शैदाई मगर अहिंसा को जिसका मन कबूल नहीं करता, दिन रात शहर की गलियों में सितंबर से फिर रही थी।

वह मुहल्लों से पुराने घाघ खींचकर लाई और उनसे शांति दल में काम लिया। न जाने उसकी शख्सीयत[35] में कैसी लचक थी कि लीगी और संघी दोनों उसके साथ हो गए। मुस्लिम मुहल्लों में वह उनकी ड्यूटी लगा देती और वे सारी रात खड़े पहरा देते, मगर चोरी-छिपे गड़बड़ भी करते।

वह[36] खूब समझती और उनकी जाहिरदारी[37] पर हंसती थी। उनका मजाक उड़ाती थी मगर काम ले लेती थी। इंसान कितना सत्ता प्रेमी और अवसरवादी होता है ? सिर्फ यह खयाल कि सुभद्रा की पहुंच बापू और प्रधान मंत्री तक है, बड़े-बड़ों को मैदान में ले आता था और यह अंदाजा कि सरकार का रुझान अब मुसलमानों को बचाने की तरफ है बहुतों को रास्ता बदल लेने पर मजबूर कर देता। वे कहते थे, भई, मौका-मस्लिहज समझो। इस समय सरकार की मदद करनी चाहिए। वे भी आ गए जो आज भी दिल से फिरकापरस्त थे और वे भी जो अपनी कमजोरी या कंजूसी की वजह से सितंबर में तटस्थ बने रहे थे।

और फिर गांधी जी का व्रत शुरू हो गया। किस कयामत का महीना था जनवरी ? उस एक महीने में क्या कुछ हो गया। वे तमाम ताकतें जो बदी के भारी दबाव से पिसकर रह गई थीं, वे भी जो शैतानी ताकत से हार मानकर नतमस्तक हो चुकी थीं और वे भी जो इस शिकंजे में जकड़ी हुई रिहाई के लिए तड़प रही थीं, बंधन तोड़कर निकल पड़ीं। शायद गिरी हुई इमारत का मलबा हटाकर इंसानियत उभर आई। अभी तक तो—

---

34. हरफन मौला।
35. स्वीकार।
36. व्यक्तित्व।
37. सुभद्रा प्रांतीय कांग्रेस कमिटी की सदस्य थीं। उन दिनों शहर में 'शांति दल' के नाम से बनाई हुई एक छोटी-सी संस्था शांति स्थापित करने की जीतोड़ कोशिश कर रही थीं।

तखरीब[38] ने परचम खोले थे, दम तोड़ रही थीं तामीरें[39] मगर अब तामीरी ताकतें इकट्ठी होनी शुरू हो गईं। सचाई ने सीनों में करवट ली। मुहब्बत तड़पकर बाहर निकली और शांति की देवी ने फसाद के भूत से अपनी गरदन छुड़ा ली।

व्रत के पहले ही दिन बिड़ला हाउस से बिजली की-सी एक लहर आई और सारे शहर में फैल गई। अभी थोड़े ही दिन इन घटनाओं को गुजरे हैं मगर लोग पूछते हैं : व्रत से क्या फायदा हुआ ? उससे क्या असर पड़ा ? जान भी गई।

मैं उन आंखों को कैसे कुछ दिखा सकती हूं जो देखना ही न चाहें ? लेकिन यह मेरी आंखों देखा हाल है कि बिड़ला हाउस से निकलकर हम जो शहर पहुंचे हैं तो अंदाज बदला हुआ था। लोगों की निगाहों में पछतावा था, गरदनें झुकी हुई थीं, आंखें नम थीं और हर जगह यही जिक्र था कि बापू ने व्रत रख लिया।

सबसे ज्यादा बुरी हालत कांग्रेसी भाइयों की थी। झूठी हमदर्दी ने उनके धर्म और नैतिकता की बुनियादें हिला दी थीं। बापू का पढ़ाया हुआ सबक कुछ दिनों से उन्होंने भुला रखा था। बदले की आग भड़काने वाले वे खुद भी थे और उन्हीं के पतन और ह्रास ने बापू को ज्यादा चोट पहुंचाई थी। वे तो उम्मीद करते थे कि एक दल जो उनका बनाया हुआ और पाला-पोसा हुआ है उसके कदम न डगमगाएंगे, वे पहाड़ की तरह अटल रहेंगे, वे बहते धारे में कूदकर इंसानियत को निकाल ले जाएंगे। उन्हीं ने इंसाफ, सचाई और मुहब्बत का गला घोंटा। उस किश्ती का नाखुदा[40] देख रहा था कि किश्ती में सूराख करने वाले सब लुटेरे, गुंडे और पागल ही नहीं, उसके अपने बच्चे भी हैं। और अब इस वक्त यह अहसास, फिक्र और अंतरात्मा का डंक उनको मारे डालता था कि कहीं बापू के हत्यारों में उनका नाम भी न लिख जाए।

मुर्दे कब्रों से निकल पड़े। सोई हुई आत्माएं और खोई हुई नेकियां जाग पड़ीं। हरेक ने अपना घर छोड़ दिया। प्रोग्राम तैयार हुए, स्कीमें बनीं और हर आदमी उठ खड़ा हुआ।

मैंने सुभद्रा के साथ गश्त का प्रोग्राम बनाया। व्रत का पहला दिन था, अभी-अभी प्रार्थना में शिरकत करके आ रही थी। दिल वैसे ही टूटा हुआ था। रास्ते में बातें हो रही थीं कि अब काम की स्थिति क्या हो, कौन-सा रास्ता अपनाएं ? सुभद्रा जीप चला रही थी। ज्यों ही हम ईदगाह से गुजरकर कस्साबपुरा के समाने वाली सड़क पर पहुंचे कि दूर ही से हमने देख लिया कि ट्रक रवाना हो गया और दूसरे पर सामान लद रहा है, औरतें और बच्चे सवार हो रहे हैं।

मैंने कहा, "सुभद्रा, मालूम होता है आज यह मुहल्ला भी उजड़ा।"

---

38. दिखावा।
39. नाश, विध्वंस।
40. निर्माण।

उन्होंने कहा, "हां, लगता तो ऐसा ही है। इनको रोकने की कोशिश करें न !"

"जरूर।" मैंने जवाब दिया। वैसे कैंप में तिल धरने की जगह नहीं। हजारों के काफिले देहातों से आ चुके हैं। अब इस मुहल्ले के तीन-चार हजार पहुंच गए तो और भी आफत आ जाएगी। आखिर कहां तक आदमी इसमें समाएंगे ?

ज़ीप रुकी। सुभद्रा को इस इलाके में कौन नहीं जानता ? उसे देखकर सभी करीब आ गए। हाल पूछा तो लोगों ने बताया, "सचमुच मुहल्ला खाली कर देने का इरादा है। एक ट्रक जा चुका है, दूसरा भरा जा रहा है।"

उन्होंने कहा, चार माह से हम अपने घरों में हर मुश्किल और मुसीबत का मुकाबला कर रहे हैं। मगर अब लाचार होकर निकले हैं। इन चार महीनों में सारी जमा-जथा हमने खत्म कर डाली, सब पूंजी खा डाली। अब कुछ भी नहीं रह गया तो मजबूरन पाकिस्तान जाने की सोची है। कारोबार बिल्कुल बंद है। अब कोई काम नहीं, धंधा नहीं, आमदनी नहीं तो जिंदगी कैसे कटेगी ?

आप तो जानती हैं हमारा रोजगार ही गाय-बकरियों का गोश्त और खाल बेचना है। अब गाय के शुब्हे में बकरी का गोश्त भी बेचने नहीं देते। दो-तीन आदमी मारे जा चुके हैं और उस सामने वाली गली से गुजरना शरणार्थियों ने दूभर कर दिया है। बिल्कुल मुहल्ले के अंदर कैद होकर रह गए हैं।

वे कह रहे थे और मैं सोच रही थी तो ये सब भी कैंप पहुंचेंगे। वहां चादरों की छत के नीचे रातें गुजार कर निमोनिया और बुखार में मुब्तिला[41] होंगे और इनमें से आधे तो यहीं मर जाएंगे, फिर ट्रेन पर सवार होने में कुछ कुचले जाएंगे। किसी के बच्चे छूट जाएंगे, किसी की बीवी, स्टेशन पर कुछ सामान पुलिस छीन लेगी, कुछ ये कैंप में बेचकर खाएंगे, कुछ पूर्वी-पंजाब से गुजरते हुए डाकू लूट लेंगे और फिर लाहौर पहुंचकर यही जाड़ा, यही दुख, यही पुलिस और गुंडे—जैसे नजर में सारे दृश्य फिर गए। ये तंदुरुस्त नौजवान, ये मुस्तैद औरतें, ये अपने मजहब में अटल विश्वास रखने वाले बूढ़े, ये सब तड़प-तड़पकर मौत को बुलाएंगे, दाने-दाने को तरसकर जान देंगे। अपने दुमंजिला मकानों को छोड़कर जाने वाले एक खेमा और एक कंबल के लिए भिखारियों की तरह घंटों हमारे पीछे लगेंगे। रास्ता निकलना मुश्किल कर देंगे और फिर लाचार होकर हम उन्हें दुत्कार देंगे।

हमने मुहब्बत और सच्चे दिल से उनसे अपील की, ऊंच-नीच समझाई और कहा कि आप सब घरों को वापस जाइए। मजलूमों[42] की मदद करने वाले बापू अभी मौजूद हैं। हम लोग बिड़ला हाउस से आ रहे हैं। बापू ने जान की बाजी लगा दी है। या दिल्ली में अमन कायम होगा या वे जान दे देंगे। अमन रखने में आप भी मदद दे सकते

---

41. मल्लाह।

42. घिर जाना।

हैं। इस तरह भाग-भाग कर खौफ और दहशत न फैलाइए। इतने बड़े मुहल्ले का उजड़ना देखकर दूसरी जगह आपाधापी मच जाएगी।

क्या बापू की जान आपको प्यारी नहीं ? हमारा मुंह इस काबिल रखिए कि हम उनसे कह सकें कि दिल्ली में अमन है। मुसलमान अब नहीं भाग रहे हैं, अपने घरों में इत्मीनान से बैठे हैं। आप तो बहादुर कौम से ताल्लुक रखते हैं, हिम्मत कायम रखिए और इन सब मुश्किलों का मुकाबला मर्दों की तरह कीजिए। बहुत जल्द हालत बदलने वाली है। हुकूमत हरगिज किसी को निकालना-मारना नहीं चाहती इसका यकीन कीजिए। बहादुर एक बार मरता है और कायर सौ बार।

हम दोनों ने वायदा किया कि उनकी हर मुश्किल का हल ढूंढेंगे और उनकी सुरक्षा और मदद का बंदोबस्त करेंगे।

उन्होंने फिर यह तर्क दिया कि पहला ट्रक जा चुका है। कहीं वे पाकिस्तान न चले जाएं, उनको आज ही वापस बुला दीजिए।

यह भी वायदा कर लेना पड़ा, हालांकि यह टेढ़ी खीर थी। मगर अल्लाह के भरोसे पर 'हां' कर ली और इत्मीनान दिला दिया कि अभी जाकर उनको ले आते हैं।

इस सारी कोशिश का असर यह हुआ कि लोगों ने अपनी पोटलियां, बक्से वगैरह सब उठा लिए और मुहल्ले में वापस चले गए। लेकिन मुहल्ले के बाहरी रुख जो क्वार्टर थे उनमें से निकल-निकलकर शरणार्थी यह सारा तमाशा देख रहे थे। ये क्वार्टर मुहल्ले को तीन तरफ से घेरे हुए थे और सब शरणार्थियों के कब्जे में थे। मुस्लिम आबादी सब मुहल्ले के अंदर थी।

पहले तो दूर ही से इशारे होते रहे। गुस्से से भरी हुई आवाजें आती रहीं। और यह देखकर कि आप लोग पोटलियां दबाए घरों को वापस जा रहे हैं वे लोग आपे से बाहर हो गए और गुस्से से बेकाबू होकर हमारी तरफ दौड़े। मैंने मौके की नजाकत को महसूस करते हुए सुभद्रा से कहा कि कहीं इन दोनों में फसाद न हो जाए। हमें सुरक्षा का इंतजाम अभी करना चाहिए। और मोटर अभी स्टार्ट भी न होने पाई थी, सुभद्रा ने स्टियरिंग पर हाथ रखा ही था कि हम लोग घिर गए। बिफरी हुई भीड़ हमारी इर्द-गिर्द थी और हम हैरान-परेशान की इस जनसमूह को कैसे समझाएं ? मगर खुदा ही ने हवास दुरुस्त और हिम्मत कायम रखी। सुभद्रा तो न जाने कितने खतरों में फंस चुकी थी। बापू की शिक्षा और प्रशिक्षण का गौरव भी उसे प्राप्त था इसलिए खूब मंजी-मंजाई थी। लेकिन मेरे लिए पहला अवसर था। हम दोनों उनको समझाने की कोशिश कर रहे थे। सुभद्रा पंजाबी में और मैं हिंदुस्तानी में। हमने कहा :

"यह जो कुछ हुआ है उसे तुम दुश्मनी न समझो। अपने दुख से दूसरे के दुख का अंदाजा करो।"

हमने उनको यह भी बताया कि आज से गांधीजी ने आमरण व्रत रख लिया

है, ऐसा न करो कि वह अपनी जान ही दे दें। शांति कायम करने के लिए जरूरी है कि तुम्हें भी घर मिले और घर वाले भी बेघर न हों।

मगर वे बुरी तरह चीख रहे थे। औरतें गालियां दे रही थीं।। मर्द बिफरे हुए हमारी तरफ आते और फिर अपने दल में मिल जाते। वे कहते :

"मरने दो उस बुड्ढे को। हमारे इतने आदमी नहीं मारे गए ? एक वह मर जाएगा तो क्या हो जाएगा ? मर जाने दो उसको। उसने हमारे लिए तो कुछ किया नहीं।"

सुभद्रा को जवाहरलाल की बेटी समझकर उन्होंने पंडितजी के लिए कोसनों की बौछार कर दी। चंद आदमी मुझसे पूछने लगे, तुम कौन हो हमें बताओ।

मैंने कहा, "सिर्फ एक वर्कर या वालंटियर।"

कहने लगे, "नहीं, नाम बताओ।"

और जब मैंने कहा मिसेज शफी तो हैरत के साथ मोटर में सिर डाल दिया। "क्या तुम मसुलमान हो ?"

मुझे हंसी आ गई। इकरार करते ही मुझ पर बरस पड़े। तुम्हारे पाकिस्तान वालों ने हमारे घर उजाड़े, बच्चे मारे, औरतें बेइज्जत कीं, तुमने यह किया। उन्हें 'मुसलमान' का घृणित शब्द सुनते ही अपनी सारी मुसीबतें याद आ गईं।

मैंने फिर समझाने की कोशिश की और कहा, साहब पाकिस्तान वाले तो आपके थे, मेरे कहां से हो गए ? वे आपके पड़ोसी थे, आपके दोस्त थे, सदियों के साथी। यहां हमने कुछ आपके साथ किया हो तो इलजाम दीजिए। यहां के हिंदू-मुसलमान किसी ने आपको सताया है तो उनका बदला आप हमसे लीजिए। यह कहां का इंसाफ है ? हमें जरा-सा मौका तो दीजिए। आप तो मार-काट मचाते रहते हैं, कुछ करने तो देते नहीं।

मगर वहां कौन सुनता था ? बदस्तूर चीख-पुकार होती रही। ताज्जुब है उन्होंने छुरे-कृपाणें क्यों नहीं निकालीं। हालत नाजुक थी और उस समय शांति और शिष्टाचार सबसे ज्यादा जरूरी था। एक बिफरे हुए सरदार जी कभी औरतों को तेज करते कभी मर्दों को। मगर दूसरे सरदारजी कुछ फासले पर खड़े सिर्फ तमाशा देख रहे थे। सूरत और हुलिए से पढ़े-लिखे मालूम होते थे। सुभद्रा ने चालाकी से काम लिया और उनसे कहा, सरदारजी आप बहुत समझदार आदमी मालूम होते हैं। ये लोग तो समझ ही नहीं रहे, जरा मेरी बात सुनिए। वे करीब आए और मैंने उनको बताया कि देखिए, इन लोगों को समझाइए, कितनी बेवकूफी की बात कर रहे हैं। इस मुहल्ले के लोग उजड़ते तो इनका भी यही हाल होता जो आपका हो रहा है और क्या यह सूरत ज्यादा बेहतर न होगी कि आप एक दूसरे के भाई बनकर रहें, दुख-सुख के साथी बन जाएं ? हिंदुस्तान तो बहुत बड़ा देश है इसमें हम और आप दोनों बड़ी आसानी के साथ समा सकते हैं, सुख-चैन से रह सकते हैं। आज ही से बापू ने व्रत शुरू किया है। सिर्फ मुसलमानों के लिए नहीं, यह गलतफहमी है, बल्कि इसलिए कि आदमी आदमी बन

कर रहें, फिर पहले की तरह भले दिन लौट आएं। जो पाप हिंदू और मुसलमानों ने किए हैं, वे तो बड़े ही शर्मनाक हैं। क्या आपको वे पसंद हैं ? क्या आप चाहतें हैं फिर वही हो ? मगर ये बेचारे जाहिल लोग नहीं समझते, इनको आप बताइए।

सरदारजी खुश हो गए और उलटे अपने साथियों को डांटने लगे। कुछ नौजवान लड़के-लड़कियां भी मुझसे बात करने लगे।

और जब हमने उनसे कहा कि हम तो तुम्हारे जैसे बच्चों की तलाश में हैं ताकि तुमसे मुहब्बत, शांति और नए हिंदुस्तान की नई दुनिया बनाने में मदद लें, तुम अगली नस्ल के नुमाइंदे हो आओ, हमारी मदद करो, तो वे भी बोल उठे कि हम तो खुद ही कुछ करना चाहते हैं। हमको मौका कब दिया जाता है ?

मैंने खुशदिली से कहा कि कल तुम्हारे क्वार्टर में मैं आऊंगी और अकेली आऊंगी। तुम्हारा जी चाहेगा तो मुझे मार डालना। लेकिन मैं यह साबित करने के लिए आऊंगी कि तुमको न दुश्मन समझती हूं न पराया। यह सुनकर एक लड़की मेरे गले से लिपट गई। नहीं माताजी, आप जरूर आइए। भला हम आपको मारेंगे ? आप मेरे घर आइएगा। यह देखिए सामने हमारा क्वार्टर है।

उधर सुभद्रा औरतों से निपट रही थी। वे उसकी साड़ी पकड़कर खींचतीं और किसी तरह मोटर स्टार्ट न करने देती थीं। बहुत कुछ उसने समझाया, दिलासा दिया और सरदार जी के समझाने से जरा सामने की सड़क खाली हुई मैंने टहोका दिया और सुभद्रा ने मोटर हवा कर दी।

लेकिन अभी एक काम तो बाकी था : मुहल्ले की सुरक्षा और दोनों पार्टियों के टकराव को रोकने के लिए वे बंदूकची लाए थे।

ये बंदूकची स्पेशल पुलिस के आदमी थे जिनको कांग्रेस और जमीअत की कोशिशों से मुहल्लों की हिफाजत के लिए बंदूकें मिल गई थीं। चंद जिम्मेदार लोग बहैसियत स्पेशल मजिस्ट्रेट के उनकी निगरानी करते थे। बहरहाल दूसरे मुहल्ले से दो आदमी लाकर हमने क्वार्टरों से कुछ परे ही छोड़ दिए और चंद मिनट रुके बिना मकबरे की तरफ रवाना हो गए।

---

43. जिन पर अत्याचार किया गया।

7. अमल-रद्द-ए-अमल[1]

मकबरे का कैंप उन दिनों हमेशा से ज्यादा भरा हुआ था। मैंने जाना कम कर दिया था। दूसरे-तीसरे दिन खैरियत मालूम करने चली जाया करती थी और दो-एक काम कर आती थी। रोजाना की हाजरी शुरू जनवरी से बंद थी। उस सारे महीने हम सबकी यह कोशिश रही कि किसी तरह उजड़े हुए मुहल्ले और गांव फिर बस जाएं। पंजाबी शरणार्थी गांव में रहना नहीं चाहते, यह तो बाद को मालूम हुआ, मगर अधिकारियों ने गांव इसीलिए खाली कराए थे कि उनको बसाया जाए। और अब वे उजड़े पड़े थे। अवाम की खुद भी मर्जी वापस जाने की न थी। हम अधिकारियों से बातचीत करते और लोग बिगड़ जाते। लोगों को समझाते और राजी कर लेते तो अफसर आड़े आ जाते। ये नाकामियां कभी-कभी ऐसी हिम्मत तोड़ देती थीं कि हममें से बहुतों का जी चाहता था सब कुछ छोड़-छाड़कर घर बैठे रहें। और मैं शायद बैठ भी रहती अगर बापू के बोल कानों में न गूंजते होते और दुबली-पतली सुभद्रा की दीवानगी मददगार न होती। मेरी ही क्या उसे देखकर बहुत सारे साथियों की हिम्मत बंध जाती थी।

हम अब भी हफ्ते में दो तीन बार जरूर जाते थे और एक दिन जो जाकर देखा तो नए आने वाले[2] अपनी पोटलियां संभाले खुले आसमान के नीचे बैठे थे। हमने उनसे सारा वाकिआ बयान किया और कहा कि वे सब तुम्हारा इंतजार कर रहे हैं, वापस जाओ। कुछ लोगों को पसोपेश हुआ, कुछ डरे हुए थे। कैंप में खामोशी और बेचैनी फैली हुई थी। बहुत से लोग मेरे पास आए और बापू के बारे में सवाल किया और यह सुनकर कि जब तक अमन न हो जाएगा वह व्रत न तोड़ेंगे, इसी कोशिश में जान दे देंगे, लोगों की आंखें नम हो गईं।

उन्होंने कहा जब वह इतना कुछ कर रहे हैं तो हम भी घर वापस जाते हैं, जो नतीजा हो। बहुतों ने अपना थोड़ा-बहुत सामान जो उनके पास था संभाला और चल पड़े। कुछ लारी और तांगों का इंतजार करने लगे। कस्साबपुरा वाले एक-दो को छोड़कर तकरीबन सब-के-सब वापस चले गए।

---

1. क्रिया-प्रतिक्रिया।
2. कस्साबपुरा से आने वाले।

एक मुस्लिम लीगी हकीम साहब मुझसे उलझ पड़े कि वापस जाने के लिए तो कहती हो और हुकूमत जो पुलिस और फौज के जरिए हमारा कत्लेआम कराती है उसको रोने वाला कोई नहीं। इस हिंदुस्तान का बेड़ा ग़र्क होगा, देख लेना। हिंदू राज में किसी मुसलमान की गुजर कहां ? जिसका जी चाहे हिंदू बनकर रहे। हम यां नहीं रहने के। उनसे बहुत कड़वी बातें भी हुई। हकीम साहब ने लंबा भाषण देकर बहुतों को अपनी तरफ कर लिया।

लेकिन वापसी का सिलसिला शुरू हो गया, हालांकि उस दिन भी दिल्ली में तीन कत्ल हुए। चार-छह आदमी अब तक रोजाना 'बहादुरों की तलवार' का निशाना बना करते थे और आज से कई दिन पहले एक वाकिआ और भी पेश आ चुका था। कुछ लोग तांगे पर कैंप से घर वापस जा रहे थे। रास्ते में सिखों की एक टोली ने दो फर्लांग परे उन पर हमला कर दिया, माल-असबाब छीन लिया और घोड़ा भागता हुआ जख्मियों को लेकर फिर कैंप वापस आया। तांगेवाला और मुसाफिर सभी खून में लथपथ थे। इस घटना ने और भी सबको डरा दिया था। उधर उसी रोज गुजरात[3] की ट्रेन की दिल हिला देने वाली घटना लोगों को मालूम हुई थी और सबको यह यकीन था कि अब जो ट्रेन पनाहगुजीनों को लेकर जाएगी वह सही-सलामत पाकिस्तान पहुंच नहीं सकती।

अजब हालत थी, न जाने का रास्ता था और न ही रहने की जगह। लोगों पर मायूसी और आतंक छाया हुआ था, उस पर बापू का व्रत। उनके दिल हिल गए और बहुतों ने 'मरता क्या न करता', घर जाना बेहतर समझा।

यह असलियत थी कि किसी मुहल्ले या गांव में पुलिस की ड्यूटी लग जाने के मायने यह थे कि सारा इलाका वीरान हो जाए। उन दिनों कत्ल करने वाले के बजाए कत्ल होने वाले के रिश्तेदार गिरफ्तार होते थे और मुजरिम के बजाए रिपोर्ट करने वाला पकड़ा जाता था। यह न समझिए कि सारा प्रशासन ठप्प था। नहीं, सजग अधिकारी हर वक्त चौकन्ने और मुस्तैद रहते थे और यह अराजकता सिर्फ मुसलमानों के लिए ही न थी बल्कि खुद कांग्रेस सरकार और कांग्रेस के जन्मदाता के खिलाफ मोर्चा कायम करने में सारी सजगता काम आ जाती थी, जिसका जिक्र मैं आगे चलकर करूंगी।

बहरहाल मैंने लोगों से अपील की कि अगर तुमने घर जाकर पनाहगुजीन भाइयों से भाईचारा कायम करके अमन कायम कर लिया तो बापू को बचा लोगे। वे देश की सबसे बड़ी दौलत और हम सबका सहारा हैं। इस अपील का उन पर ऐसा असर हुआ कि कुछ पैदल ही चल पड़े।

प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के लोग भी आए और तमाम दूसरे कार्यकर्त्ता भी। और

---

3. पाकिस्तानी पंजाब से आने वाली ट्रेन को गुजरात में रोक कर तकरीबन सारे मुसाफिर जो हिंदू थे, कत्ल कर दिए थे।

कैंप के अंदर लाउड स्पीकर लगी हुई गाड़ी गश्त करने लगी। वक्ता हर तरह उनको इत्मीनान दिला रहे थे और अफसर परेशान थे कि इतनी मुश्किलों से तो उन्होंने दिल्ली प्रांत को 'मुसल्लों' से साफ कराया था और शहर का अब सिर्फ एक टुकड़ा साफ करना बाकी रह गया था कि गांधी जी ने यह आफत मचा दी। पुराने मुस्लिम लीगी जो कैंप में थे अलग हक्का-बक्का रह गए। वे तो साबित कर देना चाहते थे कि हिंदुस्तान नस्लकुशी[4] कर रहा है। हिंदू राज का ख्वाब पूरा करना चाहता है। यह जम्हूरी[5] हुकूमत ढोंग है। देख लो, खास राजधानी में एक मुसलमान का वंश बाकी नहीं है। मगर अफसोस ! वे यह न कह सके !

और दूसरे दिन सुभद्रा ने तांगे, रेड़ियां और लारियां इकट्ठी कीं। मुहल्लों के सैकड़ों बच्चे उसमें सवार कर दिए गए। कैसर बदस्तूर उनके बड़े अफसर थे। बच्चों की जबान पर नारा था 'बापू को बचाओ', 'हिंदू-मुस्लिम भाई-भाई', 'हिंदू-मुसलमानो एक हो जाओ'। बच्चों ने शहर के एक-एक कोने में बापू का पैगाम पहुंचाया। हर जगह अपने गीतों और शेरों से सोने वालों को झिंझोड़ा और लोग जाग उठे, चौंक पड़े।

बच्चों का यह कारनामा याद रखने के काबिल है। दिल्ली की सरजमीन पर जब शांति, मुहब्बत और सचाई का वजूद बाकी नहीं रह गया तो बापू ने जिंदगी की बिसात पर जान की बाजी लगाई और कुदरत मासूम बच्चों की शक्ल में उनकी मदद के लिए दौड़ पड़ी। उस दिन तो ऐसा लगता था जमीन-आसमान से बच्चे निकल पड़े हैं। हजारों बच्चे चीखते-चिल्लाते सड़कों और गलियों में बापू को नहीं इंसान और इंसानियत को कायम रखने के लिए शैतानी ताकतों को चैलेंज कर रहे थे। मासूमियत, जो अनादिकाल से चली आई है नेकी को बना रही थी, सचाई को ढूंढ रही थी और नूर की किरणें अंधेरे के परदे को चाक करने के लिए निकल पड़ी थीं।

और मैं जुलूस के पीछे खड़ी हुई सोच रही थी कि इस मासूमियत को भी तो नफरत ने इन दिनों तबाह करने की कोशिश की थी, यह बची कैसे ? यह आई कहां से ?

तीन दिन के अंदर दिल्ली के जमीन-आसमान बदल गए। दूसरे दिन से फिर कोई कत्ल भी नहीं हुआ। किसी को कोई छुरा भी न घोंपा गया। कोई जख्मी अपना सामान लेकर मकबरे को भी न भागा।

और फिर चौथे दिन[6] औरतों—मां, बहनों और बेटियों—का जुलूस निकला। मां की ममता, बहनों की मुहब्बत और बीवी की इज्जत अमन और शांति की भीख आदमीयत के तथाकथित दावेदारों से मांगने निकली। जामा मस्जिद से होता हुआ चांदनी

4. पूरी पीढ़ी का आमूल नष्ट कर देना।

5. लोकतंत्र।

6. इस जुलूस की कामयाबी का सेहरा हकीम खलीलुर्रहमान 'नार' के सिर था। मुसलमान बुर्कापोश औरतों को उनकी अक्लमंदी और दिलेरी ने सहारा दिया था।

चौक और लाल कुएं से भी जुलूस गुजरा। उसमें बुर्के भी थे, साड़ियां और पंजाबी शलवारें भी। ये बुर्के उन रास्तों से भी गुजरे जहां दिन-दहाड़े इंसानियत का खून बहा था, इस्मतें लुटी थीं, मासूमियत का गला घोंटा गया था। मगर आज सुकून था। दिलों में ठंडक थी। लोगों की नजर में नफरत की बजाए तारीफ और इज्जत झांक रही थी। लफ्जों में शराफत और सचाई की महक थी। कालेजों की तमाम लड़कियां, स्कूल की छोटी बच्चियों का दल और बड़ी उम्र की औरतें सब मिलाकर दस हजार औरतों की बहुत लंबी कतार गुजरती रही।

हालांकि अब भी एक लारी तेज-तेज चलती हुई बिड़ला हाउस तक जाया करती थी और उसका नाम था :

"मुल्ला गांधी मुर्दाबाद, मुहम्मद गांधी मुर्दाबाद।"

और आज व्रत के तीसरे दिन दिल्ली क्लाथ मिल के मजदूरों को एक जगह खड़ी हुई मिल गई। उन्होंने सबको पकड़कर खूब मरम्मत की। उसके बाद फिर लारी निकलती जरूर थी मगर रुकती कहीं न थी। तेज-तेज चलती हुई मशहूर सड़कों से गुजरकर बिड़ला हाउस तक जाकर गायब हो जाती।

मैं भी एक दिन लाल कुएं से गुजर रही थी कि चौराहे पर उसे ठहरा हुआ देखा। उस वक्त कोई साहब उस पर खड़े हुए भाषण दे रहे थे और नारे लग रहे थे :

'मुसलमानों को निकालो,' 'खून का बदला खून', 'गांधी को मरने दो।'

लेकिन व्रत के पांचवें दिन किसमें ताकत थी कि ऐसा नारा लगा सके ? एक लाख सरकारी कर्मचारियों के दस्तखतों से अर्जी बापू के सामने पेश हुई। सरकारी अफसरों ने वादे किए। पुलिस ने शपथ ली। ये सारी खबरें हम शहर में सुनते थे। बिड़ला हाउस जाने की हिम्मत न होती थी। मैं तो एक दिन प्रार्थना सभा में गई थी, बापू की कमजोर आवाज ने कुछ कहा भी लेकिन कुछ याद नहीं। सिर्फ एक धुन सवार थी, एक लगन दिल में लगी हुई थी और यही हाल सबका था, बल्कि इससे कहीं ज्यादा।

एक रोज बापू से मिली थी। चेहरा नीला हो रहा था। क्या पता व्रत का असर था या अंदरूनी दुख का ? फिर ठीक उस वक्त कि हम सब व्यस्त थे, पांच दिन की हमाहमी[7] ने कांग्रेसियों को तकरीबन अधमरा कर दिया था और वालंटियरों के चेहरे सूखकर लटक आए थे कि यह सुखद समाचार मिला, 'बापू व्रत तोड़ रहे हैं।' आदमियों का सैलाब बिड़ला हाउस की तरफ चल पड़ा।

दूसरे दिन से काम और भी बढ़ गया। अब तो जो वायदा किया गया था उसको पूरा करना था। अगरचे काम का कोई प्रोग्राम मुकम्मल न था, जिसका जी चाहता करता, मगर बुनियादी मकसद अमन कायम करना था—पायदार, मजबूत अमन। कांग्रेसी की पिछली गलतियों का तोड़ करने के लिए जान दिए दे रहे थे। जी तोड़कर

---

7. भाग दौड़।

अमन की कोशिश शुरू कर दी। और सोशलिस्ट, वे तो सितंबर से अब तक करते आए थे। पुलिस अफसर भी जरा ढीले पड़े थे। पहले तो हमारे लड़के रिपोर्ट करने जाते, कोई बात नहीं करता था। मुहल्ले के मुसलमान पुलिस स्टेशन से दुतकार कर निकाल दिए जाते थे, मगर अब ऐसा नहीं होता था।

कोई मेज के किनारे बैठकर, कोई गलियों में फिर कर, कोई शहर में घूमकर दिन गुजारता। मगर अमनपसंदों की टोली अब भी छोटी थी। कुछ ऐसे भी थे जो यह समझते थे कि व्रत टूटते ही उनका फर्ज अदा हो गया था। वे बजाहिर सीधे बने रहे लेकिन दर परदा वे अपनी हरकतों को दुहराने का मंसूबा बांधने लगे।

मैं पहले कह चुकी हूं कि सोशल सर्विस करने वाले लड़के-लड़कियों ने शरणार्थियों के लिए आठ स्कूल शहर के अलग-अलग हिस्सों में खोल रखे थे। ये आरजी[8] स्कूल थे और उनकी क्लासें अक्सर खुले आसमान के नीचे भी हुआ करती थीं। व्रत शुरू होने के बाद और ज्यादा इसकी जरूरत महसूस हुई और तीसरे या चौथे दिन बच्चों को बुला लिया गया।

मकान की थोड़ी सफाई हुई। जमीन के गड्ढे पाटे गए और कमरों का सुधार हुआ। मुकर्रर वक्त पर चार सौ से ज्यादा बच्चे मरकज-ए-तालीम-ओ-तरक्की, बाड़ा हिंदूराव के मातहत[9] रहमानिया स्कूल में जमा हो गए। सहन में कई फूट ऊंचा तिरंगा झंडा लगाया गया और उस झंडे को फहराने के लिए डॉ. जाकिर हुसैन को भी बुलाया गया। बच्चे खुश-खुर्रम[10], उछलते-कूदते फिर रहे थे। उनकी तस्वीरें ली गईं, फिर फल खाए गए, गीत हुए और सावित्री बहन ने अपने प्यारे-से भाषण में अपनी खुशी का इजहार[11] किया। आखिर में डॉ. जाकिर हुसैन ने बच्चों की अकल और समझ के मुताबिक हालात-ए-हाजिरा[12] और उससे पैदा होने वाले नतीजों का जिक्र किया। बच्चों ने गले मिलकर दोस्ती के इरादे बांधे।

उस दिन वे तमाम अमनपंसद नौजवान, प्रेम का पाठ पढ़ाने वाली लड़कियां और नए हिंदुस्तान के नए निर्माता इकट्ठे हुए, जो उन स्कूलों को चला रहे थे। समारोह बड़ा शानदार था। हर शख्स इस नए प्रयोग से खुश था और मरकज की जिंदगी का उसी दिन से नया दौर शुरू हुआ।

मैंने बापू को भी यह दिल खुश करने वाली खबर सुनाई और इस उम्मीद पर उनका चेहरा देखा कि मेरी तरह वह भी इसे एक अच्छा शगुन समझेंगे। मगर कौम की नब्ज पहचानने वाला इस अचानक तब्दीली को खूब समझता था। उन्होंने कहा

---

8. अस्थायी।
9. आधीन।
10. प्रसन्न।
11. व्यक्त।
12. वर्तमान स्थिति

न बुरा सिर्फ 'हूं-हूं', जैसे वे मुतमइन न थे। वे तो सुबह के पुजारी थे और अभी तो गहरी काली रात थी।

उन दिनों बाड़े का कांग्रेस आफिस भी लोगों के आकर्षण का केंद्र था। अगरचे उस समय उसमें बहुमत सोशलिस्टों का था और अनथक मेहनत करने वालों का दल उसमें इकट्ठा था, मगर जल्दी सोशलिस्ट उससे अलग हो गए और तब जो इंचार्ज हुए वे बेचारे नेक, सुलहपसंद पालिसी के कायल झगड़े के दिनों में संघ की मीटिंग की अध्यक्षता भी उन्होंने कर ली और अब शांति प्रचार भी किया करते थे। कांग्रेस ऐसे सुलहपसंदों से उन दिनों भरी पड़ी थी। सोशलिस्ट खुल्लमखुल्ला यही इलजाम लगा रहे थे। लेनिक मेरा इस झगड़े से क्या वास्ता ? उनमें से सुलझे हुए लोग अब हमारे मददगार थे। शायद जनवरी में मुझे चंद नौजवानों से मिलाया था जो शहर के सबसे ज्यादा खतरनाक इलाकों में गलियों के अंदर मजलूमों की इमदाद और अमन की बहाली का काम करते थे। यह छोटी-सी पार्टी शहीद भगतसिंह के बचे-खुचे साथियों, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और सेवादल के वालंटियरों से मिलकर बनी थी। उनका हर सदस्य सितंबर से अब तक जान हथेली पर धरे मुसीबत में फंसे लोगों की इमदाद कर रहा था। ताज्जुब तो यह है कि उनमें बेशतर सदस्य वे थे जिनकी तोड़फोड़ की गतिविधियों को कांग्रेस निंदनीय ठहरा चुकी थी। उनमें ऐसे लोग थे जिनको कांग्रेसी, गुंडों से ज्यादा अहमियत न देते थे। और देश पर मुसीबत पड़ी तो कांग्रेसियों से ज्यादा काम उन्होंने किया। उनमें अच्छे लिखने वाले और नए साहित्यकार भी थे। उन्होंने फिरकापरस्तों[13] के खिलाफ कलमी जेहाद[14] शुरू कर दिया। इस तरह तन, मन, धन से यह दल हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों जगह अपनी गतिविधियां जारी रख रहा था। मैं उनसे मिली तो हैरत यह हुई कि ये लोग आज भी मजबूती से अपने नजरियों पर जमे हुए थे। उनके दिल और दिमाग साफ थे और उस वक्त जबकि हमारी आंखों के नीचे अंधेरा था और भविष्य की कोई रूपरेखा हमारे दिमाग में बाकी न रह गई थी उनके यहां पूरी स्कीम और बेजोड़ संकल्प और इरादा मौजूद था।

जनवरी में एक दिन सुभद्रा से मिलने गई तो मालूम हुआ किसी लायब्रेरी[15] का उद्घाटन कर रही है। सुनकर जी खुश हो गया कि शुक्र है कहीं से इल्म और अक्ल की आवाज तो आई। बिन बुलाए मैं भी पहुंच गई। उस वक्त जलसे की सदारत सैयद मुत्तलवी[16] (फरीदाबादी) कर रहे थे। उन्होंने इसरार किया कि आप भी चंद लफ्ज कह

---

13. सांप्रदायिकता समर्थक।
14. कलम की लड़ाई।
15. पुलबंगश पर एक छोटी-सी लायब्रेरी खोली गई थी।
16. सैयद मुत्तलवी फरीदाबाद के रहने वाले थे और खड़ी बोली के, जो अब भी दिल्ली के देहातों में बोली जाती है, मशहूर शायर थे। बंटवारे से पहले उनके गीत और उनके बेटे अबू तमय्यम फरीदाबादी का बच्चों का लिटरेचर बहुत लोकप्रिय था। फसादों में फरीदाबाद खत्म हुआ और उसके साथ इस

दीजिए। मैंने वहुत कहा कि मुझे भाषण देना नहीं आता, मगर न माने। जिंदगी में पहला अवसर इतने मर्दों में बोलने का था। दिल इतनी जोर से धड़कने लगा कि अपनी आवाज मैं न सुन सकी थी। लश्टम-पश्टम चंद टूटे-फूटे असंबद्ध से वाक्य कहकर बैठ गई। यह सच था कि सारे शहर में सिर्फ यह इलाका 'शांतिदल' की कोशिशों से ऐसा था कि जहां शरणार्थी और स्थानीय हिंदू-मुसलमान पहलू-व-पहलू[17] बैठे हुए थे।

जलसा खत्म हो गया मगर मुझे बड़ी शर्म आई। सुभद्रा, देखो कैसा अच्छा बोलती है ! जैसे रुक-रुककर बात करती है वैसे ही भाषण देती है, लेकिन कैसे पते की बात कह जाती है। एक मैं हूं बूढ़ी घोड़ी किसी काम की भी तो नहीं। दो जुमले[18] भी गत से कह न पाई और फिर मैंने अपनी बेचैनी मिटाने की कोशिश शुरू कर दी।

जिन दिनों मैं लोगों से शहर और गांव वापस जाने के लिए कह रही थी, जैतपुर का नंबरदार एक दिन मुझसे मिलने आया। आदमी सुलझा हुआ, संजीदा और समझदार था। अपने सैकड़ों साथियों समेत उस वक्त वह भी कैंप में ठहरा हुआ था। हमसे बातचीत करते हुए उसने कहा :

"अगर हमारी तरफ से कोई बात हुई हो तो आप हमें इलजाम दें। इस वक्त भी आप मदनपुर के जैलदार त्रिखाराम से मेरी बाबत जाकर पूछ लीजिए। हम और वह एक दूसरे के दुख-दर्द के साथी और सदियों के पड़ोसी हैं। लेकिन ऐसी दांतकाटी दोस्ती होते हुए भी किसी ने मौके पर हमारा साथ न दिया। अगर कोई यह कहे कि हमारे खयालात खराब थे तो झूठ है। हमारे इलाके से वोट कांग्रेस के सिवा कोई पार्टी आज तक नहीं ले जा सकी है। पिछले इलेक्शन में हम सबने एक होकर कांग्रेस का साथ दिया। वही नेता जो अब हुकूमत की गद्दी पर हैं, हम उनके लिए जान निछावर करने के लिए तैयार रहते थे और अब यहां इतने दिन से कैंप में पड़े हैं तो कोई पूछने वाला नहीं। जब वोट लेना था तब हमारी पूछ थी।

"जरा पंडित जी महाराज[19] से मौका मिले तो कहिए कि और कुछ न सही एक दफा हमें अपने दर्शन तो करा ही दें।"

वह एक बार बुलंदशहर हो आया था और बहुत खुश था कि यू.पी में अमन-चैन है। वहां की हुकूमत ने बड़ा अच्छा इंतजाम कर रखा है। ससुराल वाले कहते हैं यहीं आकर बस जाओ। मगर जब जैतपुर छूट गया तो यू.पी. क्यों जाऊं ? अब तो पाकिस्तान ही जाना होगा।

दूसरे दिन मैं अपने दो साथियों समेत मदनपुर गई। हमारी दूसरी साथी बापू

→ खानदान के बेशतर लोग जो बहुत पक्के नेशनलिस्ट मुसलमान थे सब कुछ खोकर भी गांधी जी के शहीद होने तक हिंदुस्तान में डटे रहे। आखिरकार न चाहते हुए भी पाकिस्तान चले गए।

17. साथ-साथ।

18. वाक्य।

19 जवाहरलालजी।

की चेली थी और तीसरे एक वर्कर थे जो सूरत से न शिआ लगते थे, न सुन्नी। कोई उनको कम्युनिस्ट समझता था और कोई बिगड़ा हुआ मुल्ला। जबान खालिस दिल्ली की बोलते थे और हुलिया मद्रासी था। बहुत कम बात करते थे और मुस्कराते हर वक्त थे। उसी मुस्कराहट ने दोस्तों को गलतफहमी में डाल दिया था कि बहुत खुश मिजाज हैं। लेकिन उनके साथियों का खयाल था कि उनमें बुद्धिमत्ता की कमी है। अक्सर नाराज हो जाते थे और हफ्तों नाराज रहते थे।

जैलदार बड़ी शिष्टता से पेश आया। दूध-पानी से आवभगत की। और फिर हमारा नाम-पता और आने का मकसद पूछने लगा।

मैं बोलना चाहती ही थी कि हमारे साथी ने तीखे होकर बिल्कुल इस अंदाज से एक सांस में तीनों नाम दोहरा दिए जैसे कह रहे हों, ''यह नाम है, मुसलमान हैं, कर लो जो तुम्हारा जी चाहे।'' और फिर विजेता के-से अंदाज से मेरी तरफ देखा। मुझे उस फुर्ती पर अचानक हंसी आ गई। जैलदार भी कुछ न समझा, लापरवाही जाहिर करने लगा, ''खैर जो हो, हमें तो खुशी है कि आप लोग तशरीफ लाए।''

उसने कहा :

''साहब, जैतपुर वाले हमारी जाति, हमारी गोत, अपने भाई हैं। तुम जानो गांव के लोग अनपढ़, मूरख तो होते ही हैं। हम क्या जानें सरकार क्या करती है, क्या चाहती है ? पिछले दिनों जब सरकार ने ऐलान कर दिया कि कोई मुसलमान हिंदुस्तान में नहीं रहेगा तो हमने जैतपुर वालों से कहा कि भाइयो, सुनो। तुम सब हिंदू बन जाओ, हमारा-तुम्हारा साथ न छूटे। हमारा जी नहीं चाहता कि तुम देश छोड़ो। अब तो यह बात हो ही गई है कि पाकिस्तान में मुसलमान रहेंगे, हिंदुस्तान में हिंदू। इसलिए मजबूरी है। मगर एहसान[20] ने कहा, नहीं ''हम हिंदू तो न बनेंगे चाहे जान चली जाए, हमें जाने दो, जो तकदीर में बदा हो। हमलोग बाग तक उन सबको विदा करने गए और जब छूटे हैं तो हमारी आंखों में भी आंसू थे और एहसान के भी। अब जब आप कहती हैं कि ऐसा हुक्म गवर्नमेंट का नहीं है, तो महात्माजी जैसा कहें करने को तैयार हैं। हम अपनी बैलगाड़ियां लेकर चलेंगे और उनको बाल-बच्चों समेत ले आएंगे।''

लेकिन यही बात जब हमने एहसान से आकर कही तो उसे एतबार न आया। उसने रंजीदा होकर कहा, ''अरे हम पर जो कुछ बीती है वह आप क्या जानें ? अब भला पलटकर जाएंगे ?''

मैं देख रही थी वह पसोपेश[21] में है। उसका जी चाहता था साथियों समेत वापस जाए। मगर कौन-सा खौफ था जो उसके कदम उठने न देता था, उस वक्त तो हमारी

---

20. एहसान जैतपुर का जमींदार, बल्कि नंबरदार था। मदनपुर और जैतपुर में सिर्फ आध मील का फासला था। मसला शायद 'शुद्ध' होने का था, जिसे उसने बरदाश्त न किया।

21. ऊहापोह।

समझ में न आया। शायद सिर्फ बेएतबारी और बदगुमानी[22] हो, या मजहब तब्दील करने का डर। कुछ ही दिन बाद मैंने उस इज्जतदार जमींदार को कैंप कमांडर की खुशामद करते देखा कि उसकी बीवी को दो घंटे के लिए निजामुद्दीन तक जाने की इजाजत मिल जाए ताकि वह अपना सिर धोकर नहा सके। एक महीना हो चुका है। उसकी गैरत गवारा नहीं करती कि वह खुले नल पर नहाए-धोए, और इजाजत न मिली। अब वह कैंप की जिंदगी से तंग आ चुका था। उसे बहुत से साथी यू. पी. वगैरह के हिस्सों में बिखर चुके थे और वह खुद सोच रहा था खेती-बाड़ी का सामान बेच देने के बाद अगर वह गांव वापस जाता है तो छह महीने उसे फिर से जमने में लगेंगे। पाकिस्तान जाकर क्यों न देख ले।

उन लोगों की वापसी एक बहुत बड़ा मसला बनकर रह गई थी। हमने एक दिन आम सभा की और सब गांव वालों को बुलाकर समझाना शुरू किया। लोगों में एक तुर्की टोपी वाला खास तौर पर इधर से उधर कैनवेसिंग कर रहा था। दो-चार और भी थे जो बात ही न करने दें। बिला वजह काबिलियत झाड़ रहे थे। छांट-छांटकर अरबी-फारसी के शब्द बोलें और अवाम पर रौब डालें यह समां देखकर मुझे पहली बार अंदाज हुआ कि गांव का पटवारी और जैलदार कितना खतरनाक और असरदार हो सकता है।

वे लोग कह रहे थे हमें तो हुकूमत ने निकाला। उसके हुक्म से हमने गांव छोड़ा है। हमने इसका खंडन किया यह सब गलत है, झूठ है। और तिहाड़ वाले तो इस किस्म की बात कह भी नहीं सकते। उनको रोकने के लिए गांधीजी और खुद प्रधानमंत्री तक ने कोशिश की।

कहने लगे यह तो ठीक है। बेशक हमारी मदद भी की गई और हमें मना भी किया गया और इन बहनजी[23] के तो हम बहुत एहसानमंद हैं। इन बेचारी ने तो बड़ी सरपरस्ती की। मगर इसे क्या करें कि फलां[24] दिन जिले के अफसर ने आकर, फलां तारीख तहसील के हाकिम ने आकर हमें हुक्म दिया और उस तारीख को पुलिस के अफसर साहब आए और कह दिया कि गांव खाली कर दो। उनके रोके तो हम दो-तीन माह तक डटे रहे, फिर हमारी मुश्किलें बढ़ती गईं। चालीस फीसदी हमारे गांव में सरकारी कर्मचारी थे, बिना कोई कारण बतलाए उनका नाम नौकरी से खारिज कर दिया गया। तीन महीने से हमारी बंदूकें जब्त हैं। सिर्फ एक लायसेंस पूरे गांव में बाकी था, 21 अक्तूबर को वह भी छिन गया। जबकि 20 फीसदी हिंदू आबादी के पास इस वक्त 56 लायसेंस हैं। फिर गांव की पंचायत करके पास-पड़ोस वालों ने हमारा सोशल बायकाट

---

22. किसी के विषय में गलत धारणा बना लेना।
23. सुभद्रा जोशी।
24. उन लोगों ने मुझे वे सब तारीखें भी नोट कराईं जिनमें फाइनेंस के अफसर, डिप्टी कमिश्नर और तहसीलदार वगैरह ने उनसे ये बातें कीं।

किया। हमारे जानवर तक वे उठा ले जाते हैं।

मैंने पूछा, "कितने मवेशी गायब हुए ?"

कहने लगे एक बैल हमारा उठा ले गए।

सुभद्रा ने जलकर कहा, सैकड़ों जानवर तुम दूसरों के चुरा लाते थे, एक अपना उठ गया तो भाग खड़े हुए ?

और यह सच था कि दिल्ली का सूबा अजीब-गरीब किस्म के लोगों से भरा पड़ा था। अपने उत्थान के दिनों में इस गांव के बाशिंदे बड़े जबरदस्त डकैत और लड़ाकू हुआ करते थे। दौलत की रेलपेल बहुत कुछ उनकी नाजायज कोशिशों की बदौलत थी लेकिन इसके साथ ही वे बेहतरीन काश्तकार भी थे। पुलिस और फौज के लिए मजबूत नौजवान इन्हीं गांवों में मुहैया होते थे।

उन्होंने हमें यह भी बताया कि सिंध और शायद मुलतान में हमारी जमीन का तबादला हो चुका है। एक ज़िम्मेदार लोकल अफसर[25] ने हमारी 13 हजार बीघा जमीन को अपने खानदान या दोस्तों की 40 हजार बीघा पाकिस्तान में छोड़ी हुई जमीन से बदलवा दी है। मामला तय हो चुका है, पक्का हो चुका है। इसलिए वापसी का कोई सवाल ही बाकी नहीं है।

और फिर जब भी ऐसी सूरत पैदा होती कि ये हजारों आदमी अपने घर वापस जाएं, कोई न कोई बात हो जाती। दो बार गांधी जी से उनकी मुलाकात का वक्त मुकर्रर हुआ और उनमें से जिम्मेदार आदमियों ने वायदा किया कि अगर महात्माजी अपनी जबान से कह दें तो हम वापस चले जाएंगे।

उन्होंने यह भी बताया कि यहां आने से पहले उन्होंने अपने गांव से एक रिटायर्ड लेफ्टीनेंट को अपना नुमाइंदा बनाकर बापू और एक बड़े अफसर के पास भेजा था। मगर वह यहां से जवाब ले गया कि हाकिम ने तो यही सलाह दी है कि चले जाओ और बापू ने मायूसी से कहा,[26] "मैं क्या कर सकता हूं।"

लेकिन अब वे तैयार थे और दूसरे दिन मिलने वाले थे। मगर अफसर चौकन्ने थे। एक बड़े अफसर[27] ने कैंप का दौरा किया और वे सब सलाह लेने दौड़ पड़े।

अफसर ने कहा, "एक हाकिम की हैसियत से तो मैं यही कहूंगा कि कुछ डर नहीं, तुमको वापस जाना चाहिए, क्योंकि इस वक्त सरकार की मर्जी यही है। मगर एक दोस्त की तरह पूछो, तो मैं ऐसी सलाह नहीं दे सकता। अभी हालत ठीक नहीं है।"

लीजिए साहब, किस्सा खत्म। दूसरे दिन उन्हें बिड़ला हाउस जाना था। शाम को यह बातचीत हो गई। अब न वे गांधीजी से मिलना चाहते थे, न घर वापस जाने

---

25. मि. रंधावा डिप्टी कमिश्नर।
26. उनको धोखा दिया गया।
27. डिप्टी कमिश्नर।

की ख्वाहिश थी। वे क्या उखड़े, उनके साथ पांच-सात गांव और मुकर गए और हम लोग अपना-सा मुंह लेकर पलट आए। वे बदस्तूर कैंप में रहते रहे। हमारा तो फैसला हो चुका है, हमको तो पाकिस्तान जाना होगा।

हम सबको एक दिन ताज्जुब हुआ, जब दिल्ली क्लाथ मिल के कर्मचारियों से भरा हुआ एक ट्रक आकर फाटक पर रुका। वे भी पाकिस्तान जाने के लिए आए थे मगर अपने अफसरों की बेहद तारीफ कर रहे थे। पता चला कि मिल के बाहर उनके दो आदमी मारे गए थे, इसलिए मैनेजमेंट ने फैसला किया कि उन सबको बाल बच्चों के साथ कैंप पहुंचा दिया जाए। और वहां से अपनी लायलपुर वाली मिल में पहुंचा दिए जाएं। लायलपुर के हिंदू कर्मचारियों को हिंदुस्तान बुला लिया जाए। प्रस्ताव अच्छा था। मैनेजर साथ था, क्योंकि कैंप के दाखिले की इजाजत न थी, न अंदर अब जगह बाकी थी. इसलिए बाहर ही के सहन में उनका इंतजाम हुआ। मैनेजर का रवैया बहुत अच्छा था मगर सच्ची बात यह है कि मुझे विश्वास न हुआ। आज तक अफसोस है कि बिला वजह मैंने उनकी नीयत पर शक किया। लेकिन हालात ही कुछ ऐसे थे कि हमें किसी भले आदमी पर मुश्किल से यकीन आता था।

पंद्रह दिन गुजर गए और मजदूर, कारीगर सब जान से बेजार हो गए। इत्तिफाक देखिए, कई दिन से मैनेजर वगैरह भी न आ सके थे और वे सब लोग परेशान थे। उनके पास खेमा भी न था, न हम उनके लिए मुहैया कर सके। चादरों के नीचे सबके बच्चे बीमार हो गए, औरतें बिलबिला उठीं और मजदूरों ने भी मेरी तरह बदगुमानी जाहिर करना शुरू कर दी।

एक दिन बापू के सामने जिक्र हुआ। मैंने उन सबका हाल सुनाया तो उन्होंने अपने सेक्रेटरी से कहा कि जरा फोन करके दिल्ली क्लाथ मिल वालों से पूछो। वे तो भले लोग हैं। ऐसा क्यों हो रहा है ?

और दूसरे ही दिन मैंने देखा कि मजदूर खुश हो घूम रहे थे कि बस दो-एक दिन में हमारी ट्रेन लग जाएगी। हमारे मैनेजर साहब आए थे, सब बंदोबस्त हो गया है।

यही सिर्फ एक काफिला था जो खुश और भविष्य के बारे में मुतमइन, बिना गम-गुस्से के हिंदुस्तान से रुखसत हुआ है। सबकी जबान पर मालिक के लिए दुआएं थीं और तारीफ, जबकि बिड़ला मिल के कर्मचारियों का जो हश्र हुआ और बिड़ला मिल जिस तरह कत्लगाह[28] और कातिलों की पनाहगाह[29] बना रहा वह सारे दिल्ली वाले जानते हैं। इसलिए दिल्ली क्लाथ मिल की यह शराफत देखकर सब बोल उठे कि सचमुच दुनिया अभी अमन-इंसाफ पसंद करने वालों से खाली नहीं हुई है।

लेकिन इसके मुकाबले में दिल्ली के हर महकमे के मुस्लिम कर्मचारी अलग हो

---

28. जिस जगह कत्ल किया जाए।

29. आश्रय-स्थल

चुके थे। उनमें से बहुतेरे ऐसे थे जो फिर नौकरी पर जाने के ख्वाहिशमंद थे। पाकिस्तान जाने का उनका इरादा न कभी था, न ही वे अपने को वतन छोड़ने पर तैयार कर पाए थे। खासतौर पर दिल्ली के तमाम अस्पतालों के कर्मचारी करीब-करीब कैंप में थे या पाकिस्तान जा चुके थे और उनमें के बाकी अब भी वापस जाने के लिए बेताब रहा करते थे। जनाना मेडिकल कालेज की डिस्पेंसरी का एक सुपरिंटेंडेंट, जिसकी पंद्रह या सोलह साल की सर्विस थी, जब कैंप में आया तो उसे ख्याल था कि अपने पुराने नौकरों की जान बचाने के लिए हमारी मैट्रन ने कुछ दिनों के लिए कैंप भिजवा दिया है। मगर अब चार माह पड़े रहने और बीसियों खत भेजकर भी सुनवाई न हुई तो उसने मुझसे कहा कि आप जाकर कहिए मैं तंग आ गया हूं। किसी तरह यहां छुटकारा नहीं मिलता। सुनता हूं गवर्नमेंट ने कोई आर्डर भी नहीं निकाला है कि अस्पतालों में मुस्लिम नौकर न रखे जाएं। लेकिन मेरे साथ इंसाफ क्यों नहीं हो रहा है। ये बहुत सारे लोग फिर क्यों अपनी जगह वापस नहीं बुलाए जाते ? मेरा पाकिस्तान में क्या रखा है, मैं क्यों जाऊं ?

मैं अस्पताल गई, वहां उसको सब जानते थे। सबने कहा, वह तो बहुत अच्छा आदमी है। यहां का सबसे पुराना आदमी है। मगर किसी ने हामी न भरी कि उसको बुलाने की कोशिश करे।

मैट्रन से मिली और उसका सलाम पहुंचाया। बहुत खुश होकर उसने पूछा, अच्छा वह अली मुहम्मद अभी तक है, ठीक तो है ? पाकिस्तान नहीं गया ?

मैंने कहा वह बहुत परेशान है, यहां वापस आना चाहता है। उसका सामान भी यहीं पड़ा है, क्या वह आ जाए ? आप इजाजत देती हैं ?

घबराकर बोली, नहीं, नहीं, बस उसे सलाम बोल देना। सामान सब हम निकलवा देंगे। ले जाओ।

गवर्नमेंट डिस्पेंसरी का मुलाजिम अपने प्राविडेंट फंड को रो रहा है। कैंप कमांडर और डाक्टरों की मार्फत बहुतेरे खत भेजे मगर जवाब न आया। अगरचे मामला हेल्थ मिनिस्टर तक पहुंचाया गया और वह मार्च के आखिर तक दिल्ली में रहा मगर कोई कोशिश कामयाब न हुई। शायद बाद को मिल गया हो।

लेकिन सामान तकरीबन सब मंगवा दिया गया। इतना ही हम कर सकते थे। किसी का पूसा कालेज की कोठरी से निकाला गया और किसी का टी.बी. क्वार्टरों में मिल गया। मगर पाकिस्तान उनको जबरदस्ती भेजा गया।

यही हाल हर महकमे के मुलाजिमों का हुआ। जिन्होंने पाकिस्तान लिखा था वे भी गए, जिन्होंने हिंदुस्तान लिखा, वे भी भगा दिए गए।

एक साहब ओखला में पनाहगुजीं थे, डाक-तार के महकमे में किसी अच्छी जगह पर नौकर थे। वे बहुत दिनों तक जमे रहे। वैसे भी शायद नेशनलिस्ट खयालात रखते थे। ओखला में अपनी दाढ़ी-समेत जब टहलने निकले तो राह चलते टोकें, "अच्छा

तुम अभी तक पाकिस्तान नहीं गए, अब तुमको हम भेजेंगे।"

आखिरकार दिल मजबूत करके एक दिन वे आफिस पहुंच गए तो उनके अफसर ने साफ कह दिया, फिजा बहुत खराब है। आप अभी दफ्तर न आइए, छुट्टी ले लीजिए। शायद दोनों भाई उसी आफिस में थे। दूसरे भाई भी पहुंचे और घेर लिए गए। बड़ी मुश्किल से चंद दोस्तों ने पिछले दरवाजे से उनको बचाकर बाहर निकाला।

कितने स्कूल मास्टर थे, देहाती स्कूलों के मुदर्रिस[30] थे, पुलिस में थे और खासे बड़े ओहदेदार भी, सभी चिंतित थे कि क्या करें।

उन दिनों हिन्दुस्तान के अंदर गैर-मजहबी[31] रियासत होने के बारे में खुद कैबिनेट के अंदर भी वह सहमति न थी जो आज है, इसलिए ऐलान खुलकर होते ही न थे। ऐलान अस्पष्ट, अफसरों का रवैया विरोधी और सरकार का काम करने का तरीका किसी की समझ में न आता था। सिर्फ एक बापू थे जो पुकारकर कह रहे थे : हिंदुस्तान सबका है। इस रियासत में सबकी जगह है। सब इंसान भाई-भाई हैं यह समझे बिना देश का भला न होगा।

उन्हीं दिनों बापू से मिलने एक साहब अजमेर शरीफ से आए और अजमेर की खूनी दास्तान उनको सुनाई। उससे पहले 5 दिसंबर को वहां फसाद हो चुका था और फिर 14 से लेकर 16 या 18 दिसंबर 1947 तक जारी रहा था। बीच में कुछ दिन मामला ठंडा रहा मगर 11 जनवरी, 1948 को फिर शुरू हो गया। सरकारी रिपोर्ट तो कुल 45 आदमियों की छपी मगर सच यह है कि कई हजार आदमी कत्ल हुए और मुसलमानों की 80 हजार आबादी सिमटकर 8 हजार रह गई। जो कुछ थे वे दरगाह में जमा हो गए थे। हर पल अंदेशा था कि कब दरगाह पर हमला हो जाए। बापू के व्रत की एक वजह यह भी थी।

अजमेर के लोगों से भरी हुई एक स्पेशल हैदराबाद पहुंची और तबाह हाल लोग जब पाकिस्तान गए तो कराची में भी बलवा हो गया और बेशुमार सिख मारे गए।

बदले का यह चक्कर साल-डेढ़ साल से चल रहा था। अजमेर के हालात का तफसीली[32] बयान अगर मौका हुआ तो आगे चलकर करूंगी और पाठक देखेंगे कि हिंदुस्तान के हर हिस्से में एक ही स्कीम के मुताबिक सारा काम हुआ था।

इधर तो तमाम खबरें सुन-सुनकर लोग कैंप छोड़ने का नाम न लेते थे और उधर बजाहिर मामला ठंडा होने के बावजूद यह हालत थी कि एक रोज जब 9-10 बजे रात को मुझेर कैसर[33] ने फोन किया कि हमारे दो साथियों को एक सिख तांगेवाला करौलबाग की तरफ भगा ले गया है। करौलबाग अब तक वह खतरनाक मुहल्ला था, जहां से

---

30. अध्यापक।

31. धर्म-निरपेक्ष।

32. विस्तृत।

33. जामिआ का एक कर्मचारी।

किसी मुसलमान का जिंदा बचकर आना नामुमकिन था। मैं घबरा गई और यह अंदेशा पैदा हो गया कि शायद बापू के व्रत का असर खत्म हो रहा है और पहल हमारे ही साथियों से होगी।

मैंने पूछा, "फिर तुमने रिपोर्ट की ?"

उसने जवाब दिया, मैं यहीं सदर बाजार से बोल रहा हूं। थानेदार साहब किसी तरह तवज्जो नहीं करते। दो पुलिसमैन अपने साथ जाने के लिए मांग रहा हूं, वह भी नहीं देते न रिपोर्ट लिखते हैं।

बहरहाल मुझे जाना था और यह सोचे-समझे बिना चली गई कि मैं क्या कर सकूंगी। हालात पूछे, तो पता चला कि किसी तांगे की साइकिल से टक्कर हो गई थी और उस जमाने में यह कोई नई बात न थी। अनाड़ी तांगे वाले रोज ही ऐक्सिडेंट करते रहते थे। किसी न किसी मालिक को मारकर वे तांगा छीन लेते और ऐंडे-बेंडे हाथ मारकर घोड़े को हांकना शुरू कर देते। चलाते किधर, जाता किधर। मगर अब वे कई माह से तांगे के मालिक थे, उनको कौन रोक सकता था ! इत्तिफाक से ये दोनों लड़के वहां मौजूद थे, उन्होंने दूसरों की मदद से तांगे वाले को पकड़ा और उसे मजबूर करने लगे कि जख्मी को लेकर अस्पताल चलो। उसने जाने से इंकार किया तो कुछ लोग चिल्ला उठे, नहीं जाता तो इसको थाने ले जाओ। लड़के दोनों जबरदस्ती इस इरादे से तांगे पर सवार हुए कि मरीज को अस्पताल पहुंचा दे और तांगे वाले ने घोड़े को चाबुक रसीद कर दी।

कुछ सिख भी साइकिलों पर तांगे के साथ हो लिए। घोड़ा सरपट करौलबाग की तरफ जा रहा था और इतना तेज कि उस पर से कूदना भी नामुमकिन था।

मैंने थानेदार साहब से कहा कि कई घंटे इस घटना को हो चुके हैं और आपने न अब तक रिपोर्ट लिखी न पुलिस भेजी। अगर इस दौरान लड़के मार ाले गए तो कौन जिम्मेदार होगा ?

थानेदार साहब शायद खूब पिए हुए थे। मुझे देखा, उस सिपाही को देखा जो घरवालों ने एहतियातन साथ कर दिया था और बोले, नहीं मारने-वारने का कोई डर नहीं।

मैंने सख्ती से कहा, यह तो आपका ख्याल है, लेकिन हमें अंदेशा है कि यही होगा। इसलिए आप दो आदमी मुझे दे दीजिए, तीसरा साथ है। हम खुद तलाश कर लेंगे।

उन्होंने उनींदे होकर कहा, आओ भई फलां-फलां तुम बैठ जाओ। आवाज भराई हुई थी। सिपाही करीब आए तो हाथ में बंदूक के बदले लाठियां। तबीयत जल गई।

मैंने कहा, रखिए अपने पुलिसवालों को। आओ भाई, हम चलें, हम तीनों काफी हैं। हमें ऐसी पुलिस की जरूरत नहीं।

सिपाही की नालायकी; उसने न जाने क्या चुपके से कह दिया कि थानेदार साहब

चौंक पड़े। रंग ही बदल गया। शायद उसने भाई साहब[31] की कोठी का पता दे दिया था क्या हुआ। मुस्तैद होकर कहने लगे, चलिए, मैं पूरा गार्ड लेकर खुद चलता हूं। सिपाहियों को तैयारी का हुक्म दे दिया। बंदूक-मशीनगनें सभी निकल पड़ीं और मुझसे फरमाया कि आप तशरीफ ले चलिए मैं पीछे आता हूं।

करौलबाग, शैदीपुरा वगैरह में तलाश करने के बाद मैं फिर थाने के पास से गुजरी तो देखा भीड़ है, लड़के आ गए थे। चौराहे के किसी कांस्टेबल ने एक दूसरे कांस्टेबल की मदद से तांगे वाले को गिरफ्तार कर लिया था, अगरचे उसे पचास रुपए की रिश्वत भी पेश की गई, मगर उसने मुलजिम को गिरफ्तार किए बगैर न छोड़ा और न आगे बढ़ने दिया। लड़के दुखी थे कि हमारी वजह से तांगेवाले को जेल हो जाएगी और थानेदार साहब कड़क रहे थे, "हवालात में बंद कर दो बदमाश को।"

हालांकि मुझे यकीन है, हमारे आने के बाद ही 'बदमाश' खुश-खुश घर को सिधारा होगा। यह हाल था पुलिस का। बदमाश अकड़े हुए घूम रहे थे और गरीब हिंदू-मुसलमान दोनों पिट रहे थे। व्रत के बाद यह सुनकर जी खुश हुआ था कि पुलिसमैनों ने भी वायदे किए हैं, नेक चलनी का इकरार किया है औरर उस अर्जी पर दस्तखत किए हैं जो बापू के सामने पेश हुई थी। मगर इस तरह की दो-एक घटनाओं ने जता दिया कि यह सब वक्ती था, दिल बदलने और शिष्टाचार सुधरने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

और यही सब देखकर मैंने सोचा कि अगरचे आत्मा के खिलाफ है, मगर दूसरों की मुश्किल आसान करने के लिए अगर जरा-सी धौंस जमा लूं तो यकीन है अल्लाह तआला मुझे माफ कर देगा। इसलिए भाई साहब के असर और ओहदे से मैंने नाजायज फायदा उठा लिया और घर पर एक मुकदमे के सिलसिले में कप्तान, पुलिस और आई. जी. दोनों से मुलाकात कर ली।

वाकया यह था कि पालम के एक पादरी साहब दो जवान लड़कियों और चार बच्चों को लाकर मेरे पास छोड़ गए, क्योंकि अब ज्यादा दिनों तक हिफाजत करने की उनमें ताकत न थी और उनके लिए भी जान का खतरा था बल्कि उसी हिफाजत के दरम्यान एक औरत यानी उन सबकी मां लापता हो गई थी, इसलिए वे परेशान होकर सबको मेरे सुपुर्द कर गए।

उस खानदान में कुल बारह आदमी थे। मां और दो बेटे मारे गए। एक भतीजा और बाप जेल में थे और नौजवान बहू उन बच्चों के साथ आई थी। पहले एक बेटा गायब हुआ, दूसरा साइकिल लेकर उसको ढूंढने गया। वह भी लापता हो गया। फिर पुलिस आकर बाप को पकड़ ले गई और साजिश के इल्जाम में भतीजे को भी जेल भेज दिया गया। पादरी साहब ने यह हाल देखकर सबको पनाह में ले लिया। उनकी

31. रफी अहमद किदवई साहब।

गैर-मौजूदगी में एक फौजी ने आकर मां से कहा कि रुपया लेकर चलो, अपने आदमी को छुड़ा लाओ, मैं मदद करूंगा। गरज़मंद औरत सारी जमा पूंजी सीने पर बांधकर उसके साथ हो ली और इस तरह खानदान के ग्यारह आदमी खत्म हो गए।

मि. मेहरा आई.जी. पुलिस फसाद के बाद दिल्ली आए थे। वह खुद भी फ्रंटियर के मुसीबतजदा थे। बेजा तरफदारी न करने वाले, शरीफ और दिलेर आदमी थे। पहले दिन तो उनकी बातचीत से मेरी बदगुमानी दूर न हो सकती थी, मगर जल्दी ही मुझे और मेरे तमाम साथियों को अंदाजा हो गया कि वह भरोसे के काबिल हैं और जहां तक हो सकता है अपने फर्ज, दियानतदारी[35] से पूरे करते हैं। बहरहाल उनकी कोशिशों से कत्ल होने वाली मां के कपड़े और कुछ जेवर भी मिल गया और दोनों मजलूम जेल से रिहा भी हो गए। यह खानदान कई माह हमारे यहां रहकर फिर शायद पाकिस्तान चला गया।

लेकिन इस मुलाकात का सुखद असर यह हुआ कि अब मेरी चिट्ठी भी काम कर जाती थी और पुलिस स्टेशन के लोग मजबूर हो जाते थे कि हमारे वालंटियरों की तरफ ध्यान दें।

और फिर एक दिन खबर मिली कि प्रार्थना सभा में बम फट गया। फेंकने वाला मौके पर पकड़ लिया गया। उसका नाम था मदनलाल। आज सारे हालात लोगों के सामने आ चुके हैं और सबको मालूम है कि बम फेंकने वाला अकेला न था। बाप के दाएं-बाएं हथयारबंद लोग भी थे जो उस मारिफत-ए-इलाही से भरपूर[36] सीने को गोली का निशाना बनाना चाहते थे। मगर उनके दिल दहल गए, हाथ कांप उठे। दाहिने-बाएं, दुश्मन, बम का धुआं भरा हुआ, लोग घबराए हुए और परेशान और वह रोशनी का मीनार बदस्तूर अपनी जगह पुरसुकून[37], मुतमइन कह रहा था, "शांति, शांति !" इलाही इस बूढ़े, कमजोर जिस्म के अंदर कौन-सा दीया जगमगा रहा था कि इतने अंधेरे में भी उजाला ही रहा।

ओर फिर कुतब साहब के उर्स के दिन हम सब महरौली गए। लड़के भला क्यों बेकार बैठते, उन्होंने टूटी कब्रों में भी चहलकदमी की। एक इंसानी हाथ पड़ा देखकर उन्हें खयाल हुआ कि बाकी हिस्से भी यहीं कहीं होंगे, उन्होंने ढूंढकर सब जमा किए। उनको इकट्ठा करके इंसानी ढांचा बनाया और एक खाली कब्र में उतार दिया। यह सुनकर तो मेरे रोंगटे खड़े हो गए। "इतना खौफनाक काम तुमने किया और कैसे किया ?" मैं पूछ उठी। लेकिन वे हंस रहे थे। उनके दिल मजबूत थे। सैकड़ों लाशें कब्र में उतारने के बाद हड्डियों के ढांचे उनकी नजर में अहमियत ही क्या बाकी रही थी ?

---

35. ईमानदारी।
36. ईश्वरीय ज्ञान से युक्त।
37. परम शांत।

और फिर 30 जनवरी को तो सुबह सवेरे अब्बा जान की हालत खराब सुनकर मैं लखनऊ के लिए रवाना हो गई। घर से निकलते वक्त, सवार होते वक्त, रास्ते में कई बार खयाल आया कि जिंदगी और मौत का कुछ एतबार नहीं। देखो मैं बापू से मिले बगैर चली जा रही हूं, क्या पता कैसा इत्तिफाक पेश आए। आखिर कल क्यों नहीं गई ? मगर उस वक्त मिलने का सवाल ही क्या था, पांच तो बजे थे, सुबह तड़के।

और शाम को वह सचाई, मुहब्बत और शांति का आफताब[38] गुरूब[39] हो गया। अब्बा जान[40] दम तोड़ रहे थे कि बापू के रुख्सत होने की खबर पहुंची। कुछ देर तक तो यकीन ही नहीं आया कि ऐसा भी हो सकता है। मगर फिर पागलपन देखिए। मैंने फोन पर भाई साहब से कहा मैं भी दिल्ली आऊंगी। उन्होंने मेरी बेवकूफी पर हैरान होकर पूछा, "अरे मियांजान को इस हालत में छोड़कर ?" और मैं शर्मिंदा होकर रह गई। किससे मिलने जाऊंगी ? किसको देखने जाऊंगी ? सुकून का दरिया तो अपना रुख बदल चुका, अब तस्कीन कहां मिलेगी ? वे बेशुमार आहें, वे आंसू, वे चीखें, वे सारे दर्द भरे दिलों की फरियादें आसमान से टकराती रहीं और पाक रूह[41] अपने मुकाम[42] को परवाज[43] कर गई।

अब्बा जान आखिरी हिचकियां ले रहे थे और मैं रेडियो से लिपटी हुई खबर की तफसील सुन रही थी। जवाहरलालजी की कांपती हुई आवाज ने सब कुछ कह सुनाया। उधर से हटी तो अब्बा जान के पास सूरत-ए-यासीन[44] सुनी। जमीन सख्त थी, आसमान दूर। मैं तो अपना जख्मी दिल लेकर मौजूदा जमाने के सबसे बड़े मसीहा के पास गई थी। मगर सोचते ही सोचते उन्होंने भी अलविदा कही। मुल्क के बाप और अपने बाप दोनों से घंटों में हमेशा के लिए महरूम होना पड़ा।

मेरे लिए यह हादसा दुहरा था। जो जख्म भर गए थे फिर हरे हो गए। भूली हुई दास्तान फिर याद आ गई। गुजरे हुए हादसे का अब तक दिमाग पर असर था। अब भी बाज वक्त दिल चाहता था सब कुछ भूल जाऊं। लेकिन कभी ऐसा भी वक्त आ जाता था कि सब भूला हुआ समेट लेने को जी चाहता था। मगर अब तो जिंदगी एक मुसीबत बनकर सामने आ गई थी। ऐसा लगता था कयामत आ जाएगी। आसमान टुकड़े होकर गिर पड़ेगा। जमीन फटेगी और उसमें से सोते उबलकर इस पापी मुल्क

---

38. सूरज।
39. अस्त।
40. इम्तियाज अली साहब किदवई, रफी साहब के वालिद और मेरे ताऊ। हम छोटे भाई बहनों की मां-बाप बनकर उन्होंने परवरिश की थी और अपने बच्चों से ज्यादा मुहब्बत और प्यार हमें दिया था, क्योंकि हमारे वालिदैन खत्म हो चुके थे और पांच बच्चे यतीम ओ-यसीर (बिना मां-बाप के) थे।
41. पवित्र आत्मा।
42. स्थल।
43. उड़ान।

को गर्क कर लेंगे। यह छत आखिर रुकी क्यों है ? ये लोग चल-फिर क्यों रहे हैं ? सारी दुनिया बावेला क्यों नहीं करती ?

लोग कहते हैं अंदर गांधीजी की लाश पड़ी थी और शहर में यह मशहूर हो गया था कि मुसलमान ने कत्ल किया है। मेरे भाई[15] ने खुद उस भीड़ में एक शख्स को देखा जो यह कहता फिर रहा था कि कातिल मुसलमान है और जवाहरलालजी और सरदार पटेल अगर दिल को संभालकर रेडियों से ऐलान न कर देते तो सुबह तक न जाने कितने मुसलमानों की लाशें तड़पकर ठंडी हो चुकी होतीं।

फिर भी तीन पर छुर चल गए। मगर अब भी कुछ लोग ऐसे थे जो बिफर रहे थे। मुसलमानों की वजह से यह हुआ। उनके सबब से गांधीजी की जान गई। उन्हीं की मुहब्बत और हमदर्दी में अपने को गुरबान कर दिया। उन्हें कातिल पर गुस्सा कम था और मुसलमानों पर ज्यादा। मौलाना लोगों की खुसर-पुसर को वे कत्ल का जिम्मेदार करार देते थे कि अगर ये लोग जाकर जरा-जरा सी बात न जड़ते रहते तो गांधीजी के हिंदू दुश्मन नहीं हो सकते थे।

और मसुलमानों ने कलेजा थाम लिया, "खुदाया, यह जालिम मुसलमान न हो। यह गुनाह किसी मुसलमान के हाथ से न हुआ हो, वरना कयामत तक यह लानत हमारे सर रहेगी। यह मुहसिन कुशी[16] हमारा नाम-निशान मिटा देगी।"

और जब नाम सुना तो सन्नाटे में रह गए। सिखों ने कातिल का नाम सुनकर इत्मीनान का सांस लिया। वाहे गुरु ने बड़ी खैर की कि कातिल सिख नहीं है, वरना आज हम सब मरे थे।

लखनऊ के एक नवाब साहब ने जिस वक्त सुना, रोते ही रहे। सुबह अर्थी का जुलूस चला तो नंगे सर नंगे पैर साथ हो लिए और कहा, "मैं भी वहीं जा रहा हूं जहां गांधीजी गए हैं।" रास्ते ही में गिरे और जान आं-आफरी[17] के सुपुर्द कर दी।

एक हफ्ता बाद दिल्ली वापस गई। मगर अब न कोई वर्तमन नजर आता था। न भविष्य। तूफान के बाद सुकून, आंधी के बाद सन्नाटा। जहां बैठो बापू का जिक्र, उन्हीं के किस्से।

> रौ में है रख्श-ए-उम्र[18], कहां देखिए थमे।
> न हाथ बाग[19] पर है, न पा[50] है रकाब में।

---

44. कुरान की एक सूरत जो मरते समय-मुसलमान को सुनाई जाती है।
45. मुस्तफा कमाल किदवई उन दिनों दिल्ली में थे। उन्होंने जब उन शख्स को यह प्रोपेगंडा करते देखा तो दौड़कर रफी भाई से जो आगे थे यह बताया। उन्होंने फौरन जवाहरलाल जी को जो कमरे में पहुंच चुके थे इत्तला की।
46. कृतघ्नता।
47. जीवन देने वाला।
48. जीवन रूपी घोड़ा।
49. लगाम।

तेरहवीं तक तो रोने के सिवा कोई काम ही न कर सकी। रोती सिर्फ गांधीजी को थी, उनके सिवा किसको रोती ? मैं तो अब बाकी जिंदगी उनके कदमों में बिताने आई थी।

अब भी राजघाट जाती हूं। अपने मुर्शिद[51] और अपने गुरु की चिता पर आंसू बहा आती हूं। मगर उनकी जिंदगी में जो कुछ मिलता था उससे महरूम हूं। बिड़ला हाउस भी कई बार गई और उस जगह भी जहां राह-ए-हक[52] में चलते हुए 'मुसाफिर को नींद आई थी।' उस पर अब भी फूल बिखरे रहते हैं :

वर जमीने क निशाने कफ-ए-पा-ए-तो बूद।
सालहा सजद : ए-साहब नजरां ख्वाहद बूद।[53]

उस तख्त और उस चादर को भी आंखों से लगाया जिस पर बापू बैठा करते थे। मगर तस्कीन न मिली और कब तक न मिलेगी अल्लाह की जाने। तख्त पर गाव तकिए से लगी उनके बजाए उनकी बड़ी-सी तस्वीर थी लेकिन मेरी हिम्मत न पड़ी कि उसे देखूं। इकबाल का शेर याद आ गया :

जौक-एस-हुजूर दर जहां रस्म-ए-सनमगरी निहाद।
इश्क फरेब मी दिहद जान-ए-उम्मीदवार रा[54]

वही कमरा, वही सामान, वही तख्त, वही तकिया, इर्द-गिर्द वही किताबें। सिर्फ वह नहीं मगर उनकी मुस्कराती हुई तस्वीर। हुजूरी[55] का सारा लुत्फ हासिल हो सकता था, लेकिन मैं डर गई। कहीं मैं पूजने न लगूं, उधर आंख न उठाई। हजार मौके हैं, उनकी तस्वीर को ही देख सकती हूं। मगर उस माहौल में उसे देखकर जो जज्बात पैदा होते वे तो दूसरे ही होते। और इसलिए एक सच्चे मुवहिहद[56] की तरह उस तरफ से पीठ करके रोई। जो जा चुका वह तस्वीर में भी आ सकता है। इन जाहिरी आंखों के रू-ब-रू क्यों बुलाऊं ?"

तेरहवीं से एक रोज पहले जामिआ के एक आर्टिस्ट ने थ्री प्लाई का बापू का कद्द-ए-आदम[57] मुजस्सिमा (प्रतिमा) तराशकर सुभद्रा को भेजा। मुजस्सिमा कांग्रेस आफिस में रख दिया गया। उतना ही कद, वही जिस्म। ऐसा लगता था बापू अखबर

---

50. पांव।
51. गुरु।
52. सचाई का रास्ता।
53. वह धरती जिस पर तुम्हारे पवित्र पद-चिह्न होंगे, वहां बरसों पारखीजन अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते रहेंगे।
54. सामने आने और सामने रखने (प्रत्यक्ष दर्शन करने) के चाव ने संसार में मूर्ति कला को जन्म दिया। प्रेम उम्मीदवार के दिल को कैसे फरेब देता है।
55. गांधीजी के प्रत्यक्ष होने का।
56. ईश्वर को एक मानने वाला।

लिए हुए चले आ रहे हैं। ठीक वही चेहरा, वही मुसकान।

मुहल्ले में खबर उड़ी तो दो बुर्कापोश औरतें आईं और तस्वीर के कदमों में बैठ गईं। बड़ी देर तक डबडबाई हुई आंखों से उसे देखती रहीं। फिर ठंडी सांस भरकर बोलीं : हाय कैसे अच्छे आदमी थे—पटेल ने मरवा दिया।

सुभद्रा ने कहा, जरा देखिए तो अवाम की हालत।

तेरहवीं के दिन कांग्रेस पार्टी के एक साहब ने इसरार करके मुझे उस रथ पर बिठाया जिस पर मुजस्सिमा फूलों से लदा हुआ चल रहा था। यह सीन नाकाबिले बरदाश्त था। आगे-आगे अस्थियां थीं, पीछे-पीछे तस्वीर। आज मौत आगे थी और जिंदगी पीछे। यह मातमी सीन शायद आसमान की आंख ने कभी न देखा होगा। सारा हिंदुस्तान बापू का गम मना रहा था और दिल्ली की सरजमीन एक मुकम्मल इंसान का खून पीकर ठहर गई थी। अब उसने एक बेगुनाह की पवित्र को अपनी मिट्टी में मिला लिया। यही शायद वह मांगती थी। इसी कुरबानी की शायद जरूरत थी।

दुनिया में जब कभी फित्ना-फसाद अपनी इंतिहा को पहुंचा, किसी न किसी महान् शख्स ने गुनाह की दहकती हुई भट्टी को ठंडा करने के लिए अपने खून के छींटे दिए हैं।

कुछ नहीं मालूम कौन आया और अभी कितने आएंगे। लोग कहते हैं ईसा फिर आएंगे, मेहदी आखिर उज्जमां[58] आएंगे, श्रीकृष्णजी आएंगे। खुदा की बातें खुदा ही जाने मगर मुझे यकीन है जो आएगा यही करेगा, जो आ चुके थे यही करते रहे।

हुसैन ने कर्बला में बाल-बच्चों को कुरबान करके, अपना सर देकर इब्राहिम[59] ने आग में कूदकर, ईसा ने सूली पर चढ़कर और बहुतों ने जान देकर, जिंदा आग में जलकर उनसे पहले सचाई को जिंदा रखा था। क्या हमारी आंखों के सामने जो कुछ हुआ यह उससे अलग कोई चीज थी ?

मैं अक्सर सोचा करती थी वे कैसे हाथ होंगे जिन्होंने ईसा को सूली पर चढ़ाया ? वे कैसे दिल होंगे जो रसूल[60] के नाती हुसैन को बिना आब-दाना शहीद होते देखते रहे ? लेकिन वह हाथ हमने देख लिया। यह शैतानी हाथ जो हमेशा काम करता रहा है, इस सदी में भी प्रकट हुआ और नेकी का गला घोंट दिया। मगर नेकी मर नहीं सकती, सचाई फना नहीं हो सकती। वह तो अमर है।

---

57. आदम कद।
58. शीआ संप्रदाय के बारहवें इमाम जिनके बारे में यह विश्वास है कि वह कयामत के निकट प्रकट होंगे।
59. पैगंबर मुहम्मद साहब के पूर्वजों में से एक पैगंबर जिनका खिताब 'खलीलुल्लाह' था। नमरूद नामक विधर्मी बादशाह ने उन्हें आग में ढकेल दिया था लेकिन वही आग खुदा के हुक्म से उपवन बन गई थी।

अब्र-ए-रहमत[61] था कि थी इश्क की बिजली यारब[62]
जल गई मुजार-ए-हस्ती[63] तो उगा दाना दिल।

अर्थी के जुलूस के पीछे गांधीजी के कातिल की तस्वीर हंस-हंसकर बेची जा रही थी और उससे पहले अर्थी के पीछे लोग हंसते और तालियां बजाते भी चल रहे थे। जमीन पर शायद ही किसी इंसान का जनाजा इस शान से उठा होगा। हर आंख आंसुओं से भरी हुई थी और दिल गमों से चूर-चूर। मगर चंद इंसानियत के दुश्मन उस वक्त भी मिठाइयां बांट रहे थे।

वह शैतानी हाथ तो बहुतों को सूली पर चढ़ा चुका था, जो सच को पहचानने वाले मर्दों को शहीद कर चुका था, जो औलिया-अल्लाह[64] को खाक-ओ-खून में तड़पा चुका था, जो गांधीजी को गोली मार चुका था और अभी कुछ और भी करना चाहता था। उसके इरादे बुलंद थे मगर अल्लाह की गैरत आखिर कहां तक बर्दाश्त करती ?

सारा हिंदुस्तान चौंक पड़ा। दिल बदले, दिमाग बदले और फिर हम सब बदल गए।

क्या खबर थी वह आंख जो अतीत और वर्तमान से गुजरकर भविष्य की झलक भी देख लिया करती है सिर्फ चंद दिन की मेहमान है और मुझे उनको रोना पड़ेगा जो दुनिया के आंसू पोंछते थे।

गमनसीब[65] 'इकबाल' को बख्शा गया मातम तिरा।
चुन लिया तकदीर ने वो दिल कि जो था गम भरा।

---

60. पैगंबर मुहम्मद साहब।
61. दया का बादल।
62. ऐ खुदा।
63. जीवन रूपी खेती।
64. अल्लाह के वली (उत्तराधिकारी, वारिस)।
65. दुखी, शोकाकुल।

8. अपहृत लड़कियां

इस दरम्यान एक बहुत बड़ा मसला हमारे सामने और भी आ गया था जिसका मैंने अब तक जिक्र नहीं किया और वह था 'भगाई गई लड़कियों' का। पुराना किला और मकबरा हुमायूं और जामा मस्जिद के सामने वाले अलवर और पटियाला के पनाहगुजीनों ने मुझे ऐसी बहुत-सी लड़कियों के नाम लिखाए थे जो हंगामे के दौरान उनसे छीन ली गई या भागने में बिछुड़ गई। नाम मैं लिखती जा रही थी मगर अब तक दो-एक के सिवा किसी को हासिल न कर सकी थी।

बापू के सामने ही यह सवाल पैदा हो गया था कि अपहृत लड़कियां अगर वापस लाई जाएं तो उनके रिश्तेदार उन्हें कबूल भी कर लेंगे ? क्योंकि हिंदू लड़कियां जब पाकिस्तानी मुसलमानों के पास से लाई गई तो उनके रिश्तेदारों ने उन्हें रखने से इंकार कर दिया। महात्माजी को मालूम हुआ तो उन्हें बड़ी सख्त तकलीफ हुई। सबके सामने भी कहा और शाम के भाषण में भी कहा कि जो इन मुसीबतजदा औरतों को लेने से इंकार करते हैं वे सबसे बड़े पापी हैं। वे लड़कियां तो पवित्र हैं, मुझसे ज्यादा पवित्र। वे गुनाह और बुराई से भागकर आई हैं और दूसरे के गुनाह का उन पर क्या दोष ?

लेकिन मकबरे में ऐसे तीन-चार केस मेरे सामने आए और यह देखकर बहुत इत्मीनान और खुशी हुई कि आमतौर पर मुसलमानों में यह जहनियत न थी। वे खुद लड़कियों को तलाश कराते और जब मिल जातीं तो खुशी-खुशी उन्हें अपना लेते।

नवंबर में एक रोज बिलख-बिलखकर रोता हुआ एक जवान मेवाती मेरे पास आया। हिचकियां बंधी हुई थीं और ऊंची आवाज से रो रहा था। बहुत पूछने और दिलासा देने पर बमुश्किल उसने कहा, "हुजूर, मेरी औरत को दो माह से सिख उठा ले गए थे। उसकी तलाश में मैं अक्सर फिरता रहता हूं। आज जब मैं अलीगंज की तरफ से गुजरा तो क्वार्टर में वह खड़ी नजर आई। मुझे देखकर रो पड़ी। मैं दौड़ा कि उसको पकड़ लूं, मगर तलवारें लेकर बहुत-से लोग दौड़ पड़े और मैं निहत्था था, जान बचाकर भागा।" उसने बताया कि उस घटना को मुश्किल से आधा घंटा हुआ है, "सीधा वहीं से आ रहा हूं। मेरी मदद कीजिए। मेरी औरत !" कहकर वह फिर रोने लगा।

कुछ समझ में न आया कि क्या करूं ? अभी तक तो मैं ज्यादा लोगों से वाकिफ न थी। यही तदबीर[1] सूझी कि बिड़ला हाउस ले चलूं। वहीं कोई हल निकल आएगा।

ब्रज किशन जी चांदीवाले ने कहा कि यह पुलिस का काम है। लेकिन मैं दिल्ली की पुलिस से वाकिफ भी तो न थी। उन्होंने सलाह दी कि इंदिरा गांधी से कहिए वे यह काम करा देंगी। मेवाती की खुश-किस्मती कि ये बातें खत्म ही हुई थीं कि इंदिरा बापू से मिलने आ गईं। उन्होंने कहा चंद मिनट इंतजार कीजिए, बापू से मिलकर अभी आती हूं। थोड़ी देर बाद मेवाती को लेकर इंदिरा के साथ पंडितजी की कोठी गई। इंदिरा ने एस.पी. को फोन कर दिया और मैंने महसूस किया कि अब ठहरना बेकार है। इसलिए मेवाती को उनके सुपुर्द करके मैं चली आई। मगर फिक्र वही कि देखो क्या होता है ? चंद घंटे बाद देखा मेवाती खुश-खुश चला आ रहा था। औरत फौरन एस.पी. ने बरामद कराई। उस क्वार्टर में तो नहीं मिली मगर उन्होंने आसपास के तीन-चार क्वार्टरों की तलाशी लेकर उसे ढूंढ ही निकाला।

एक दूसरा वाकया और हुआ। महाजरीन[2] में से एक नौजवान लड़का जिसकी शादी को सिर्फ सवा साल हुआ था, और बीवी की गोद में दो माह का बच्चा भी था, अपनी औरत को तलाश करता रहता था। एक रोज उसे किसी ने खबर दी कि भोगल में किसी जाट के पास वह लड़की है और यह खबर एक बूढ़ी चमारी ने उसे पहुंचाई थी। चमारी का दिल लड़की के रोने-बिलबिलाने पर तड़प उठा और उसने पैगाम पहुंचाने का वादा कर लिया। लड़के ने बताया कि उसने मेरा फोटो भी मांग भेजा था और कल अपनी तस्वीर खिंचवाकर मैंने भेज दी तो उसे देखकर फूट-फूटकर रोई। चमारी कहती है तेरी याद में दीवानी है, बिलख रही है। वह मिट्ठन[3] साला उसे खेत में काम कराने ले जाता है। वहां वह शाम तक रहती है। मैं भी दूर से छिपकर उसे देख आता हूं मगर लाने का मौका नहीं लगता।

यह भी बतलाया गया कि मिट्ठन कहता है यह औरत मेहनती नहीं है। इसको बेच डालूंगा। दो सौ रुपए मांगता है। अभी वह खेत में होगी। खुदा के लिए मुझ पर रहम कीजिए। पुलिस भेजकर उसे मंगा लीजिए।

उस वक्त डॉ. सुशीला नैयर दुबारा कैंप आ गई थीं। उन्होंने कहा चलो मैं खुद चलती हूं किधर हैं वे खेत ? मालूम हुआ ओखले की तरफ। मगर दिन बिल्कुल थोड़ा रह गया था, यकीनन पहुंचते-पहुंचते शाम हो जाएगी। मैं अकेली होती तो शायद सुबह पर मुलतवी[4] करती। मैंने कहा भी, सुशीला क्या यह बेहतर न होगा कि हम एक पुलिसमैन को साथ लें ? मगर उन्होंने लापरवाही से जवाब दिया, पुलिस की क्या जरूरत, हम दोनों चलेंगे ? क्या आप डरती हैं ? और मुझे यह इकरार करते शरम आई कि हां कुछ खौफ का आभास तो हो रहा है। यह दुबली-पतली पाकीजा, मुस्कराते चेहरेवाली लड़की

---

1. हल ढूंढना
2. देश छोड़कर जाने वाले।
3. वह जाट जो उसे ले गए थे।
4. स्थगित।

बहुत गंभीर और बहादुर थी। स्वभाव की उस खामोशी और नरम मिजाजी ने सुशीला को अपने साथी-संगियों में एक नुमायां[5] जगह दिला दी थी।

ओखला पहुंचे तो अंधेरा शुरू हो चुका था। मगर सुशीला निडर, बेझिझक मुझसे बीस कदम आगे झाड़ियों में घुसती, खेतों को रौंदती आगे बढ़ती रही। और बहुत-सी औरतें मिलीं, मगर औसाफ[6] की महबूबा उनमें न थी। और औसाफ रोए देता था। हम उसे दिलासा देते मगर वह एक-एक से सवाल करता। इतना तो पता चल ही गया कि आती रोज है मगर आज नहीं है। तीसरे पहर तक थी, अब गांव में मिलेगी। इसलिए भोगल जाना पड़ा।

और भोगल[7] वह जगह थी जहां शरणार्थियों का मुकम्मल कब्जा था। उस इलाके में संघ[8] का बड़ा जोर रह चुका था और चंद ही मुसलमान बहुत ही खून-खराबे के बाद यहां से बचकर जा सके थे। सुशीला बिना किसी झिझक के घर के अंदर चली गई और उनके पीछे-पीछे मैं भी। अब इस वक्त वह सामने नहीं है इसलिए इकरार करती हूं कि कितनी शर्म की बात थी, मेरे कदम घर के अंदर घुसते हुए डगमगा रहे थे। मैं सोच रही थी बापू ने कौन सी रूह सुशीला के जिस्म में फूंक दी है कि मौत, तकलीफ, नुकसान किसी चीज का डर ही नहीं बाकी रह गया और मैं जो अपने को मुसलमान कहती हूं इतनी बुजदिल ? अपने ऊपर लानत भेजती हुई दोनों मकानों में साथ-साथ गई। औसाफ जोर-जोर से पुकार रहा था "जान बी, जान बी"। मगर जवाब कोई न मिला। और सुशीला घरवालों को डांट रही थीं, "अगर लड़की तुम्हारे पास है, तो फौरन हमारे साथ कर दो। हमें बताओ कहां है ? अभी तो मैं आई हूं लड़की ले जाऊंगी। तुम्हें कोई नुकसान नहीं पहुंचेगा वरना फिर पुलिस आएगी और तुम सबके साथ वह होगा जो मुजरिमों की सजा है।" मगर लड़की कहीं नजर न आई। शायद नौ बजे रात को हम मायूस वापस आए।

तकरीबन एक हफ्ते बाद औसाफ फिर मुझे मिला। बहुत ही खुश था, कहने लगा, आपाजी चलिए। मैं जान बी को ले आया। मैंने पूछा, कहां मिली ? कैसे मिली ? जवाब दिया, बड़ी दूर से लाया हूं। जिस वक्त मैं भोगल आपके साथ गया था जान बी कहती है, वह एक भुस की कोठरी में बंद थी। मुंह में कपड़ा ठुंसा हुआ था, इसलिए न बोल सकी। मिट्ठन को किसी ने खबर भेज दी थी, बस पहले से फिकर कर ली।

मिट्ठन रातों-रात जान बी को लेकर यू. पी. भागा। किसी गांव में ले जाना चाहता था। रास्ते में एक ठिकाने पर मुसलमान नमाज पढ़ रहे थे, जान बी ने जो यह देखा

---

5. विशिष्ट।
6. औसाफ उस मेवाती लड़के का नाम था।
7. वर्तमान जंगपुरा।
8. राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ।

तो हाथ छुड़ाकर उनके बीच में भाग गई और मुसलमान बहुत थे इसलिए मिट्ठन भाग गया। मैं तो इस फिकर में पीछे लगा हुआ था। कई दिन से मैं भी चल रहा था और मैंने सब हाल बताया। मुसलमानों ने मेरे साथ कर दिया। वहां खेमे में लेटी है। आप जरा चलकर देखिए तो बड़ी कमजोर हो गई है। वह कहता रहा और साथ चलता रहा।

जान बी खेमे में लेटी हुई थी। लिहाफ को दुहरा करके चादर बिछा दी गई थी और कंबल ओढ़े पंद्रह-सोलह साल की दुबली-पतली, निखरे रंग वाली लड़की नीम जान[9] सी पड़ी थी। औसाफ ने बेताबी के साथ उसका दुबला-पतला हाथ उठाकर मुझे दिखाया। देखिए क्या हाल हो गया है, कलाई कितनी पतली हो गई है ? हरामजादे ने मेरा बच्चा भी मार डाला। और यह कहते-कहते दोनों की आंखें डबडबा आईं।

उसे नर्म-गर्म बिस्तर पर लिटाकर औसाफ ठंडी जमीन पर उकडूं बैठ गया। खेमे में और कुछ न था। शायद एक गिलास और होगा, बस। अपनी कुल पूंजी उसने जान बी की आसाइश[10] के लिए लगा दी, यहां तक कि वह सदरी भी जो वह कमीज के ऊपर पहने रहता था। लड़की ने बताया कि तीन दिन वह अपने बच्चे की फिक्र में बिल्कुल न सोई। हर वक्त अपने सीने से उसे चिमटाए रखती थी। मगर चौथी रात थककर सो गई और जब आंख खुली तो बच्चा गायब था। उसके रोने-चीखने पर उन लोगों ने कहा बच्चा तो बिल्ली खा गई। और फिर वह न मिला।

मेरे सवाल पर उसने बताया कि उस रोज जब हमलोग खेतों में उसे तलाश रहे थे तो किसी ने जाकर उसे खबर दी और यह सुनते ही उसे कोठरी में हाथ-पैर बांधकर डाल दिया गया।

मैं थोड़ी देर खामोशी के साथ उन दोनों को देखती रही। उनकी पहली मुहब्बत, उनका पहला बच्चा और बेरहम इंसानों के हाथों उसका यह हश्र ! खुदाया ! इंसान कब तक भेड़िए का जामा पहने रहेगा ?

चूंकि पुलिस के अफसरों से भी थोड़ी-बहुत वाकफियत हो चुकी थी इसलिए मैंने वे बहुत से नाम जो नोटबुक में दर्ज थे उनको भेज दिए और इस तरह कई लड़कियां और भी बरामद हुईं। लेकिन ये सब कोशिशें एक शख्स की और इतनी मामूली थीं कि इतने बड़े अहम मामले में कोई हकीकत न रखती थीं।

मिस मृदुला साराभाई[11] ने इसकी अहमियत[12] का जरा पहले अंदाजा कर लिया था और वह हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों जगह बाकायदा काम शुरू कराना चाहती थीं। इधर हमें यह अंदेशा भी पैदा हो गया था कि जिस गांव से हम एक लड़की बरामद करते हैं वहां की दूसरी लड़कियां कहीं कत्ल न कर दी जाएं। सजा के डर से लोग या

---

9. अधमरी-सी।
10. सुविधाएं।
11. गांधीजी के साथ मृदुला साराभाई भी दिल्ली आ गई थी और कंस्टीच्यूशन हाउस में रहती थीं।
12. महत्त्व।

तो उन्हें बेच देते थे या खत्म कर देते थे।

जामा मस्जिद के सामने पटियाला और नाभा के लोगों का टोला था और मस्जिद के तमाम बरामदे उनसे भरे रहते थे। उनमें से किसी के साथ जवान औरत या लड़की न आती थी और यही हाल दिल्ली सूबे के देहातों का हुआ था। गूजर और जाट दिल्ली की बहादुर कौमें हमेशा दिल्ली को लूटती रही थीं। मगर लड़कियों की लूट तो उन्हें पहली बार ही नसीब हुई थी। जी खोलकर उन्हें लूटा था और धड़ल्ले से तिजारत कर रहे थे। लेकिन खुद गवर्नमेंट को कानों-कान खबर न होती थी। कारकुन[13] पाकिस्तान और रियासतों में अपनी अमली मुश्किलात का जिक्र करते थे इसलिए मृदुला जो काम, जंग और इरादे में गैर-मामूली[14] हिम्मत की मालिक हैं, बापू की जिंदगी ही में पाकिस्तान गईं। लाहौर और कराची वगैरह के अधिकारियों से मिलीं और फिर जल्दी ही दोनों हुकूमतों ने इस पर रजामंदी जाहिर कर दी कि इस जुल्म का तोड़ किया जाए और ऐसी तमाम लड़कियां अपने अजीजों को वापस दिलाई जाएं। इस सियासी इग्वा को किसी तरह जायज न करार दिया जाए।

बापू ने सुशीला को रियासतों के लिए चुना था। दिल्ली में वीमेन सेक्शन[15] ने उसे संभाला और दूसरे सूबों का हाल मालूम नहीं। यहां वीमेन सेक्शन की इंचार्ज मिसेज नेहरू[16] थीं। मृदुला पहले ही पाकिस्तान की दौड़ लगा रही थीं और बापू के जाते ही सुशीला ने रियासतों का रुख किया। पहला नंबर पटियाला का था।

इसमें कोई शक नहीं कि काम देर से शुरू हुआ और जब होने लगा तो कभी पुलिस ने रोड़े अटकाए, कभी अफसरों ने, कभी सरफिरे अवाम ने। खुद काम करने वालों की कमजोरी और अवाम के असहयोग ने भी बहुत परेशान किया।[17]

मुश्किल यह थी कि 'चोर-चोर मौसेरे भाई' थे। दिल्ली का सारा प्रशासन खुद ही सब कुछ बना हुआ था। किसको पकड़ा जाता और कौन पकड़ता। ऊपर से लेकर नीचे तक सभी इस हम्माम में नंगे थे। न सिर्फ दिल्ली बल्कि रियासतें और पाकिस्तान सब जगह यही हाल था और इस पाप की शुरुआत हुई थी नवाखाली से।

फिर भी मृदुला की हिम्मत, सुशीला नैयर की अनथक मेहनत और पूर्वी और पश्चिमी पंजाब की बहुत-सी बहनों की कोशिशों ने हजारों लड़कियां बरामद करा दीं।

---

13. कार्यकर्त्ता।
14. विशिष्ट।
15. पुनर्वास मंत्रालय के नारी विभाग के अधीन।
16. मिसेज रामेश्वरी नेहरू पाकिस्तान से आनेवाली और बरामद होने वाली औरतों की इंचार्जा थीं और उनके पुनर्वास की जिम्मेदार।
17. जल्दी ही केंद्रीय बहाली संगठन की स्थापना हो गई और दोनों सरकारों—हिंदुस्तान और पाकिस्तान में लड़कियों की बरामदगी का काम शुरू हो गया।

कई-कई सौ औरतों के झुंड पाकिस्तान से आए[18] और हजारों के झुंड हिंदुस्तान की रियासतों से। मगर दिल्ली में मेरा खयाल है दो सौ के अंदर-ही-अंदर लड़कियां बरामद हुई होंगी। उनमें से कुछ को तो एक हिम्मतवाला चमार अकेले बरामद करके उनके रिश्तेदारों को दे आया। काश मुझे उस शरीफ इंसान का नाम मालूम हो सकता। लेकिन वह तो इतने चुपके से लड़की रिश्तेदारों में पहुंचा देता कि कोई न जान सकता वह कौन है। लड़की सिर्फ यह बताती थी बूढ़ा हरिजन मुझे छोड़ गया है। बापू का सच्चा भक्त, ''नेकी कर दरिया में डाल'' पर अमल कर रहा था। कुछ लड़कियां सोशल वर्कर्स और जमीअत के कारगुनों ने बरामद कराई और चंद पुलिस की कोशिशों से मिल पाई। हालांकि कैंप के मुसलमानों की जबान से जो कुछ सुना था और जो हाल देखा था उस हिसाब से कम से कम पंद्रह सौ लड़कियां सूबे में गायब थीं। वे सब क्या हुईं, कहां गईं ? मैं कोशिश के बावजूद पता न लगा सकी, लेकिन दो-एक के सिवा सूबे में बाकी नहीं रहीं, यह मुझे यकीन है, खुद देहातों का दौरा कर चुकी हूं। अब भी कुछ नाम बाकी है, उनके पते भी मिले मगर उनकी तादाद इतनी थोड़ी है कि कोई अहमियत नहीं रखती।

तादाद को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर भी बताया गया, यानी अलग से मेरी कोशिशों से मार्च, 1948 तक सिर्फ पंद्रह-बीस लड़कियां आई थीं और यूनाइटेड रिलीफ एंड वेलफेयर से मेरे पास एक साहब आए कि हमें वीमेन सेक्शन से मालूम हुआ है कि 125 लड़कियां आपने निकलवाईं। मैंने कहा, खुदा के लिए मुझे मुश्किल में न डालिए। मैं इस वक्त तो अपनी वाह-वाह करवा लूं मगर जब आप मुझसे उनके रिश्तेदारों के पते मांगेंगे या पाकिस्तान गवर्नमेंट ब्यौरा मांगेगी तो मैं कहां से दूंगी ? मेरा तो खयाल है उनकी तादाद पंद्रह से आगे नहीं बढ़ी, बाकी पुलिस खुद चार लड़कियां मेरे पास लाई थी।

पंजाब की मुसीबतजदा लड़कियां और यहां की तबाहहाल औरतें सबकी दास्तान एक थी। छोटे देहातों को खाली कराके किसी बड़े गांव में कैंप कायम करना फिर पुलिस के हुक्म से काफिले का उस कैंप से रवाना होना, फिर रास्ते में हमला और ऐन हमले के दौरान सब जवान लड़कियों को उठा लिया जाना और उनका लूट के माल के तौर पर हमलावरों, फौजियों और पुलिस के आदमियों में बंटवारा हो जाना—ये थे वे हथकंडे जिन पर हिंदुस्तान और पाकिस्तान हर जगह अमल हुआ था।

इस सारे हंगामे में बमुश्किल कोई लड़की मारी जाती, अलबत्ता जख्मी हो जातीं। अच्छा 'माल' पुलिस और फौज में बंटता, कानी-खुदरी बाकी सबको मिलतीं। और फिर ये लड़कियां एक हाथ से दूसरे और दूसरे से तीसरे तक पहुंचती हुई चार-पांच जगह

---

18. ये तो सिर्फ सवा साल के आंकड़े थे। बाद में 1954 तक बहाली संगठन काम करता रहा और लगभग 17 हजार लड़कियां पाकिस्तान से बरामद करके हिंदुस्तान भेजी गई और बीस हजार से ऊपर मुस्लिम लड़कियां पाकिस्तान भेजी गईं।

बिककर आखिर में होटलों की शोभा भी बनतीं या किसी मकान में पुलिस के अफसरों को तफरीह के लिए महफूज[19] कर दी जातीं।

उनमें से हर लड़की चूंकि साजिश से बेखबर होती थी इसलिए वह उस आदमी को रहमत का फरिश्ता समझने पर मजबूर हो जाती जो मार-धाड़ के वक्त उसे अपने मजबूत बाजुओं की गिरफ्त में लेकर उसकी जान बचा लेता और जब यह भला आदमी उसके नंगे जिस्म को (जिसके कपड़े लुटेरों के हिस्से में आ चुके थे) ढंकने के लिए अपना अंगोछा या बनियान पहना देता, तो वह मां की कटी हुई गरदन और बाप के खून में लथपथ जिस्म या पति की तड़पती हुई लाश सब कुछ भूलकर उस आदमी का शुक्रिया अदा करने लग जाती। वह ऐसा क्यों न करती ? दरिंदों से छुड़ाकर तो एक शरीफ आदमी उसे अपने घर लाया है, दिलासा दे रहा है, उम्र भर का साथी बनने को तैयार है आखिर वह कैसे उस देवता की पुजारिन न बने।

बहुत दिनों के बाद जाकर कहीं यह भेद खुलता है कि लुटेरों में यही भला मानुस न था और पुलिस वालों में यही अकेला शरीफ आदमी न था, लगभग सभी ऐसे जियाले सूरमा और भगत थे। सभी किसी न किसी औरत की इज्जत बचाने के लिए जान पर खेलते थे और उस जैसी सैकड़ों लड़कियां बहादुरों की मां-बहनों को कोस रही हैं।

मगर उस वक्त जब यह राज जाहिर होता, पानी सर से गुजर चुका होता। अब तो वह भाग भी नहीं सकती, वह मां बनने वाली है या दो-तीन आदमियों के हाथ बिक चुकी है। इतने मर्दों का मुंह देखकर हिंदुस्तान की बेटी अब कैसे अपने मां-बाप या पति को मुंह दिखाये ?

मैं उन तीन कमसिन लड़कियों को नहीं भूल सकती तो नजफगढ़ के इलाके की रहने वाली थीं। उनमें से एक को गांधीजी के सच्चे भक्त स्वामी जी और नैयरजी[20] ने निकाल कर मेरे पास भेजा। पठान की स्वाभिमानी बेटी ने हसरत के साथ मुझसे कहा—मेरी दो सहेलियों का मौका लग गया और उनका काम बन गया। मेरा न हो सका वरना मैं भी यही करती।

उसने बताया कि हम तीनों एक ही गांव में ले जाई गईं। वे दोनों एक ही आदमी के पास थीं, मैं दूसरे के। बड़ी सख्त निगरानी दोनों की हुई थी मगर हम तीनों जब इकट्ठी होतीं, तो सलाह करतीं कि क्या करना चाहिए। एक दिन उन दोनों ने शाम ही से गंड़ासा छिपाकर रख दिया और रात में जब जाट खर्राटें लेने लगा तो कमसिन लड़कियों ने गंड़ासा उसकी गरदन पर रखकर अपनी पूरी ताकत से उसे दबा दिया।

भला खयाल तो कीजिए चौदह-पंद्रह साल की लड़कियां और खूनी खेल-कत्ल की साजिश करती हैं तो महीनों हिम्मत करने में लग जाते हैं। हाथों में इतनी ताकत

---

19. सुरक्षित।
20. पुराने कांग्रेसी कृष्ण नैयर दिल्ली प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मेंबर, बाद को संसद सदस्य बने।

कहां से लाएं, इसलिए दोनों मिलकर अपना जोर लगाती हैं, मगर फौरन ही जो भयानक आवाज गले से निकलती है, वह उनके हाथ-पैर ढीले कर देती है और भाग खड़ी होती हैं।

मगर आवाज ने घर वालों को असलियत की इत्तिला दे दी। ये कमजोर पैर कहां तक भाग सकते थे। थोड़ी ही दूर पर पकड़ी गईं और बिफरी हुई भीड़ की शिकार बन गईं। फिर भी तीसरी सहेली को यह पछतावा है कि काश वह भी यह कर सकती। और मैं बहैसियत एक औरत से बोल उठी, काश हिंदुस्तान और पाकिस्तान की सब बेटियां ऐसी ही होतीं।

शायद दिसंबर में बापू ने ऐलान किया था कि उस पाप का प्रायश्चित इसी तरह से हो सकता है कि लोग लड़कियां और लूट का माल अपनी मर्जी से खुद वापस करें। चंद खुदा के बंदों ने इस पर सचाई के साथ अमल भी किया। बाड़ा हिंदूराव में तो एक मकान का सहन ऐसे वापस किए हुए सामान से भर गया था और जब मुसलमान दुबारा गांव में आबाद होने लगे तो सुभद्रा ने छकड़ों पर लदवाकर वे तमाम चीजें उनमें ले जाकर बंटवा दीं। सुना है, कुछ लड़कियां भी बापू के पास लाई गईं। इधर गवर्नमेंट भी बापू के बार-बार कहने से चौंकी। पाप को पाप समझने की क्षमता उसमें पैदा हुई और इस सिलसिले में जो मदद हम मांगते थे वह हमें मिलने लगी थी।

लेकिन अब एक दुश्वारी और आन पड़ी ज्यादातर लड़कियां वापस आना न चाहती थीं। मुसलमान दांत पीसते और यह सुनकर नौजवानों के चेहरे कौमी गैरत[21] से सुर्ख हो जाते थे। वे कहते थे लानत है ऐसी बेटियों पर ! इसी दिन के लिए लोग बेटे की दुआ मांगते हैं कि वह जिंदगी में सहारा होता है और बाप के मरने पर खानदान की इज्जत का रक्षक। बेटे के दिल में उस वक्त सिर्फ बदले का जज्बा होता है और ये बेशर्म, वासना-ग्रस्त लड़कियां अपने रिश्तेदारों के हत्यारों के पास ठहरना चाहती थीं।

पाठक अंदाजा नहीं कर सकते कि यह सब कुछ सुनकर बहैसियत एक औरत के मेरी क्या हालत हो जाती थी। मैं उनसे कहती, खुदा के वास्ते इनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति को समझने की कोशिश करो। जरा ठंडे दिल से सोचो वे ऐसा क्यों कर रही हैं ? मगर उनमें से कोई मेरी बात न सुनता और अब अपनी-अपनी कहते रहते।

और फिर मुझे खुद ही जांच करनी पड़ी। इन आम शरीफ और स्वाभिमानी लड़कियों को छोड़ दीजिए जो खुद निकलने के लिए बेपता-ठिकाने खत भेज रही थीं, जो हर पल इस तलाश में थीं कि कब मौका मिले और इस कीचड़ से निकल भागें और जिनके दिलों में मजहब, रिश्तेदारों और इज्जत सबकी मुहब्बत थी, जो हकीकत से अच्छी तरह वाकिफ थीं।

सिर्फ ऐसी परदानशीन, दबी-दबाई, लड़कियों को देखिए जिन्होंने इससे पहले

---

21. जातीय स्वाभिमान।

बाप, भाई के सिवा किसी मर्द की शक्ल भी न देखी थी और अब वे अपनी हैसियत एक आवारा बदमाश लड़की की समझ रही थीं और जो गैर मर्दों के साथ महीनों रह कर, इज्जत गंवाकर फिर वापस लाई जा रही हैं। हिंदुस्तान की रिवायती[22] शर्म और गैरत उसके कदम पकड़ती है और वह सोचती है क्या उसके मां-बाप, पति और समाज उसे दुबारा अपना लेंगे ? इसमें उसे शुब्हा है और इसी डर से वह इंकार कर रही है।

इस दल में कुछ ऐसी लड़कियां भी थीं जिनकी स्वाभाविक वृत्ति यही थी। इस आपाधापी की बदौलत उन्हें मनमानी करने और मौज उड़ाने का मौका मिल गया और जब एक बार वह खुलकर गुनाह की दिलकशी का रस चख चुकीं, तो अब पुरानी संयम की जिंदगी की तरफ लौटने को उनका जी नहीं चाहता था। वह माहौल चाहे जितना गंदा हो मगर था उनके स्वभाव के अनुकूल।

उनमें ऐसी ब्याही हुई औरतें भी थीं जो अपने स्वाभिमानी पतियों को जीवन-मरण का साथी समझती थीं और सोचती थीं यह कालिख लगा मुंह लेकर उनके सामने कैसे जाएं ? इतनी बड़ी बेवफाई को क्या उनका शौहर बर्दाश्त कर सकेगा ? क्या अब उसकी नजर में उनकी कोई इज्जत बाकी रह जाएगी ? यह अहसास उनके पैरों को आगे बढ़ने नहीं देता और वे कहतीं, जो तकदीर का लिखा था पूरा हो चुका। हमें यहीं जिंदगी के दिन पूरे करने दो।

उन सबके अलावा कुछ ऐसी लड़कियां भी थीं जिन्होंने गरीब घरों में आंखें खोलीं। आधा पेट खाया और चीथड़े लगाकर तन ढंका। अब वे ऐसे दयालु आदमियों के हाथ पड़ी थीं जो उनके लिए रेशमी शलवारें और जाली के दुपट्टे लाते थे; जिन्होंने ठंडी आइसक्रीम और गर्म कॉफी का मजा उनको चखाया। दिन भर में सिनेमा के दो-दो शो दिखलाए। ऐसे भले आदमियों को छोड़कर वे फिर चीथड़ों में जवानी छिपाने और खेतों में धूप की तेजी से खोपड़ी पिघलाने अम्मां-बाबा के घर क्यों जातीं ? ये वर्दीपोश शानदार आदमी अगर वह छोड़ दे तो वहां कीचड़ में लथपथ कंधे पर डंडा रखे कोई गंवार खाविंद[23] ही तो उसे मिलेगा। इसलिए वे भयानक अतीत और डरावने भविष्य को भूलकर वर्तमान में खुश रहना चाहती थीं।

उन्हें एक अंदेशा और भी था। कुछ ले जाने वाले दोस्त हों या दुश्मन, क्या पता कहीं ये भी लड़कियों का व्यापार न करते हों। अभी तक जो उन्हें ले गया है उसने किसी न किसी के हाथ बेच ही दिया है। आखिर कहां तक वे बिकती रहेंगी ? ऐसी ही पुलिस की वर्दियां कितनी बार उन्हें इधर से उधर ले जा चुकी हैं। वे इस तुर्रेदार पगड़ी पर कैसे विश्वास करें कि यह उनके रिश्तेदारों के यहां से आई हैं या मुसलमान के भेस में कोई औरतों की खरीद-फरोख्त करने वाला है। बदगुमानी उस समय तक

---

22. परंपरागत।
23. पति।

दूर होती जब तक कि वे घसीट कर न लाई जातीं और दो-एक दिन न रहतीं।

रहा मजहब तो उसके बारे में वे जानती ही क्या थीं। मर्द तो जुम्आ[24] पढ़ने, अलविदा[25] पढ़ने, ईद की नमाज पढ़ने मस्जिद जाया भी करते थे और मुल्लाजी का वाज भी सुना करते थे। मगर औरतों को तो कभी मुल्लाजी ने खड़ा ही न होने दिया। जवान लड़कियों को देखते ही न जाने क्यों उनकी आंख में खून उतर आता था। भागो, चलो तुम्हारा यहां क्या काम है ? जैसे वे कुत्ता हैं कि हर जगह से दुतकारी जाएं। चोर था अपने जी में और भगाई जाती थीं वे। मस्जिद में आ गईं तो सबकी नमाज खराब होगी। वाज[26] सुनने आएंगी तो लोगों का ध्यान बंट जाएगा। दरगाह में जाएंगी तो मर्दों से धकापेल होगी और कव्वाली की महफिल में शरीक होंगी तो सूफियों के दिल हकीकत[27] के बजाय मजाज[28] की तरफ झुक जाएंगे। कैफियत[29] तारी न होगी।

उन्हें क्या पता मजहब क्या है ? थोड़ी-सी नमाज और कलमे के सिवा उनको सिखाया भी तो कुछ नहीं गया था और न जाने उसके माने क्या हैं ? क्या मतलब है ? उन्होंने रटकर याद तो कर ली मगर दिल से उसका क्या ताल्लुक ? उसका अपना नाम रहीमतन है, उसके अब्बा का रमजानी और शौहर का नवाब इदरीस। इस्लामी नामों के सिवा और उसके पास क्या रखा है जिसकी हिफाजत के लिए जान दे ?

और भई, इस मजहव के खुदा न तो उसको इतने आराम से कभी रखा भी न था। इस नए आदमी का ईश्वर तो बड़ा ही अन्नदाता है। बकने दो सबको, वह हरगिज इस नए आदमी को न छोड़ेगी, जिसने उसकी दुनिया इतनी रंगीन बना दी है।

चंद नए जमाने की तालीमयाफ्ता[30] लड़कियां भी थीं जिनके नजदीक इंटरनेशनल शादियों के बगैर दुनिया के मसले हल ही न हो सकते थे। जो हंगामे से पहले ही मजहब और समाज के बंधन तोड़कर अपनी आजाद खयाली का सबूत देना चाहती थीं और अब मौका पाकर उन्होंने भी बहती गंगा में हाथ धो लिए थे। उन पढ़े-लिखे शैतानों को वश में करना भला सोशल वर्कर्स के बस की बात थी ?

मुझे कुछ नौजवान औरतें ऐसी भी मिलीं जिन्होंने तिरस्कार और गुस्से के साथ उन पतियों के पास जाने का प्रस्ताव ठुकरा दिया, जो इतने बुजदिल साबित हो चुके हैं कि अपनी इज्जत, खानदान की लाज और अपने बच्चों की मां दूसरों के हाथों में छोड़कर भाग खड़े हुए। वे पिछली घटनाएं याद करके गुस्से से पागल हो जातीं और

---

24. शुक्रवार की नमाज।
25. रमजान के महीने का अंतिम शुक्रवार।
26. प्रवचन।
27. वास्तविकता, खुदा।
28. भ्रम, खुदा के अलावा सारी दुनिया।
29. मस्ती।
30. पढ़ी-लिखी।

कहतीं :

"हम उन नामर्दों के पास वापस जाएं ? हम उनको पुकारते रहें। हमने कहा बचाओ, खुदा के लिए बचाओ। तुम हमें छोड़कर भागे जा रहे हो, उन बदमाशों को मारते क्यों नहीं हो ? ठहरो ! हमें भी साथ ले चलो ! मगर उनको अपनी जान प्यारी थी। हमसे न कुछ मुहब्बत थी, न खयाल। हम तो अब उनकी सूरत भी देखना नहीं चाहते। वे हमें अपने हाथ से मार क्यों न गए ?"

और सृष्टि के आरंभ से आज तक हिम्मत और बहादुरी की कद्रदान है। वह उस पति को याद करके तड़पती है और उस याद पर दीन-दुनिया न्योछावर करती है जो उसे बचाने के लिए अपनी जान दे देता है। वह उसकी भी पूजा करती है जो अपने हाथ से उसको गोली मार देता है। मगर उस बुजदिली को माफ करना, उसका दिल गवारा नहीं करता जो उसे छोड़कर भाग जाए। कुदरत तो अजीब-अजीब खेल खेलती है। कामदेव के तीर भी उन्हीं दिनों जख्मी दिलों में पैवस्त[31] होने थे और सचमुच दो-चार को मुहब्बत का तीर भी लग गया। हठधर्मी की बात दूसरी है, मगर इन सच्ची घटनाओं की सचाई को झुठलाना मेरे लिए नामुमकिन है।

बहरहाल ये हालात हमें बताते थे, कि मामला इतना आसान नहीं है। जितना समझ रखा था। अब यह कार्यकर्ताओं का काम था कि उनको इत्मीनान दिलाएं, तसल्ली दें, भरोसा पैदा करें और नरमी के साथ उनका दिल बदलें। लेकिन मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हम सब नालायक थे। हममें वह स्पिरिट न थी जो ईसाई मिशनरियों की खासियत है और जिसकी उस वक्त जरूरत थी। मनोविज्ञान को समझने की क्षमता हममें से किसी में न थी, न हमने कोशिश की। वे चंद रटे हुए वाक्य जो ऐसे मौकों के लिए खास तौर से इस्तेमाल किए जाते थे अक्सर बेअसर साबित होते और हम नाकामयाब होकर उलटे उन्हीं लड़कियों को बुरा-भला कहने लगते थे।

उधर पुलिस ज्यादातर लड़कियों की बेजा[32] हठ और अपहरण करने वालों की बेजा हिमायती बन जाती थी और फिर अफसर थे जिनकी कोशिश यह होती थी कि अगर मुमकिन हो तो खुद कारकुन को किसी केस में फांसकर जेल की हवा खिला दें वरना अवाम और गवर्नमेंट की नजर में तो जरूरी ही मुजरिम ठहरा दें। और फिर अंधी पब्लिक जो यह भूल जाती थी कि जिस लड़की को रोकने के लिए वे एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं उनकी अपनी किसी ऐसी बहन का रूप है जो पाकिस्तान में अपने जनम और भाइयों के काम को रो रही है। हजारों की टोलियां हिंदुस्तान और पाकिस्तान से आई और गईं मगर उनमें पढ़ी-लिखी लड़कियां बहुत ही कम आईं। किसान, मजदूर पेशा और मिडिल क्लास की जाहिल लड़कियां ज्यादातर देहात की रहने वाली आती

31. चुभे हुए।
32. अनुचित।

थीं। मैंने जहां तक छानबीन की, यही पता चला कि ज्यादातर पढ़ी-लिखी लड़कियां मार दी गईं। जो बच रहीं वे ऊंचे अफसरों, शासकों या पढ़े-लिखे लोगों के पास हैं। और काबिल मजिस्ट्रेटों की अदालतें लुटेरों, गुंडों और चोर-डाकुओं को सजा देने से ज्यादा यह काम जरूरी समझती रही हैं कि उनको दो-तीन साल पहले सिविल मैरिज का सर्टिफिकेट दे दें। हर जगह अदालतों ने इस काम को बड़ी खूनी से अंजाम दिया। खुद दिल्ली के एक बड़े लोकल अफसर के पास ऐसी लड़कियां मौजूद हैं मगर उन पर हाथ कौन डाल सकता है ? जुबैदा नाम की एक लड़की तो कैंटूनमेंट के अस्पताल में भी कई दिन रही थी, लेकिन मैं उसे नहीं निकलवा सकी।

तालीमयाफ्ता लड़कियों ने शर्म वगैरह की वजह से अक्सर अपने नाम भी तब्दील कर लिए और चंद अपनी ज़ाती[33] कोशिश से निकल भी आईं। इसी तरह की एक लड़की ने एक दिन मुझे टेलीफोन किया। वह बात कर रही थी कि कोई आ गया और उसने खट से रिसीवर पटक दिया। वाक्य पूरा न हुआ था मगर पता वह बता चुकी थी और पुलिस भेजकर उसको मंगवा लेना आसान हो गया।

ज्यादातर बाअसर[34] लोगों ने पढ़ी-लिखी लड़कियों को अपनाया, कुछ ने बाकायदा सिविल मैरिज भी कर लीं। मगर वे थाली का बैंगन न बन सकीं और जहां ऐसी सूरत पैदा हुई उन्होंने विरोध किया जिसका नतीजा यह हुआ कि वे कत्ल कर दी गईं।

मुझे डॉ. सैयद मुस्तफा (पानीपत) की लड़कियों के बारे में मालूम करना था। एक विद्यार्थी बनारसी शर्मा छुट्टियों में पूर्वी पंजाब जा रहे थे। उनसे कह दिया कि जरा हालात की तहकीक[35] करते आना। वहां से जो खत उन्होंने लिखा उसका मजमून कुछ इस तरह है :

"डॉ. सैयद मुस्तफा गवर्नमेंट डिस्पेंसरी में डाक्टर थे। जब फसाद शुरू हुआ तो उन्होंने एक वैश्य के घर पनाह[36] ली, बल्कि वह खुद इसरार करके अपने घर ले गया और चोरी-छिपे दंगाइयों को खबर कर दी। डाक्टर, उनकी बीवी और घरवालों को कत्ल कर दिया गया। डाक्टर को एक तख्ते पर लिटाकर, हाथ-पैरों में कीलें ठोककर मसीह की तरह सूली दी गई और दो नौजवान लड़कियों को लेकर बलवाई चले। बलवाइयों में से दो-एक ने कहा, "क्या करते हो, ये पढ़ी-लिखी लड़कियां आस्तीन का सांप न साबित हों। हटाओ, इनको भी मार दो ! पक्का यकीन है कि बाहर ही वे दोनों भी कत्ल हो गईं।"

बनारसी ने मौला लका उल्लाह[37] से भी मिलकर तसदीक की। उनको भी शक

---

33. व्यक्तिगत।
34. प्रभावशाली।
35. अनुसंधान।
36. शरण।
37. मौलाना लका उल्लाह मशहूर कौमी कार्यकर्त्ता।

था कि जिंदा नहीं हैं और ब्राह्मण दोस्त ने भी रो-रोकर यही कहा कि उनकी तरफ से विरोध और भेद के खुल जाने का अंदेशा था इसलिए जिंदा न छोड़ा गया। सुना है गवर्नमेंट भी इंक्वाइरी कर चुकी है।

जाहिर और पढ़ी-लिखी दोनों लड़कियां एक और मुसीबत में भी गिरफ्तार थीं। जब उन्हें लेने पुलिस या कार्यकर्ता पहुंचते, तो वे इस सोच में पड़ जातीं कि क्या इस होने वाले बच्चे को भी मां-बाप या पति बर्दाश्त कर सकेंगे ? कहीं ऐसा न हो, कौमी गैरत उनको उसके कत्ल पर मजबूर कर दे। गरज यह कि इंकार करने का यह कारण था जो हम सबके लिए हैरानी का सबब बना हुआ था।

जनवरी, 1948 से लेडी माउंटबैटन की रहनुमाई[38] में बाकायदा एक महकमा खुल गया था जिसकी मातहती में सारे हिंदुस्तान और कुल पाकिस्तान में लेडी वर्कर काम कर रही थीं और महकमे का संबंध सेंट्रल रिकवरी से[39] था। बाद में गवर्नर जनरल का आर्डिनेंस भी निकल गया।

पहले दोनों हुकूमतों ने तय कर लिया था कि जो लड़की किसी दूसरे फिरके के पास हो, बरामद कर ली जाए। लेकिन नौकरशाही ने इस समझौते का इस तरह पालन किया कि हर लड़की का बयान मजिस्ट्रेट के सामने हो। अगर वह जाना चाहे तो रिश्तेदारों के पास पहुंचा दी जाए, न जाना चाहे तो उसी शख्स के पास वापस कर दी जाए।

इस उसूल पर काफी दिन अमल होता रहा और बहुत-सी लड़कियां उन्हीं बदमाशों के घर वापस हो गईं। मगर अब संगठित ढंग से जांच शुरू हुई तो यह मुसीबत भी कम हो गई। इससे पहले एक इंस्पेक्टर साहब ने दो लड़कियां किसी देहात से बरामद कीं। लेकिन न वे हमारे पास आईं न यह पता चला कि कहां भेजी गईं। इंस्पेक्टर साहब एक बार इत्तिफाक से मिल गए तो अपनी कारगुजारियां[40] गिनवाने लगे कि मेरा इलाका साफ है, जितनी थीं मैंने भेज दीं। मैंने पूछा मगर वे दोनों लड़कियां जो फलां महीने में आप लाए थे उनको कहां भेजा है, हमें मालूम न हो सका। कहने लगे उनको हमने जामा मस्जिद छोड़ दिया कि अपने रिश्तेदारों को यहां तलाश करके चली जाओ। वे कौन थीं, कहां से आईं और कहां गईं ? इसको बताने की न उनको फुर्सत थी, न जरूरत। इतना काफी था कि तादाद रजिस्टर हो चुकी है।

यही इंस्पेक्टर साहब एक लड़की और लेकर आए और कहला भेजा कि लड़की उसी आदमी के घर जाना चाहती है। यह देखिए उसका बयान है जो उसने मजिस्ट्रेट के सामने दिया है। लड़की इंस्पेक्टर साहब से चिपटी खड़ी थी और चीख-चीखकर रो रही थी। बुलाने से किसी तरह न आई तो मैंने हाथ पकड़कर उसे थानेदार साहब से

---

38. नेतृत्व।
39. सेंट्रल रिकवरी आर्गेनाइजेशन जिसका संबंध सीधे गवर्नर-जनरल या गवर्नमेंट हाउस से था।
40. किए गए कार्य।

अलग किया और बहलाती-फुसलाती अंदर ले चली। कमरे में दाखिल होते हुए उसने आंसू रोककर पूछा तुम हिंदू हो कि मुसलमान ? मैंने कहा क्या तू मुझे हिंदू समझ रही है ? कहने लगी तौबा, मैं समझी मुझे सिखों को देने के लिए ले जा रहे हैं। अल्लाह तेरा शुक्र है। अपने मुसलमानों में आ गई। गजब है, उसे यह तक न बताया गया था क्यों लिए जा रहे हैं, कहां लिए जा रहे हैं।

फिर तो वह पैर फैलाकर फर्श पर बैठ गई। कहने लगी मेरी ससुराल वाले अगर जिंदा होंगे तो उनके पास भेज दोगी ? मैंने इत्मीनान दिलाया कि जरूर। तुझे लेकर मैं क्या करूंगी ? इसीलिए तो बुलाया है। बस खुश हो गई। अपने सब जेवरात उतार कर उसने इंस्पेक्टर को भिजवा दिया और कह दिया कि अब कहीं नहीं जाने की, यहीं रहूंगी। जेवर उसी आदमी के थे, इसलिए वापस कर दिए।

यह सब बमुश्किल 45 मिनट में हुआ होगा। मजिस्ट्रेट के सामने जो बयान उसने दिया था, वह इसलिए दिया था कि एक ठिकाने जैसी रह रही है, भली है। दस घर क्यों देखे ? बयान इंस्पेक्टर साहब को वापस कर दिया गया और लड़की दूसरे दिन कैंप में अपनी सुसराल वालों के पास पहुंच गई। उसका शौहर भी जिंदा था।

इंस्पेक्टर साहब उस इलाके में तैनात थे जहां कई सौ अपहृत लड़कियां उस वक्त मौजूद थीं और उनमें से दो खुद इंस्पेक्टर साहब के लिए खास तौर से रखी बताई जाती थीं, जो किसी जैलदार की अमानत में थीं। गवर्नमेंट का हुक्म था और एक बड़े लोकल अफसर से उनको अपनी पिछली बदमाशियों पर परदा डालने के लिए कारगुजारी का बेहतरीन सर्टिफिकेट भी हासिल करना था इसलिए एक बार उन्होंने दो लड़कियां और भिजवाईं। लड़कियां एंग्लो-इंडियन एस.पी. के सामने पेश कीं, मगर साथ ही यह भी कह दिया कि ये अपने मां-बाप के पास नहीं जाना चाहती हैं। मजिस्ट्रेट का दस्तखती बयान साथ है। दिल्ली के एक मजिस्ट्रेट साहब मुस्तकिल तौर पर शायद यही काम करते थे कि बयान लिखवाएं और अपने दस्तखत कर दें।

इत्तिफाक से सुभद्रा वहां मौजूद थीं, उन्होंने मेरे पास भेजने की सिफारिश की। थानेदार परेशान होकर कह उठा, वहां न भेजिए। वह रोक लेती हैं। फिर वापस नहीं आने देतीं।

एस. पी. ने डांटा—नहीं, नहीं। वहां ले जाओ, उनका फैसला ठीक होगा। वह समझा लेंगी।

मजबूर लड़कियां लाई गईं और सचमुच वही हुआ। मैंने एक रात की मोहलत ली और उसी वक्त दोनों को लेकर पुरानी तहसील गई जहां उनके अजीज मौजूद थे। एक ने तो उर्दू बाजार ही में भाई को देखकर चीखना शुरू कर दिया और भीड़ से घबराकर बमुश्किल में तहसील तक पहुंच सकी। रिश्तेदारों से मिलकर उनके गले लगकर उन्होंने साफ मना कर दिया कि अब हम वापस नहीं जाएंगी।

इसी तरह एक दूसरे इलाके के थानेदार साहब चार लड़कियां लेकर आए। आदमी

माकूल[41] थे, न बयान का जिक्र किया, न वापसी की। सिर्फ मेरे सुपुर्द करके चले गए तो मैं खुश हुई कि चलो एक भला आदमी तो दिखा।

मगर हैरत हो गई जब दूसरे दिन अखबार में देखती हूं कि...इंस्पेक्टर साहब ने चार सौ लड़कियां...इलाके से बरामद कराईं। लेकिन यह तब का जिक्र है जब तक गवर्नमेंट ने बाकायदा कैंप न खोला था और दिल्ली में कहीं रखने का ठिकाना न था। लड़कियां किसके पास हैं ? जानते सब थे मगर पकड़ने की हिम्मत किसी में न थी। उधर गांधीजी का और कोई कहना तो अफसरों ने माना नहीं—यह मान लिया कि जिसके पास से लड़की बरामद हो उसको कुछ न कहो। हालांकि मेरे सामने की बात थी, बल्कि हम सबने ही बापू से कहा था कि अगर आप यह ऐलान करा दें कि जो अपने पाप पर पछताकर लड़की वापस कर दे, उसको सजा न दी जाए तो इस लालच में शायद बहुत-सी लड़कियां मिल जाएंगी, कि सजा से बच जाएंगे। हमें अंदेशा है कि जिस मुहल्ले या गांव से पुलिस एक लड़की निकाल लाएगी, वहां दूसरी भगाई हुई लड़कियां जितनी होंगी कत्ल कर दी जाएंगी।

इस ऐलान को महीनों गुजर गए। जो खुद पहुंचा गए उनकी बात दूसरी थी मगर और किसी के कान पर जूं तक न रेंगी। लेकिन अब उनको बापू का कहना याद आ रहा था और सरकारी कर्मचारी तक से जो मामूली-से जुर्म पर कानूनन सजा का मुस्तहक[42] करार पाता है, इतने बड़े जुर्म पर चंद दिन के लिए मुअत्तल[43] तक न किए गए।

कुछ समझ में न आता था कि आखिर हुकूमत इतने बड़े पापियों के बलबूते पर कैसे अपना निजाम[44] चलाएगी। खुद कानून के खिलाफ हरकतें करने वाले कैसे दूसरों से कानून की पाबंदी करा सकेंगे। आम लोगों को छोड़ दिया जाए, अच्छी बात है। उनमें बहुतेरे बहके हुए हैं, जाहिल हैं। वे तो हवा के साथ उड़ने वाले तिनके हैं अपने किए के जिम्मेदार भी वे खुद हैं। मगर ये अदालतें, ये मजिस्ट्रेट, ये पुलिस के अफसर, ये जो देश के रखवाले, रक्षक और कर्ता-धर्ता हैं यही जब पापियों की पीठ पर हाथ धरेंगे, उनके साथी और मददगार बनेंगे तो आखिर इंसाफ करने वाले कहां से आएंगे और मुजरिम किसका नाम रखा जाएगा ?

और तब हमारा दिमाग अतीत की तरफ भटकने लगता। हमें याद आता कि उस बदनाम अंग्रेज गवर्नमेंट के वक्त में अगर कोई अपहरण की वारदात होती थी तो भागने वाला और मदद करने वाला सभी कानून की गिरफ्त में आ जाया करते थे। अभी तो शायद पुराना कानून ही चल रहा है। नया तो अभी बना भी नहीं है। फिर यह अंधेर नगरी कैसी की चौदह बरस की नाबालिग लड़की से अदालत में बयान दिलवाया

---

41. भला।
42. अधिकारी।
43. सस्पेंड।
44. व्यवस्था।

जाए और उसका बयान दोनों हुकूमतों[15] के करार और देश व समाज के कानून सब पर हावी समझा जाए ? इसमें कोई शक नहीं कि ये दुश्वारियां दोनों तरफ थीं, दोनों तरफ की नौकरशाही एक ही फैक्टरी में तैयार हुई थी और दोनों जगह अपने कर्मचारियों के नैतिक अपराधों पर परदा डाला जा रहा था।

जहां तक सोचा और समझा यही अंदाजा हुआ कि गांधीजी चाहते थे हम कानून को अपने हाथ में न लें। व्यक्तिगत रूप से बदला लेने का खयाल दिल में न लाएं। अगर किसी को नुकसान पहुंचा है तो उसे माफ कर दें। वजह जाहिर थी कि फिर बदले का चक्कर और बदले के बदले का सिलसिला चल पड़ेगा और दंगे-फसाद का दरवाजा खुल जाएगा। इसलिए वे सजा देने का हक कानून को सौंप देने के पक्ष में थे। लेकिन वे गवर्नमेंट से ओहदेदारों के नैतिक अपराधियों की पंक्ति में देखने हरगिज पसंद न करते। वे तो आजादी की लड़ाई के राजनीतिक अपराधियों तक को सलाह देते थे कि सजा से बचने की कोशिश न करें और एक मशहूर हस्ती[16] को उन्होंने मजबूर कर दिया था कि वह अपने को पुलिस के हवाले कर दें। वे तो इंसाफ को सचाई की तराजू में तौलने पर तुले हुए थे। उनका रामराज्य तो आंखों वाला, दिलेर और मुंसिफ राज था। वह अंधेर नगरी, चौपट राज तो बापू का ख्वाब हो नहीं सकता।

लेकिन अब इन दिनों तो बापू के अनुयायी भूल ही गए थे कि कांग्रेस गवर्नमेंट की बुनियाद धर्म, सचाई और अहिंसा पर होनी चाहिए और मुल्क को याद भी न था कि इस सरकार और आजादी के जन्मदाता बापू हैं इसीलिए तो वह अपने आखिरी वक्त में कहते थे :

"क्या उन लोगों ने जो आज हमारे बीच में नहीं हैं, मुसीबतें इसलिए भोगी थीं और जीवन के सारे ऐश-आराम छोड़कर इसीलिए बलिदान किया था, कि गोरों के बदले कालों के लुटेरेपन का दौरदौरा हो जाए।" (11 जनवरी, 1948 ई. प्रार्थना सभा)

एक बार उन्होंने व्रत के बाद इस तरह अपने दुख को जाहिर किया था :

"आजादी की जंग लड़ने वालों ने अपने को तमाम नैतिक पाबंदियों से आजाद कर लिया है और उन लोगों के साथी बन गए हैं जो आंदोलन के खुले हुए विरोधी थे।" (12 जनवरी, 1948 प्रार्थना सभा)

बहरहाल मैं न कोई कांग्रेस लीडर थी, न गवर्नमेंट आफिसर। एक आम शहरी की हैसियत से जो देखा और महसूस किया लिख रही हूं। हम भी यही सोचते थे कि जो बुराई हमारे साथ हो उसका बदला लें और हमारी सरकार भी यही सोचती थी कि

---

15. हिंदुस्तान और पाकिस्तान की सरकारों ने आपस में यह तय किया था कि जो लड़की किसी दूसरे संप्रदाय के पास हो जबरदस्ती बरामद करके रिश्तेदारों को, और जब तक रिश्तेदार न मिलें, उस वक्त तक सरकार को दे दी जाए। यानी सरकार के कायम किए हुए कैंप में रख दी जाएं।

16. मि. हरि विष्णु कामथ, स्वतंत्रता सेनानी और संसद सदस्य।

जितना कदम विरोधी का उठे, हम भी उठाएं। सारी भलाई के ठेकेदार हम भी थोड़ी हैं। जब वे नहीं करते तो हम क्यों करें ? दोनों हुकूमतें[47] अपने अफसरों की बदमाशियों को सराहती रहीं और अगर हालत यही कायम रहती, तो पता नहीं क्या होता ? वह तो कहिए खैर गुजरी कि जल्दी ही कांग्रेस सरकार को भूला हुआ सबक याद आने लगा।

मार्च में हुस्न बी नाम की एक बीस साला लड़की मेरे पास किसी पुलिसमैन के घर से लाई गई। जैसा कि आम तौर पर होता था, रटी हुई एहसानों की कहानी उसने भी सुनाई। लेकिन उसके पति का नाम मैंने लिया तो आंख में आंसू आ गए, जब्त करके बोली, मुझे यकीन है उनका कत्ल हो गया। अगर वे जिंदा हों या मेरा चचा, जो मेरी देवरानी के बाप हैं, मिल जाएं तो मैं उनके पास जा सकती हूं, वरना और कहीं नहीं जाऊंगी।

जो फेहरिस्त हमारे पास थी, उसमें हुस्न बी की गोद में दो साल की बच्ची भी लिखी थी। मगर बच्ची साथ न थी। वह पुलिसमैन ने अपने पास रख ली थी और मजिस्ट्रेट के सामने भी उसका जिक्र न आया था। तमाम दिन तड़पती रही, रोती रही। शाम होने पर बच्ची की याद ने उसे बहुत ही बेकरार कर दिया। मालूम नहीं बच्ची वहां किस हाल में होगी। मुश्किल यह थी कि मुझे उसके घर का पता भी मालूम न था। एक दिन और एक रात के बाद उसे पुलिस के सबसे बड़े आफिसर के सामने पेश होना था और मुझे दूसरे दिन इलाहाबाद भी पहुंचना था। सुबह मैं इलाहाबाद चली गई। मौलाना मुहम्मद मियां[48] को जमीअत के आफिस में फोन कर दिया और सबसे कह भी गई कि कल जब अफसर के सामने पेश हो तो बच्ची उसकी गोद में दिलवाकर बयान लिया जाए।

मगर ऐसा नहीं हुआ। औलाद की ममता में तड़पती हुई मां ने कह दिया कि मैं फिर वहीं वापस जाऊंगी। और यह बयान रजिस्टर में दर्ज हो गया। हुस्न बी अब तक पुलिसमैन के कब्जे में है। मैंने हरचंद कोशिश की मगर उसे निकलवा न सकी।

और सुनिए। दो सिख पुलिस वालों के पास से दो लड़कियां आई हैं। कैंप कायम हो चुका है मगर ये लड़कियां चूंकि पुलिस की चहेती हैं इसलिए वे कैंप में नहीं बल्कि नर्सिंग होम में रखी जाती हैं। जहां उन दोनों सिखों को मिले और खाना पहुंचाने की भी इजाजत दी जाती है। एक लड़की बीस-बाईस साल की बदमाश देहातन है—दूसरी एक इज्जतदार खानदान की बहुत ही हसीन कमसिन लड़की है। पंद्रह दिन नर्सिंग होम में साथ रहकर दोनों गहरी दोस्त बन जाती हैं। बड़ी लड़की छोटी को सिखाती है कि

---

47. हिंदुस्तान और पाकिस्तान की सरकारें।

48. जमीअत-उल-उलमा ए-हिंद की एक मशहूर हस्ती और कई किताबों के लेखक। उन दिनों आफिस के इंचार्ज थे।

हम दोनों भूख हड़ताल करके अपनी मांग मनवा लेंगे। अगर इस पर भी न माना, तो भागने का बंदोबस्त पूरा है, निकल आएंगे मगर हां न करना।

मैं इलाहाबाद से आई तो दोनों लड़कियां मेरे पास लाई गई। बड़ी की बदतमीजी, बेहयाई और सुधरने की उम्मीद न देखकर मैं उसे दूसरे ही दिन लाने वालों की मंशा और उम्मीद के खिलाफ कैंप में छोड़ आई। छोटी लड़की के रिश्तेदार, बल्कि बाप मुझे मालूम था कि जिंदा है इसलिए उनको जमीअत के जरिए खबर भिजवाई और एक-दो दिन इसलिए अपने पास रोक लिया कि समझा-बुझाकर उसे राहेरास्ते पर ले आऊं। पढ़ी-लिखी लड़की है बुरी सोहबत का असर खत्म होते ही अपने ठिकाने आ जाएगी।

घर में दोनों तरफ पुलिस का पहरा है। सामने फाटक पर हथियारबंद गार्ड तैनात हैं। मगर पंद्रह बरस की लड़की रात के अंधेरे में गायब हो जाती है और उस वक्त ऐसा लगता है पुलिस जमीन उलट-पुलट कर देगी, आसमान के छिलके उधेड़ डालेगी। मगर पूरा हफ्ता बीत गया और लड़की का पता न लगा।

और फिर एक रोज एक मुस्लिम वकील आकर खबर देते हैं कि आज फलां मजिस्ट्रेट के सामने कमला के फर्जी नाम से लड़की से बयान दिलवाया जा रहा था। वह इकरार कर रही थी कि मैं सिख बन चुकी हूं।

मैंने यह सुनते ही एक जिम्मेदार अफसर को फोन किया कि आप लड़की कहां तलाश करवा रहे हैं, वह तो अपने ठिकाने पहुंच चुकी है और एक लोकल अफसर की मदद से कानूनी कार्रवाइयां हो रही हैं लेकिन अब वह उस घर में नहीं है। अफसर, उनके सेक्रेटरी और मजिस्ट्रेट सब इस मामले में दिलचस्पी ले रहे हैं।

बहरहाल फिर कोशिश हुई और लड़की उसी दिन फिर लाई गई। अबकी बार पुलिसमैन भी गिरफ्तार हुआ। मगर यह तय न हो सका कि उसे रखा कहां जाए। मैं उस लड़की को बदमाशी पर मजबूर करती थी और कैंप की व्यवस्थापिका बहुत ही जालिम थी। गरज इस किस्म के बहुत से कारण बताए गए।

और फिर एक बड़े अफसर के हुक्म से पुलिसमैन को रिहा करके लड़की फिर उसे सौंप दी जाती है मगर इस शर्त पर कि जब बुलाई जाए, फौरन हाजिर करो।

पुलिस अफसर ने मुझसे कहा, फौरन इसके बाप को बुलाइए। मैं जो कुछ कर सकता था मैंने कर दिया है। आखिरकार उसका बाप और चचेरा भाई दोनों आकर उसे ले जाते हैं। मगर मामला खत्म नहीं होता। प्राइम मिनिस्टर को रिपोर्ट पहुंचती है कि लड़की हाथ-पैर बांधकर ले जाई गई। जाहिर है यह खबर उनको अच्छी न लगी। और फिर सुना इंक्वायरी हुई, लेकिन जो होना था हो चुका। उस लड़की को मुसलमान किसी हालत[49] में छोड़ना नहीं चाहते थे। मैंने पहले ही कह दिया था कि अगर इसमें दखलअंदाजी की गई तो पूरी कौम उसे अपनी तौहीन समझेगी। मगर अफसर जितने

---

49. लड़की इज्जतदार घराने की सैयद जादी थी।

अड़ंगे लगा सकते थे, लगाते रहे।

इस तमाम फिला-फसाद में सबसे ज्यादा शर्मनाक चीज औरतों का अपहरण था जो इतने बड़े पैमाने पर और ऐसी बेहयाई और बुजदिली के साथ किया गया कि उसकी नजीर[50] नहीं मिल सकती। बापू के सामने सिर्फ उसका जिक्र ही रहा और इक्का-दुक्का लोगों की कोशिशें जारी रहीं। यह सबको मालूम था कि यह पाप, हिंदू-मुसलमानों का यह गुनाह उनकी जिंदगी अजीरन[51] किए हुए है और इसलिए कौम परस्त[52] तबका हर लम्हा इस फिक्र में रहता था कि कोई एक काम तो वे ऐसा कर लें जिससे बापू के होंठों पर मुस्कराहट आ जाए। अपनी जिंदगी ही में उन्होंने डॉ. सुशीला नैयर को रियासतों के लिए नामजद[53] किया था। मृदुला पाकिस्तान की दौड़ लगा रही थीं और बहुत से कार्यकार्ता पूर्वी पंजाब और दिल्ली की सूची बनाने में लगे हुए थे। जमीअत के वालंटियर सरगरमी के साथ काम कर रहे थे और काफी लड़कियां वापस भी दिला चुके थे। कुछ कांग्रेसमैन देहातों में अपनी कोशिश शुरू कर चुके थे। मगर इस पाप को मिटाने का सेहरा कौमपरस्त नौजवानों के सर है। बूढ़े, तो ऐसा लगता था शिथिल हो गए हैं। बजाए मदद के, अक्सर वे हमारी राह में रुकावट साबित होते थे। मगर अब बापू के बाद यह मसला जादू की तरह सबके सर पर सवार हो गया था। सुशीला नैयर ने पटियाला का रुख किया। मृदुला साराभाई की दौड़-धूप और बढ़ गई और हुकूमतों ने करवट ली। दरियागंज में एक स्कूल की खाली इमारत को कैंप करार दिया गया। शहर के दूसरे मुहल्लों में पाकिस्तान से आनेवाली औरतों के लिए होम खोले गए और यूनाइटेड कौंसिल फॉर रिलीफ एंड वेलफेयर के मातहत यह काम शुरू हो गया। पहले लेडी माउंटबैटन उसकी संरक्षक थीं और अब गवर्नर-जनरल। लड़कियों के झुंड जिन्हें 'गल्ला' कहना ज्यादा मुनासिब है रियासतों से लाए जाते और दरियागंज कैंप में भर दिए जाते थे। नौजवान व्यवस्थापिका मां की ममता कहां से लाती जिसकी उस वक्त जरूरत थी। उनका ज्यादा वक्त गृहस्थी के कामों, और दफ्तर की लिखत-पढ़त में गुजरता। वैसे ही कम बोलने वाली थीं इस पर...की मनाही कि आनेवालों से कोई बात न करे, उनसे कुछ पूछा न जाए, उनको छेड़ा न जाए, पिछली घटनाओं का कोई जिक्र न आए।

आनेवालियां दुखे दिल और बिगड़े हुए दिमाग लेकर आती थीं। यहां दिल की भड़ास न निकलती, कोई काम न मिलता, कोई बात न करता। नतीजा यह होता कि सिवाय ऊपर से नीचे तक कुलांचे मारने, आपस में लड़ने या पिछले दिनों को याद करके रोने के और कोई काम उनके पास न था।

---

50. मिसाल।
51. कठिन।
52. राष्ट्र-भक्त।
53. मनोनीत।

मेरा चूंकि कैंप से सीधे कोई ताल्लुक न था इसलिए कभी-कभी जाती थी तो मुझे दफ्तर ही में यह हिदायत मिल जाती थी कि इनसे बात न कीजिएगा। बहुत बदतमीज हैं, बहुत गालियां बकती हैं। लाचार, एक नजर देखकर कैंप का जायजा लेकर वापस आ जाती थी।

लेकिन उस व्यवहार का उन पर बहुत खराब असर पड़ा। वे अपने दिल का बुखार न निकाल पाई और उनका गुस्सा बढ़ता ही गया। किसी ने उनको तसल्ली नहीं दी। उनको कोई उम्मीद नहीं दिलाई गई, जो इंसान होने के नाते उनसे की जाती थी। डूबते को तिनके का सहारा बहुत होता है लेकिन वह तिनका भी उनके हाथ नहीं लगा। उनको यह भी तो मालूम न हो सका कि उसके बाद उनका क्या हश्र होगा। जिनके रिश्तेदार आ जाते वे चली जातीं, खुश-खुश जाती थीं मगर सैकड़ों ऐसी भी थीं जो बिना किसी उम्मीद या सहारे और रोशनी के पाकिस्तान भेज दी गई और जाते वक्त चीखती, बकती और गालियां देती सवार हुई।

कैंप के फाटक पर सशस्त्र पुलिस थी। मगर अपहरण करने वाले बदमाश उनको दुबारा वापस ले जाने की उम्मीद में हर वक्त जमा रहते। लड़कियां अंदर से चीखकर इशारों में अपना पैगाम पहुंचा दिया करतीं और वहां से पहरेदारों के हाथ मिठाई और फल भी आ जाते। यह हालत इसलिए थी, कि आफिस भी यहीं था और आफिस में शिकवा-शिकायत करने के बहाने वे आ जाया करते थे।

और एक रोज पाकिस्तान से ग्यारह सौ हिंदू औरतों और बच्चों का काफिला दिल्ली आया। मुझे नहीं मालूम कितनी यहां रहीं और कितनी अपने रिश्तेदारों के यहां गईं। लेकिन मैंने दो कैंप देखे, जो भरे हुए थे। पढ़ी-लिखी हिंदू, सिख औरतें अपनी कौम का बोझा उठाने के लिए तन, मन, धन से कोशिश कर रही थीं आरजी पढ़ाई का बंदोबस्त उन्होंने कर लिया था। दस्तकारी भी सिखाई जा रही थी। कैंप साफ-सुथरा था और हालत बहुत इत्मीनानी थी। वहां भी हठी लड़कियां आई थीं जो बिफरी हुई थीं मगर उनको समझा-बुझाकर काबू में किया जाता था। उन्हें उनके हाल पर नहीं छोड़ दिया गया था, हालांकि भविष्य की तरफ से उनके लिए भी निराशा ही थी। उनको भी अंदेशा था कि वे फिर अपने पति या मां-बाप के घर इज्जत के साथ न रह सकेंगी।

मैंने खुद तो नहीं देखा मगर वालंटियर ने मुझे बताया कि बहुत-सी औरतों की परेशानियों पर "पाकिस्तान जिंदाबाद" खुदा हुआ है और हाथों या सीनों पर न जाने कितनों के नाम गुदे हुए हैं।[54]

लेकिन मुसलमान लड़कियां ऐसी सैकड़ों मेरे पास लाई गईं जिनके हाथों पर बदमाशों ने अपने नाम और गुनाह की तारीख तक लिख दी थी। पटियाला से भागकर आई हुए एक लड़की ने मुझे अपना हाथ दिखाया जो उसने तेजाब से जला डाला था

---

54. कुछ समय बाद इसकी तसदीक भी हो गई।

ताकि बदनामी के उस दाग को मिटा सके जो गुंडों ने जिंदगी भर के लिए गोद दिया था। यह लड़की एक मिनिस्टर[55] के घर से भागकर आई थी। उसकी दो बहनें और मां भी उसी घर में थीं और कुछ दिन बाद उसकी मां भेजी गई कि मना-फुसलाकर लड़की को वापस ले आए वरना उसकी डेढ़ लाख की जायदाद, जिसकी वापसी का वादा किया जा चुका है और दोनों जवान लड़कियां न मिलेंगी। लालची मां, जो खुद भी गर्भवती थी और उस हालत में किसी रिश्तेदार के पास जाने या रहने का खयाल भी दिल में न ला सकती थी आई और लड़की को धोखे से वापस ले गई। मुझे नहीं मालूम कि उसका क्या हश्र हुआ। सुनती हूं कि लड़की के शौहर ने पांच सौ रुपए नकद इनाम का भी ऐलान किया।

बहरहाल वह कैंप बदमाशों की वजह से मुसीबत बन गया इसलिए उसे कैंटूनमेंट की फौजी बैरकों में स्थानांतरित कर दिया गया और वहां पहुंचना चूंकि मुश्किल था, इसलिए भीड़ गायब हो गई। मगर लड़कियों में पागलपन के आसार शुरू हो गए। वे मारतीं, काटतीं, व्यवस्थापिका को गालियां देतीं और वालंटियरों तक को बुरी तरह सुनाती थीं।

मैं कहती थी इसका इलाज यही है कि इनका दुख-दर्द सुनो, इनकी गालियां सुनो मगर समझाने से बाज न आओ। दिलासा देकर, तसल्ली देकर हम इन्हें सीधे रास्ते पर ला सकते हैं बशर्ते कि हमारे अंदर सब्र और धीरज हो। लेकिन हम किस बिरते पर उस इंतजाम में दखल देते ? जमीअत के उलमा जब मुझसे पूछताछ करते तो मायूस होकर कहते मुसलमान औरत भला कहां मिल सकती है ? उनमें से किसी में यह हिम्मत न थी कि अपनी बीवियों-बहनों में से एक को इस पर तैयार कर सकें। सच्ची बात तो यह है, असल कमजोरी उनकी अपनी थी। वे खुद ही इस पर तैयार न थे। वरना औरतें जरा-सा इशारा पा जातीं तो उसी वक्त काम करने को निकल पड़तीं। इतना सब कुछ हो गया मगर अब भी लोग चौंके न थे। फरवरी और मार्च हम सबके लिए इस वास्ते और भी सख्त महीने थे कि लावारिसी के अहसास ने कमर तोड़ रखी थी। रूढ़िवादिता के इस दलदल में फंसे होने के बावजूद हम जिस वक्त महसूस करते थे कि अब कदम नीचे की तरफ धंस रहे हैं, तो बापू का सहारा ढूंढते थे। मगर अब वह सहारा बाकी न था और सारा प्रगतिवादी ग्रुप और वर्ग उस समय अपने को बेसहारा महसूस करने लगा था। मगर हिंदुस्तान का बाप अपना एक धर्मपुत्र भी छोड़ गया था और वह हम सबके लिए मजबूत स्तंभ बन गया। इधर उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोबा जी हमारे सहयोगी बन गए। उनके आशीर्वाद और मदद ने भी ढांढस बंधाया।

क्या होता ? अगर हिंदुस्तान की बागडोर उस समय पंडितजी के बजाए किसी

---

55. पटियाला के मंत्री।

और के हाथ में होती ? मगर बापू का शिमन अगर सच्चा था तो उन हाथों से बेहतर हाथ हिंदुस्तान में और कौन हो सकते थे ? और दो महीने के अंदर ही हमारी कोशिश और इरादे ने फिर संभाल लिया क्योंकि रूढ़िवाद, प्रतिक्रियावाद और धार्मिक उन्माद का मुकाबला करने के लिए हमारे साथ आधुनिक स्वस्थ सिद्धांत और नए मूल्यों का समर्थक भी शामिल था।

9. फरवरी से मार्च तक

मैं इससे पहले जिक्र कर चुकी हूं कि औरतों में मेल-मुहब्बत बढ़ाने के खयाल से मैंने एक सिलाई सेंटर का डौल भी डाला था। बहुत थोड़े से पैसे पास थे। सिलाई की एक मशीन सुभद्रा की उठा लाई और ऊन जितना मिल सका घर से समेट ले गई। दो चरखे और एक मशीन सेंट्रल रिलीफ कमेटी से एक कांग्रेसी बहन की मार्फत हासिल कर ली और सब मुहल्लों और क्वार्टरों का गश्त शुरू कर दिया कि विधवा गरीब औरतें आकर हमारे सेंटर से काम ले जाएं।

इस सिलसिले में हमतबके और मजहब की औरतों से मैं मिली और बहुत कुछ शरणार्थियों की हालत भी समझने का मौका मिला। यह सुनकर या महसूस करके कि मैं मुसलमान हूं उनकी आंखों से बदगुमानी टपकने लगती, त्योरियों पर बल पड़ जाते। लेकिन थोड़ी देर बातचीत के बाद वे महसूस करतीं कि हम अब तक जिस मुसलमान को देखते रहे थे शायद यह उनके अलावा कोई चीज हैं और वे आजमाइश[1] के तौर पर आने का इकरार कर लेतीं।

मुस्लिम इलाकों में काफी प्रोपेगंडा करने के बावजूद बहुत ही थोड़ी औरतें आईं। किसी तरह घर से निकलने की हिम्मत ही न पड़ती थी। घरों में गंदे कपड़े पहने, फाका करती हुई औरतें चाहती थीं कि घर बैठे हम उनको काम दे आएं और तैयार माल ले आएं। बुर्का इतना गंदा कि छूते भी घिन आए, मगर उसका सिर पर डालना जरूरी था। वह भी पूरा सिर छिपाने के लिए नहीं सिर्फ जिस्म के पिछले हिस्से को सिर से पांव तक बंद रखने के लिए। शायद जिंदगी के अंतिम क्षण तक उस बेचारे बुर्के को पानी की शक्ल देखना न नसीब होती होगी। इतना सब कुछ हो गया मगर बेपरदगी का खयाल हर वक्त हावी था। बमुश्किल आठ औरतों ने आने का वादा किया और चार ने दाखिला कराया। मगर शरणार्थी बहनें आठ-दस तो पहले ही दिन आ गईं—वे भी जो जरूरतमंद थीं और वे भी जो खाती-पीती थीं सबकी सब सेंटर में घुस आना चाहती थीं। अब उनमें जरूरतमंदों को छांटना हमारा काम था। थोड़े ही दिन में उनकी तादाद पैंतीस तक पहुंच गई। स्टूडेंट कांग्रेस के जो लड़के हमारे साथ काम कर रहे

1. परीक्षा।

थे वे अपनी साथी लड़कियों को भी ले आए और एक कांग्रेसी बहन की मेहरबानी से हमें कई थान भी मिल गए जो उन तमाम औरतों को काट कर रोजाना दिए जाते थे। पंजाबी बहनें तकरीबन रोज का रोज कपड़ा तैयार करके ले आतीं और मजदूरी हाथों हाथ उन्हें दे दी जाती। लेकिन मुसलमान औरतें ले जातीं तो दूसरे-तीसरे दिन कपड़ा सी कर लातीं। इसमें कोई शक नहीं कि सिलाई बारीक, साफ और बेहतर होती थी, मगर हिसाब से उनकी आमदनी आधी रह जाती थी। वे एक कपड़े की मजदूरी तीसरे दिन हासिल करतीं और शरणार्थी बहनें रोज के रोज।

रिलीफ कमेटी का सारा कपड़ा सिल गया और मजदूरी सेंटर से दी जाती रही। आखिरकार तैयार कपड़े और बिल बनाकर भेज दिए गए। यह भी सुना कि मंजूर हो गया, मगर लड़के दौड़ते ही रहे, पैसे किसी तरह न मिले और पहले ही महीने पच्चीस रुपए का नुकसान सेंटर को उठाना पड़ा।

उन्हीं दिनों दरियागंज में[2] मुस्लिम लड़कियों का कैंप कायम हो गया था। मैं भी किसी-किसी दिन जाया करती थी। रियासतों से आनेवाली औरतें और बच्चे गर्ल्स स्कूल की इस इमारत में ऊपर से नीचे तक भरे थे। ऐसे बहुत-से बच्चे थे जिनकी मांएं साथ न थीं। ये वे लावारिस बच्चे थे जिनके मां-बाप मार डाले जा चुके थे और ये लूट के माल के रूप में हमलावरों में बंट गए थे।

मैंने देखा कि सब इस वक्त तक उन्हीं कपड़ों में हैं जो पहन कर आए थे। लड़कियां बदस्तूर मैली-कुचैली घाघरा पहने घूम रहीं थीं मगर जवान औरतों के लिबास साफ-सुथरे थे। मेरे पूछने पर व्यवस्थापिका ने बताया कि यहां सब एक ही नाप के सिले हुए जोड़े गवर्नमेंट की तरफ से आए हैं। छोटे-जोड़ मौजूद नहीं हैं, इसलिए बच्चों का लिबास तब्दील[3] नहीं कराया जा सका। मैंने कहा कि हमारे सेंटर में बच्चों के बहुत से जोड़े हैं अगर कहो तो भिजवा दूं। उन्होंने कहा जरूर, हमें खुद इनको गंदा देखकर तकलीफ हो रही है, मगर मजबूर हैं।

दूसरे दिन सुबह मैं तीस जोड़े लेकर पहुंची और जिस बच्चे के जो ठीक उतरा उसको पहना दिया। कपड़े तकसीम[4] करके जैसे ही उठी तो एक हिंदू बहन जिनकी कैंप के व्यवस्थापकों में गिनती भी आ गई। उन्होंने बड़ी खुशी जाहिर की कि अच्छा हुआ आपने इन सबको साफ-सुथरा कर दिया।

आफिस के इंचार्ज से मैंने कहा, तीस जोड़े मैं अंदर दे आई हूं उनका बिल आपको भिजवा दूं या खुद देख लीजिएगा ? उन्होंने जवाब दिया बिल भेज दीजिए तो अच्छा

---

2. पहले हिंदू-मुसलमान, यानी पाकिस्तान से आनेवाली और हिंदुस्तान से बरामद होने वाली औरतें एक ही कैंप में रखी जाती थीं। उनमें सख्त लड़ाइयां होती थीं। फिर दोनों कैंप अलग-अलग कर दिए गए। मुस्लिम लड़कियों के लिए पटौदी हाउस दरियागंज में कैंप कायम हुआ।

3. बदलना।

4. बांटना।

हैं।

लेकिन मिसेज...बोलीं क्या ये कपड़े आपने कीमत से दिए हैं ? मैं तो समझी थी आप यों ही देने आई हैं। मैंने कहा यह तो मैं कल ही बता गई थी कि जामिआ के सिलाई सेंटर में तैयार हुए हैं, कीमत उनकी मुकर्रर है और इन तमाम पर्चियों पर दर्ज है जो आपके सामने ढेर हैं। शाणार्थी औरतों के लिए सिलाई मुकर्रर है अगर उनको सिलाई न मिलेगी तो भूखों मरेंगी।

बहुत ही तेज होकर कहने लगीं, नहीं साहब गवर्नमेंट हरगिज आपको पैसा न देगी। आपका दिल चाहे तो कपड़ा उतरवा लीजिए। गवर्नमेंट का काम तो आप जानती हैं, कितना मुश्किल होता है, महीनों लग जाते हैं।

मैंने फिर कहा महीनों लग जाएं मगर ये सारे कपड़े जो कैंप में इस्तेमाल हो रहे हैं कहीं न कहीं से सिलकर आए हैं और मुझे मालूम है इसी तरह के दूसरे सेंटरों में रिफ्यूजी औरतों से सिलवाए जाते हैं। गवर्नमेंट ने खुद तो दरजी नौकर नहीं रखे हैं। इन कपड़ों की भी यही बात है, गरीब औरतों के तैयार किए हुए हैं।

आफिसर इंचार्ज ने कहा भी कि इनके सेंटर का ताल्लुक भी रिफ्यूजियों से है लेकिन मिसेज...बराबर तेज-तेज बोलती रहीं :

"नहीं साहब, यह नहीं हो सकता। गवर्नमेंट हरगिज आपका बिल पे नहीं करेगी। हम ज्यादा से ज्यादा यह कह सकते हैं कि आपको शुक्रिया का खत लिख दें, मगर रुपया नहीं दिलवा सकते। मुझे तो यही गलतफहमी थी कि आप खुद लाई हैं।"

मुझे भी यह कड़वी बातचीत नागवार[5] हो रही थी। जलकर सिर्फ इतना कहा कि इमदाद के लिए मुहल्ले और गांव के गरीब क्या कम हैं जो मैं सरकार के कायम किए हुए कैंप में खैरात बांटने आती ? बहरहाल कुछ परवाह नहीं, नुकसान हम भुगत लेंगे। और जो कुछ कहा हो, याद नहीं मगर यह सच है कि टेढ़ी-टेढ़ी बातें होती रहीं।

लेकिन कपड़े उतरवा लेना मेरे दिल ने गवारा न किया। उन्होंने यह भी कहा कि बहुत लोग यहां आते हैं और इन लड़कियों से मिलना चाहते हैं, लेकिन इनको पसंद नहीं करतीं कि कोई इनसे बात करे या मिले। इनको अकेले छोड़ देना ठीक है।

आगे चलकर मैं बताऊंगी कि उस पालिसी का कैसा बुरा असर उन औरतों पर पड़ा। बहरहाल मैं वहां से पलटी तो बेहद गुस्सा था। दुबारा मुझे उन लोगों से वास्ता पड़ा। मगर तंगनजरी ने उनको इसी पर मजबूर किया कि सिलाई सेंटर का चूंकि जामिआ और मुझसे ताल्लुक है इसलिए किसी इमदाद का हकदार नहीं। हालांकि मैं न हिंदू मुसलमान का भेद करती थी, न मुसीबत के वक्त इस बात को सोचने की आदी थी। मगर वे क्यों देखने और सोचने की जहमत[6] उठातीं ? उनके दिमाग तो किसी वक्त

---

5. बुरा लगना।
6. कष्ट।

भी इससे बेखबर ही न होते थे कि हर चीज पर हिंदू और मुसलमान की छाप लगाती रहे। इस वक्त ज्यादा तादाद हमारे यहां हिंदू औरतों की थी। मेरे लिए तो गरीब, दुखी सब बराबर थे। मेरे रसूल ने तो कहा था :

"सारी मखलूक (सृष्टि) अल्लाह का कुनबा है और खुदा को सारी मखलूक में प्यारा वह है जो उसके कुनबे की खिदमत करे और उस पर एहसान करे।"

मकसद तो शांति और एकता कायम करना है, कोई संस्था स्थापित करना या पैसा कमाना तो है नहीं। अभी तक तो कोई उस्ताद भी नहीं रखा जा सका है। काम करने वाले आनरेरी हैं जितने दिन इस तरह चला सकूंगी चलाऊंगी।

यह सोचकर अस्सी-नब्बे रुपए का नुकसान भी पी गई।

हिंदू और मुसलमान बहनें जो एक दूसरे के साए से भागती थीं, आज एक माह बाद मेरी आंखों के सामने पास-पास बैठी हुई आपबीती एक दूसरे को सुना रही थीं। हंस-बोल रही थीं। दोनों अपने दिलों पर हाथ रखकर उन गुंडों-लुटेरों को कोस रही थीं जिन्होंने उनके दिलों को छलनी किया था। यही मेरी सबसे बड़ी कामयाबी थी।

पहले दिन जब ये इकट्ठी हुई थीं तो कैसी-कैसी नफरत और ताने की बातें की थीं और अब एक दूसरे की दोस्त हैं। कभी-कभी सोशल सर्विस करने वाली लड़कियां और तकरीबन रोजाना कुछ मिनट तक मैं खुद अमन, मुहब्बत और एकता का सबक उन्हें आहिस्ता-आहिस्ता बताती थी। हमने उन्हें यकीन दिलाया था कि तुम दोनों दुखी हो और दुखी दिलों में बैर नहीं हुआ करता।

फरवरी से लेकर अप्रैल के बीच तक मैं इसी तरह शहर में काम करती रही। कैंप का सिलसिला भी अब तक कायम था अगरचे गांधीजी की शहादत ने अवाम की हालत बदल दी थी। मुसलमान अब आजादी से घूमने-फिरने लगे थे। अफसरों के दिलों में जो भी चोर हो बजाहिर उनका रवैया भी बदला हुआ था और मुस्जिम जोन[7] जो बापू की जिंदगी में कायम हो गए थे, अब हर खतरे से सुरक्षित थे। शरणार्थियों का रवैया भी सुलह-सफाई का हो रहा था और धीरे-धीरे हालात सुधर रहे थे। सब कुछ खोकर लोगों को होश आ रहा था।

उधर लीगी मुसलमानों ने भी अपना प्रोपेगंडा बंद कर दिया था और हकीकत है कि वे बाकी भी कम ही रह गए थे। लेकिन फिर भी हम हैरत के साथ देखा करते थे कि जिस दिन ट्रेन पाकिस्तान जाने वाली होती है बेशुमार लोग एक रात पहले आकर

---

7. मैं शायद इससे पहले जिक्र कर चुकी हूं कि जब रिफ्यूजियों ने मुहल्ले पर धावा बोला तो डर और आतंक से मुसलमानों ने भागना शुरू कर दिया था। सितंबर-अक्तूबर में दंगों के इलाकों से भागकर मुस्लिम बहुमत के इलाकों ने पनाह लेने वाले मुसीबतजदा अब दुबारा उजड़ रहे थे। यह स्थिति जब बापू और प्रधानमंत्री को सूचित की गई तो सबकी राय से उन्होंने मुस्लिम जोन कायम करवा दिए। मगर व्रत से पहले मुस्लिम जोन भी तोड़ने की कोशिश शुरू की गई जो शहादत के बाद कुछ दिनों के लिए मुल्तवी हो गई थी।

ईसा खां[8] के मकबरे में ठहर जाते हैं। समझ में न आता था कि आखिर उनको पास कौन देता है ? इजाजत कहां से मिलती है ? कैंप में नए आने वालों की गुंजाइश नहीं है, इसलिए उनको घुसने न दिया जाता था। फिर शहर में क्या पाकिस्तान आफिस से पास बंटवाए जाते हैं ? आखिर क्या होता है कि कैंप वाले रह जाते हैं और रेलगाड़ी शहरियों से भर जाती है।

यह भेद एक दिन ट्रेन जाते वक्त खुला। कैंप में चूंकि अब कार्यकर्ता बहुत कम रह गए थे इसलिए रेल की रवानगी की खबर सुनकर पुराने साथी मदद के लिए आ गए थे और उन्होंने देखा कि सवार होते वक्त लोगों ने जल्दी-जल्दी अपने पास पुलिस और वालंटियरों को देने शुरू कर दिए। लड़कों को शक हुआ, उन्होंने सबसे छीन लिए। गिनती की तो कई सौ थे। मेरे पास लाए गए और छानबीन शुरू हुई तो पता लगा कि ये पास असल में शहर ले जाकर दस-दस, पांच-पांच रुपए में दूसरों के हाथ बेच दिए जाते हैं। ऐसा एक ही बार नहीं हुआ अक्सर होता रहता था। कैंप के वालंटियर और पुलिसमैन दोनों मुस्तैदी के साथ यह काम करते हैं और उन्हीं को खरीदकर अगली ट्रेन से दूसरा काफिला रवाना हो जाता है। बमुश्किल कैंप के बहुत-थोड़े वाशिंदों को जगह मिल सकती है। बाकी जगह नए आने वालों से भर जाती है। शहर का रेला इतनी जगह छोड़ता ही नहीं कि वे जा सकें। जो गरीब चार-चार महीने से मुसीबत भोग रहे थे वे ही रह जाते थे। एक साहब के बारे में हमें बताया गया कि उन्हें अस्सी आदमियों को साथ ले जाने का इजाजतनामा पाकिस्तान आफिस से भेजा गया है।

उस दिन स्टेशन पर इतना भारी जनसमूह था कि कई आदमी कुचले गए। निजामुद्दीन का छोटा-सा स्टेशन, उसमें भला इस हुजूम की गुंजाइश कहां थी ? यह सब हाल सुनकर यही सूरत समझ में आई कि हाई कमिश्नर साहब से मिलकर इस मुसीबत का कोई इलाज ढूंढा और उसी वक्त वहां पहुंची।

हाई कमिश्नर साहब[9] ये मुलाकात कोई आसान काम न था। उनसे मिलना गवर्नर-जनरल से जयादा मुश्किल था। हर आदमी शिकायत करता था कि वह लोगों से मिलते नहीं हैं। ज्यादा बात करना पसंद नहीं करते। हर वक्त उनका दिल घबराता रहता है और वह बेचैनी के साथ उस दिन का इंतजार कर रहे हैं जब उन्हें इस ओहदे से छुटकारा दे दिया जाएगा।

मेरा कोई व्यक्तिगत अनुभव न था। इससे पहले दो-एक बार मिली थी मगर हमेशा सरसरी मुलाकात हुई। कोई काम तो पड़ा न था, देखने में भले आदमी लगते थे।

उसी जमाने में एक जोशीला-लीगी नौजवान यू. पी. से आया था। वह हिंदुस्तान को कुफ्रिस्तान समझकर एक मिनट यहां ठहरने पर राजी न था। शायद उसे उम्मीद

---

8. हुमायूं के मकबरे के समीप ईसा खां का मकबरा है।

9. जाहिद साहब।

थी कि ज्योंही वह कोठी के करीब पहुंचेगा पाकिस्तान के अफसर उस मुजाहिद[10] का शानदार स्वागत करेंगे। लेकिन उसकी उम्मीदों पर ओस पड़ गई। जब सुबह से शाम तक दौड़-धूप करने और मिन्नत-मसाजत करने के बाद भी हाई कमिश्नर साहब तक पहुंच न हो सकी और शाम को वह बराबर अपना सर सहला रहा था, टहल रहा था और मुझसे पूछ रहा था, बताइए मैं क्या करूं ? और मुझे हंसी आ रही थी :

इब्तिदा-ए-इश्क है रोता है क्या
आगे-आगे देखिए होता है क्या।

अवाम की भारी भीड़ हर वक्त हाई कमिश्नर की कोठी को घेरे रहती थी। अंदर के सहन में कुछ खेमे भी लगा दिए गए थे जिनमें परमिट के तलबगार[11] कई-कई दिन पड़े रहते थे और शिकायत करते थे कि हमें कोठी से धक्के देकर निकाल दिया गया। हाई कमिश्नर साहब बेचारे को खबर भी न होती होगी। लेकिन यह सच है कि जो ज्यादा जरूरतमंद होता और ज्यादा खुशामद करता वह जरूर ही गरदन पकड़कर दौड़ा दिया जाता था क्योंकि सारे देश की तरह यहां भी सिक्के का खेल जारी था और चांदी एक क्या सौ पास दिला सकती थी।

मैं जहां तक अंदाजा कर सकी वे खुद बहुत शरीफ और खुद्दार आदमी थे, बेरहम न थे। मगर शायद उस फिजा, उस माहौल और उस ओहदे के बिल्कुल योग्य न थे। यह उनका नापसंदीदा काम और यह भयानक जमाना सब उनके स्वभाव के खिलाफ था। यह भी मुसलमानों की एक और बदकिस्मती थी कि जहां सब मुसीबतें थीं वहां मसीहा भी ऐसा मिला जो खुद ही बीमार था। उनकी गलती सिर्फ यह थी कि जान से बेजार बैठे रहते थे और मिलने से इनकार कर देते थे। अक्सर यही कह दिया जाता कि नहीं हैं। फोन पर भी मुश्किल से बात करते और मामूली जबानी हमदर्दी भी शायद अब उनके बस में न थीं।

बहरलाल सब जानते हुए भी उस वक्त मिलना जरूरी था। फाटक से रिहाई हुई तो बरामदे में रुकना पड़ा। और बरामदे के कर्मचारियों से छुटकारा मिला तो डिप्टी सेक्रेटरी ने इसरार शुरू किया कि आप मुझे बता दीजिए, हाई कमिश्नर साहब तो इस वक्त बहुत बिजी हैं। बमुश्किल इस पर राजी हुआ अच्छा, हाई कमिश्नर साहब न सही उनके सेक्रेटरी ही को बता दीजिए।

बहुत देर इंतजार किया। सेक्रेटरी इनकार भी न करते थे और इकरार से भी बचते थे। हमें जल्दी थी इसलिए यही मुनासिब समझा कि सब कुछ उनसे कह दें। अस्सी आदमियों के पासों के नंबर उनको नोट कराए और उनसे पूछा कि आखिर आपके आफिस से पास जाकर बिकते कैसे हैं, इसका पता लगाइए। बदइंतजामी की हद है।

---

10. धर्म के नाम पर लड़ने वाला।
11. इच्छुक।

एक जबान से तो आप लोग यह कहते हैं कि दिल्ली वालों को रोकिए, उनकी अब पाकिस्तान में गुंजाइश नहीं है और दूसरी तरफ अस्सी आदमी साथ ले जाने का इख्तियार[12] एक शख्स को दे देते हैं। नतीजा यह होता है कि कैंप के लोग पड़े रह जाते हैं। इतनी तकलीफ भी आपका दफ्तर गवारा नहीं करता कि उन पर तारीख डाल दे या वक्त के वक्त किसी को स्टेशन भेज दें तो पास फाड़ता जाए ताकि यह धांधली खत्म हो।

सेक्रेटरी साहब कहते, हां-हां, जरूर। मैं फौरन पता लगाऊंगा। आप ठीक कहती हैं, मैं जरूर देखूंगा यही सब कहते रहे और कुछ भी न दिया। यह खरीद-फरोख्त का सिलसिला फिर भी चलता रहा और दुराचार उस वक्त तक बंद न हुआ जब तक कैंप खत्म न हो गया।

दो बार इस सिलसिले में वहां गई। हाई कमिश्नर साहब से मुलाकात न हो सकी। अच्छा ही हुआ वरना अब तो तबीयत बहुत जली हुई थी। बातचीत शायद कड़वी ही होती और मुझे हमेशा अफसोस रहता कि बीमारी और कमजोरी की हालत में मुझसे भी उनको तकलीफ पहुंची।

फरवरी के अंत में हमारे पास कुछ लोग शाहदरा[13] के इलाके से आए और उन्होंने अपनी मुसीबतों का हाल बयान किया कि किस तरह वे एक पुरानी तहसील की इमारत में पड़े हैं जहां न उन्हें राशन मिलता है, न जिंदगी की जरूरतों का कोई बंदोबस्त है।

हमने जाकर उन्हें देखा और उनकी कठिनाइयों से प्रभावित होकर यह तय किया कि अब पहला कदम उठाने का वक्त आ गया है। इन उजड़े हुओं को दुबारा बसाना चाहिए। हाकिमों तक बात पहुंचाई तो उन्होंने साफ इनकार कर दिया। जिम्मेदारी लेने पर तैयार न हुए, न यह इत्मीनान दिलाया कि किसी किस्म की मदद देंगे। जमीअत वालों से जिक्र हुआ तो एक मौलाना[14] ने कहा, "दत्ता बहन[15] तुम इन्हें मरवाओगी।"

मगर हमारे कानों में तो बापू के बोल गूंज रहे थे कि जब तक लोग फिर से अपने घरों में बस न जाएंगे उनको चैन न मिलेगा, न ही देश में शांति होगी। हम जानते थे अफसर का मदद करना कैसा, शायद हमारी राह में रोड़ा भी अटकाएंगे।

अगर उस वक्त हमारे बस में होता तो उन सारे शरणार्थियों को कभी का हम पाकिस्तान लौटा आए होते और सारे पूर्वी पंजाब वालों को उनके घरों में आबाद कर आते। लेकिन हममें इतनी ताकत कहां थी, इतने इख्तियारात कब थे ? इसलिए बस ले-देकर अपना जोर तो दिल्ली पर चलता था, वह भी सिर्फ थोड़े-से लोगों पर। यहीं जो चाहें कर लें। दायरा सीमित सही, अमल करने की ताकत थोड़ी सही मगर हमारे

---

12. अधिकार।
13. झील खुरंजा और खुरेजी दो गांव पास-पास थे।
14. मौलाना अहमद सईद।
15. सुभद्रा को लोग आम तौर पर दत्ता जी कहते थे।

दिल-दिमाग छोटे न थे और अब तो हमारी ताकत पहले से आठ गुना बढ़ गई थी। बापू ने मरकर हमें जीने का रास्ता दिखाया था, और अब हमारे हाथ मजबूत कर दिए थे।

आखिरकार हमने अपने ही अमल और साथियों पर भरोसा किया और यह कदम उठाने की ठान ली और शाम को उस गांव में पहुंचकर वहां के जैलदार से मिले।

अभी ठंडक काफी थी और शाम के वक्त चौपाल में गंव के बड़े-बूढ़ों को मोटे दोहर[16] लपेटकर बैठने की जरूरत पड़ा करती थी। हुक्के का दौर चल रहा था और उस वक्त एक शरणार्थी शायद डेरा इस्माईल खां का बाशिंदा अपनी रामकहानी सुना रहा था। हमें देखकर बातें बंद हो गईं। पहले तो अच्छी तरह हमारा स्वागत किया मगर यह जानकर कि हम किस नीयत से आए हैं किसी कद्र रुख बदल गया।

पनाहगुजीं यहां किसी से वाकिफ न था। किसी से मिलने नहीं आया था। योंही शायद सर छिपाने की जगह ढूंढते-तलाश करते यहां पहुंच गया था। लेकिन उस गांव की हालत उस वक्त ऐसी थी कि उस हालत को देखकर उसे कोई खुशी न हुई होगी। फिर भी उसने विरोध रुख इख्तियार कर लिया और पाकिस्तान के गुजरे हुए हालात और घटनाओं का हवाला देने लगा।

लेकिन एक स्थानीय पंडित ने सब कुछ सुनकर कहा—साहब, अगर सरकार बसाना चाहती है तो लाए, हमारा कुछ जोर नहीं। न हमसे कोई लड़ाई-झगड़ा हुआ था। इस गांव से तो लोग...सब-इंस्पेक्टर के कहने से निकले हैं। यहां से ले जाकर उन्होंने आसपास के सारे गांवों के लोगों को उस सामने वाले कस्बे में रखा और फिर वहां से भी निकाला। पीछे गुंडों ने सारे मकान खोद डाले। हमने तो कुछ कहा नहीं।

थोड़ी देर बातचीत करके हमने गांव देखा और अपने जी में यह सोच लिया कि—

'हरचे बाद आबाद कश्ती मा दर आब अंदाख्तम'[17]

अब वे मरें या जिएं इन पचास-साठ आदमियों को कल ही यहां लाकर बसाना है। ट्रक किराए पर किए गए और दो वालंटियर साथ लेकर उन सबको गांव पहुंचा दिया गया। सिर्फ एक मकान उनका सही-सालिम था, बाकी सब टूट चुके थे। खुदा के कहर ने जमना की बाढ़ की शक्ल में उन सारे घरों को ढहा दिया था। अब उन सबके लिए खेमों की जरूरत थी। जामिआ से इसरार करके पचास खेमे हासिल किए गए और उन खेमों को ले जाने के लिए ट्रक अहरार पार्टी ने दिया। उनमें से दो खेमे तो सुभद्रा और दोनों लड़कों के लिए रिजर्व कर दिए गए। बाकी पनागुजीनों के इस्तेमाल में आए।

अब हम सबका काम यह था कि जरूरत की चीजें और राशन वगैरह शहर से ले जाकर उनको पहुंचाएं, क्योंकि पिछली तैयार फसल जो वे छोड़कर गए थे लुटेरों

---

16. एक किस्म का खेस
17. जो भी नतीजा हो हम अपनी किश्ती दरिया में डाल देंगे।

ने काट ली थी और नई फसल अब उनकी जमीनों पर लोकल लोग तैयार कर रहे थे। वे खुद तो देने वाले न थे जब तक उन पर दबाव न डाला जाए।

जो लोग गए थे उनके पास न तन ढंकने का कपड़ा था, न खाने को अनाज का दाना था। एक माह तक उन पचास आदमियों को खाना पहुंचाना बड़ा मुश्किल काम था। लेकिन खुदा की मदद और साथिया की हिम्मत ने मुश्किल आसान कर दी। किसी-किसी दिन जमीअत से राशन की बोरियां आ जाती थीं किसी दिन हममें से कोई इकट्ठा करके ले जाता था और कभी सुभद्रा खुद भीख का कमंडल लेकर शहर में पहुंच जातीं और कई दिन का ठिकाना कर लेतीं। उनकी हिम्मत ने सबका ढांढस बंधाया।

इस अरसे में हमने दो-तीन छोटी-छोटी सभाएं सुलह-सफाई के लिए कीं। एक बड़ा जलसा भी हुआ और फिर चौबीस गांवों की एक पंचायत बुलाई गई। इत्तिफाक से मुझे उस दिन इलाहाबाद जाना पड़ गया और उसमें शरीक न हो सकी। वापसी पर सब हाल सुना। साथियों ने बताया कि अब आम फिजा[18] मुखालिफ[19] नहीं है, लोगों को सिर्फ यह डर है कि लूट का माल तो सबके पास है। उसी गांव के रहने वाले एक-दूसरे के पुराने पड़ोसी सब कुछ जानते हैं किसने क्या किया और क्या लिया है। चीजों को पहचानकर कहीं यह हम सबको पकड़ा न दें।[20]

यह देखकर हमें ऐलान करना पड़ा कि तुम्हारे साथी, तुम्हारे भाई वापस आए हैं। वे सिर्फ तुम्हारी मुहब्बत और हमदर्दी के भरोसे पर आए हैं। सरकार या पुलिस का सहारा लेकर नहीं आए हैं। तुम खुद उनकी मदद करो, चाहे उनकी चीजें वापस करके इनकी इमदाद करो, चाहे अपने पास से देकर उनको एहसानमंद बनाओ। इन तमाम अपीलों का यह असर हुआ और पंचायत ने यह फैसला किया कि ताजा फसल में से आधा बंटवारा करा देंगे और फिलहाल अपने पास से अनाज देकर उनके खाने का बंदोबस्त करेंगे।

हमने मंत्रियों तक यह बात पहुंचाई कि लोकल गवर्नमेंट ने हमारी मदद नहीं की लेकिन फिर भी वे लोग बस गए हैं। पाकिस्तान न उनमें से कोई गए हैं न जाना चाहते हैं। हिंदुस्तान ही में उनको ठिकाना मिलना चाहिए था और यह सोचकर हमने उनको उनके वतन पहुंचा दिया है। अब उनकी इमदाद की सख्त जरूरत है।

सरकार के एक जिम्मेदार कर्मचारी से हमने 600 रुपए हासिल किए और उन्हें छत, किवाड़ और बांसों वगैरह के लिए बंटवा दिया। मिट्टी की दीवारें उन्होंने खुद तैयार कर लीं। यह सब कई महीनों में हुआ। और भी बहुत से लोग आ गए, मामला चलता

---

18. वातावरण।
19. विरुद्ध।
20. इस गांव के स्थानीय हिंदुओं ने शरणार्थियों को भी बसाना और कुछ देना पसंद न किया था, खुद सब चीजों पर कब्जा करके बैठ गए थे।

रहा, मगर वे सब बस गए।

लेकिन जल्द ही फसल कटने लगी और बंटवारे का समय आया तो पुलिस ने गांव वालों को भड़का दिया कि कोई ऐसा हुक्म ऊपर से नहीं आया है। ये लोग तो अपनी-अपनी कर रहे हैं, तुम क्यों बांट कर दोगे, सरकार से थोड़े ही हुक्म आया है ?

एक माह रहकर हमारे साथी तो वापस आ गए थे। लोग दौड़े आए कि थानेदार ने भड़का दिया है और हरिजनों और मुसलमानों में एक छोटी-सी झड़प भी हो गई है। हमें अंदेशा हुआ कि कहीं सब किया धरा अकारथ न हो जाए। उस इलाके की पुलिस से कैसे निपटना चाहिए ? ताल्लुकात खराब थे, हमसे पहले कांग्रेस और उससे पहले नौजवानों की उस संस्था से भी झगड़ा रह चुका था, जो सितंबर में काम कर रही थी। वे सब यहां की पुलिस से हार चुके थे और शायद हमें भी हारना था।

लेकिन हमारी खुशकिस्मती थी कि कुछ भले अफसर भी उन दिनों दिल्ली में थे और मामले के दोनों पहलुओं पर नजर डालते थे। थाना इंचार्ज हमारे रास्ते का बहुत बड़ा पत्थर था। अगर हम अब भी उसको न हटा सके तो ये सारे गांव उजड़े ही पड़े रहेंगे। और यह सोचकर मिल जुलकर कोशिश शुरू कर दी गई। हमें इस पर कोई एतराज नहीं हुआ कि हमारे मुखालिफ को लोकल गवर्नमेंट से कारगुजारी के सर्टिफिकेट मिले और उसे तरक्की देकर दूसरी जगह हटा दिया गया। उस वक्त तो हमें एक इलाके में अपना काम निकालना था और हम सिर्फ उस इलाके को उसकी मेहरबानियों से महरूम करना चाहते थे, ताकि राष्ट्रवादी वर्ग के कदम यहां जम सकें।

एक ऐसे गांव में शांति के साथ लोगों को बसा देना और फिर उनमें मेल-जोल भी कायम करा लेना शांतिदल की बहुत बड़ी कामयाबी थी और उस पर हमें बेहद नाज था। बसने वालों की तादाद अब 90 तक पहुंच चुकी थी और बेशुमार खत पाकिस्तान से आ रहे थे कि हम वापस आना चाहते हैं। लेकिन हमने सख्ती के साथ रोका कि कहीं बहुत बड़ी मुसीबत न पैदा हो जाए। हमारे तीन साथी हालात के जायजे और मदद के लिए वहां ठहर गए।

चार हफ्ते बहुत तकलीफ मगर बड़े लुत्फ के साथ उन तीन आदमियों ने वहां गुजारे। दूसरे-तीसरे दिन हममें से कई लोग वहां पहुंचते थे। लोकल कांग्रेसी भी हमारी पूरी मदद कर रहे थे। इसका बहुत अच्छा असर यह पड़ा कि पास-पड़ोस के देहातों में हमारा रुसूख कायम हो गया।

लेकिन औरत बिस की गांठ तो होती ही है। उसी जमाने में दो लड़कियां लाई गईं। उनमें से एक उस गांव की थी। असल में उसके ससुराली खानदान के लोग यहां थे, मगर शौहर पाकिस्तान चला गया था। लड़की गांव पहुंची तो यह सवाल उठा कि शौहर के आने तक उसको कहां रखा जाए ? खबर पाते ही वह आएगा जरूर और उस पाकिस्तान से आनेवाले को उस गांव में ठहरने का हक देना हमारा काम न था। मगर हम दोनों औरतें थीं और एक औरत का घर बसा देना और उसे फिर इज्जत की

जिंदगी की तरफ लौटा देना हमारा फर्ज था और दिली ख्वाहिश[21] थी। इस मामले में हमने कानून का लिहाज नहीं किया, अपना नैतिक फर्ज देखा और औरत के जज्बात पर गौर किया। हमने कह दिया वह आ जाए, हम इस चीज को छिपा देंगे, अफसरों को न बताएंगे बशर्ते कि वह अपनी बीवी को रख ले।

इस बीच के वक्त में वह कारकुनों का खाना भी पकाया करती थी और एक बूढ़ी चच्ची की हिफाजत में रहती थी। चमकदार आंखों वाली तेज-तर्रार लड़की को देखकर बहुत-सी मांओं ने अपने नौजवान बेटे निकाह के लिए पेश कर दिए और जब तक पति आए न जाने कितने रंडुवे निकाह पर तुल गए। हम एक-एक को यकीन दिलाते रहे कि शौहर यकीनन जिंदा है, खत पाते ही वह जरूर आएगा। लेकिन लोगों ने बूढ़ी चच्ची को गांठ लिया और एक रोज मालूम हुआ वह शहर गई है। सुभद्रा ने बहुत डांटा, धमकी दी, बुरा-भला कहा तब लड़की वापस लाई गई और बताया कि हमने उसका निकाह कर दिया है।

यह गलत था, वे हमें सिर्फ धोखा देकर खामोश कर देना चाहते थे। लानत-मलामत सुनकर उनमें से एक ने राज खोल दिया। हम सोच भी न सकते थे कि उनका नैतिक स्वर इतना नीचा है। दूसरे ही दिन उसका पति आ गया और उसने उन सबकी खबर ली। बीवी को भी ठोंका और बैरियों से भी कुश्तम-कुश्ता हुई। भरी बिरादरी में उन सबको रुसवा किया जो उसकी बीवी को हथियाने की फिक्र में थे। मगर वह खुश था कि अब कोई आंख उठाकर भी नहीं देख सकता।

देहात के सीधे-सादे इंसान इतने बेरहम, मक्कार और लुच्चे कैसे हो गए थे ? दूसरों की बहू-बेटियों को अपनी बहू-बेटी समझने वाले देहाती दूसरी कौम से नहीं खुद अपनी कौम से भी अपनी नैतिक गिरावट छिपा न सके।

शहर के बेशतर हिस्सों में पनाहगुजीं आबाद हो चुके थे। मुसलमानों के छोड़े हुए सब मकान उनसे भरे पड़े थे और पुरानी इमारतों के खंडहर, पुराने मुहल्लों के फाटक, मठ, शिवाले[22] और मस्जिदें सबमें उजड़े हुए लोग बस रहे थे। सारे शहर के स्कूल बंद पड़े थे और बच्चे गलियों-सड़कों पर आवारागर्दी कर रहे थे। आवारागर्दी करने वालों में पुराने और नए आने वाले सभी बच्चे शामिल थे। हालांकि सोशल सर्विस करने वाले लड़के-लड़कियों ने शहर के सभी हिस्सों में पढ़ाई का सिलसिला किसी न किसी शक्ल में शुरू कर रखा था। कैंपों में भी छोटे-छोटे स्कूल चलाए जा रहे थे मगर कहीं बूंदा-बांदी से नदी भरती है ? म्युनिसिपल स्कूल, गवर्नमेंट और प्राइवेट स्कूल ज्यादातर बंद पड़े थे और उनकी इमारतों में शरणार्थी ठहरे हुए थे।

लेकिन अब धीरे-धीरे स्कूल खुलने शुरू हुए। उन्हें जबरन उन इमारतों से हटाया

---

21. इच्छा।
22. मंदिर।

गया और आनंद पर्वत की फौजी बैरकों और दूसरे हिस्सों में पहुंचा दिया गया।

ट्रेवल कैंटीन, आनंद पर्वत, बेला रोड और किंग्सवे कैंप सब जगह देखकर तो ऐसा लगता था शायद एक भी हिंदू या सिख पाकिस्तान में बाकी न रह गया होगा। दिसंबर तक तो खैर मैं कैंप के अलावा कहीं नहीं गई इसलिए उन सबका हाल न देख सकी थी मगर जनवरी से मेरा संबंध उनसे भी था। बाड़े के स्कूल और तालीमी[23] मरकजों[24] के विस्तार के सिलसिले में मुझे बहुत से पनाहगुजीं औरतों और मर्दों से मिलने का मौका मिला। बच्चों का हर वक्त का साथ था। उनके क्वार्टरों में जाकर मैं उनकी तकलीफों से भरी जिंदगी और नाकाबिल-ए-बयान मुसीबतें भी देख चुकी थी।

फरवरी शुरू होते ही लड़कों ने कोशिश शुरू कर दी थी कि मरकज का दायरा बढ़ाया जाए। बात यह थी कि सकूल तो सारे बंद पड़े थे, जो कुछ खुले थे और खोले जा रहे थे वे सब रिफ्यूजियों से भरे पड़े थे। यह खयाल तो उस वक्त किसी के दिल में आता भी न था कि कोई नया प्रयोग किया जाए और उन दो खून के प्यासों को मजबूर किया जाए कि इकट्ठा बच्चों को पढ़ने भेजें। बाड़ा हिंदू राव में पहला प्रयोग जामिआ वालों ने किया और कामयाब रहा। उस कामयाबी ने हिम्मत बढ़ा दी।

सबसे ज्यादा उस वक्त कस्साबपुरा के लोग परेशान थे, इसलिए वहां तालीमी मरकज खोलकर बीच बाजार में त्रिलोक सिंह की ड्यूटी लगा दी गई। मुस्लिम मुहल्ले में पहला सिख खुद भी घबराया होगा और मुहल्ले वाले तो आंखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे, मगर उस दल पर सबको भरोसा था इसलिए किसी ने कुछ एतराज न किया।

एक हफ्ते के अंदर त्रिलोक सिंह ने इतना रसूख पैदा कर लिया कि दावा करते थे मेरी एक आवाज पर सारा मुहल्ला निकल सकता है। एक दिन कस्साबपुरा के एक चरवाहे ने जो सारे मुहल्ले की बकरियां चराया करता था, अजीब हरकत की। उसने आकर बयान किया कि मैं सो गया और सारी बकरियां कोई आकर हांक ले गया।

लोग त्रिलोक सिंह से कहने लगे कि हम तो लुट गए। एकदम से 40 बकरियां गायब हो गई हैं, जल्दी कोई फिक्र करो। त्रिलोक ने तलाश शुरू कर दी और दूसरे दिन उस बाहिम्मत लड़के ने सारी बकरियां पड़ोस के मुहल्ले से बगैर किसी लड़ाई-झगड़े के बरामद करा लीं।

मेरे पास आए और कहा, "आपा जी, रात भर बकरियां ढूंढता फिरता रहा हूं आखिर ले ही आया।"

दोस्तों ने इस कारनामे पर उनकी खूब पीठ ठोंकी और कस्साबपुरा का तालीमी मरकज उनकी निगरानी में तरक्की करने लगा। एक माह बाद दूसरा और फिर तीसरा लड़का इंचार्ज हुआ। मगर मरकज के कर्ता-धर्ता वहां के किसी झगड़े में नहीं पड़े। सबके

---

23. शैक्षणिक।
24. केंद्रों।

दोस्त रहकर सोशल और तालीमी तरक्की की कोशिश करते रहे।

बहुत ही जल्द तीसरा मरकज-ए-तालीम पुल बंगश पर भी खोला गया और इस तरह सारे इलाके को घेरकर तालीमी मुहिम[25] शुरू कर दी गई।

निटिंग सेंटर के सिलसिले में मुझे औरतों का विश्वास भी हासिल हो गया था और अब अक्सर वे अपनी मुश्किलों और जरूरतों में मुझसे इमदाद और मशविरा लेने आती थीं। लेकिन अफसोस यह कि मैं उनकी कोई खास मदद न कर सकी क्योंकि मेरा ताल्लुक न रिलीफ कमेटी से था, न पुनर्वास मंत्रालय से और उनकी मुश्किलें कोई वक्ती या आरजी तो थीं नहीं जो आसानी से हल हो सकें, छोटी-मोटी मुश्किलें दूर कर देती थी।

उन्हीं दिनों किंग्सवे कैंप में आग लग गई। कुदरत शायद उन दिनों सिर्फ बरबादियों पर तुली हुई थी। आग आनन-फानन फैली और लपटों की जबानें चंद मिनट में सारी बची-खुची पूंजी, महीनों की मेहनत और सरकार की इमदाद सबको चाटकर साफ कर गईं।

जली हुई झोंपड़ियां, झुलसे हुए कपड़े और धुएं से काले बरतनों के ढेर जा-ब-जा लगे हुए थे। बच्चों का बिलख-बिलख कर रोना, मांओं की आहें और बूढ़ों की बेकसी देखकर फरिश्ते भी तड़प उठे होंगे। मगर इंसान तो बड़ा ही बेरहम है, उसने ऐसे वक्त भी अपनी वेदर्दी, खुदगरजी और स्याहा दिली[26] का प्रदर्शन किया।

एक औरत रो रही थी कि जो कुछ गहना-जेवर पाकिस्तानी मुसल्लों से बचाकर यहां लाए थे वह पापियों की भेंट चढ़ गया। मैंने पूछा क्या जल गया ? कहने लगी, नहीं जब आग लगी है तो जल्दी-जल्दी हम सब अपना सामान निकालकर बाहर रखने लगे। हम भाग-दौड़ में रहे और यहां चोरों ने हाथ मार दिया। किसी के बरतन उठ गए, किसी का बक्स। कोई गहने को रो रहा था, तो कोई कपड़े को। चोर कहीं बाहर से थोड़ी आए हैं, वे भी इसी कैंप के बाशिंदे थे। खुद भी मुसीबतजदा होंगे मगर इस हश्र के मैदान में भी उनको यही सूझी।

सैकड़ों ऐसे थे कि अब उनको सिर छिपाने की जगह, एक वक्त की रोटी और एक जोड़ा कपड़ा हासिल करने के लिए नए सिरे से वही पापड़ बेलने थे जो अब से तीन माह पहले जब वे नए-नए आए थे, बेलने पड़े थे। उन चंद दिनों में जब से फूस, टीन और सीमेंट की चादरें पड़ गई थीं उनको जरा सा साया नसीब हो गया था। अब फिर वही भयानक धूप होगी और उसकी गरमी से चकराते हुए, पिंघलते हुए उनके सिर।

यह दर्दनाक हालत देखकर तो मैं पुकार उठी, तो खुदा तू रहीम और करीब है !

---

25. अभियान।

26. दिल का कालापन।

आखिर तुझे अब तक क्यों इन पर रहम नहीं आया ? 24 हजार[27] इंसान...उनकी मदद सिवाए खुदा के कौन कर सकता है ? वही उनकी मुसीबतें काटे ! उन्हीं में से एक शख्स वह भी था जो अपने दस हजार रुपए का मातम कर रहा था और कैंप कमांडर कह रहे थे यह आदमी राशन तो अब तक गवर्नमेंट में लेता रहा है, दस हजार रुपए इसके पास कहां से आए ? मेरे दिल में खयाल आया कि शायद ये दस हजार उसने पिछली रात ही को कमाए हों और फिर चोर के घर में छिछोर आ गया हो।

वे उस वक्त खुदा से मदद भी नहीं मांग रहे थे, बल्कि गुस्से में उसको बुरा-भला सुना रहे थे। उनके दिल की हालत समझना कुछ मुश्किल न था। तकलीफों ने अब उनकी बर्दाश्त की ताकत खत्म कर दी थी और इस घटना के बाद भविष्य का भयानक चेहरा उन्हें नजर आ रहा था। कहीं से उम्मीद की किरण फूटती नजर न आती थी। फिर वे क्यों न तड़पते ? जल्द से जल्द उन सबको शहर के विभिन्न स्कूलों और खाली क्वार्टरों में पहुंचा दिया गया और एक बार फिर वे महीनों भले दिनों के इंतजार में वक्त गुजारने लगे। आहिस्ता-आहिस्ता खेमे मुहैया हुए, झोंपड़ियां डाली गईं, क्वार्टर बने और कुछ दिन बाद उनको फिर तरतीब[28] से किंग्सवे कैंप लाया गया। उस समय उनकी अंदरूनी और बाहरी बेतरतीबी इंतहा तक पहुंच गई। खुदा ही जाने कब तक उनकी जिंदगी का यह चक्कर चलता रहेगा, और कब ईश्वर उनकी मदद करेगा ?

शहर में हर तरफ से उनकी इमदाद हो रही थी, मगर वे सब समुद्र में एक बूंद साबित हुई। मैंने भी सिलाई सेंटर के तैयार किए हुए 20 जोड़ आदमियों के लिए और 20 जोड़े छोटे बच्चों के देवल कैंटीन भेज दिए। उससे ज्यादा कुछ न कर सकी।

फरवरी में दो आदमी भागकर एक गांव से हुमायूं का मकबरा कैंप में आए और उन्होंने अपने मुंड़ाए हुए सिरों पर लटकती चोटियां दिखाकर मुसलमानों में बड़ी हलचल मचा दी। दल इकट्ठे हो-होकर उनकी दास्तान सुनते और फिर कैंप के एक कोने से दूसरे तक उसे फैलाते।

चंद बूढ़े देहाती उन दोनों को मेरे पास लाए और बयान किया कि महरौली, नजफगढ़ और नरेला के बहुत से गांव ऐसे हैं जहां मुसलमानों को निकलने नहीं दिया जाता। उनको जबरदस्ती शुद्ध कर लिया गया है और उस वक्त बजाहिर वे हिंदू बने हुए मौके के इंतजार में हैं। उन सबने हमसे दरख्वास्त की है कि जिस तरह हो सके आप उनको वहां से बुलवाकर पाकिस्तान भिजवा दीजिए।

मैंने कहा, भई यह बात गलत है। मैं तो तुम सबको मना कर रही हूं, उनको पाकिस्तान जाने के लिए क्यों बुलवाने लगीं ? हां, यह कर सकती हूं कि कुछ अर्से के लिए, जब तक हालात बिल्कुल शांत न हो जाएं, उनको दिल्ली बुलवा लूं। और फिर

---

27. किंग्सवे कैंप में उस वक्त 24 हजार शरणार्थी थे।

28. क्रम।

वे अपने गांव महीने-दो महीने बाद वापस चले जाएं। इस वक्त मुस्लिम जोन में मकान खाली हैं, लेकिन अमन होते ही उनको पलट जाना होगा। वे लोग इस पर राजी हो गए।

मेरी नातजुर्बेकारी[29] कि इस दुश्वार काम को इतना आसान समझ बैठी। दोनों चोटी वाले तो बात पक्की करके चले गए और हमने सुरक्षा गार्ड, पुलिस और ट्रक भेजकर उन देहातों से भयभीत मुसलमानों को निकलवाना शुरू कर दिया।

सच बात तो यह थी कि बराबर हैसियत के मुसलमान जमींदार और काश्तकारों के चले जाने पर हिंदू भाइयों को एतराज नहीं हुआ था बल्कि अक्सर खुद ही निकाला था। लेकिन मुसलमान कारीगर, बढ़ई, लुहार, तेली वगैरह को उन्होंने जबरन रोक रखा था। अगर वे चले जाते तो उनके हल-बैल कौन ठीक करता ?

यों लोग शहर में आकर बेकार भी साबित न होते। जिस जगह ठहरते मेहनत करके खा-कमा निकलते थे। मगर यह सिलसिला शुरू हो गया तो फिर बढ़ता ही जा रहा था और जमीअत में अब ऐसे देहातों से भी दरख्वास्तें आ रही थीं जहां कई-कई सौ आदमियों की शुद्धि कर दी गई थी।

एक तरफ मुसलमानों का इसरार था कि एक भी शुद्ध हो जाने वाला मुसलमान देहात में बाकी न रहने पाए, उधर सरकार ने पुलिस और कर्मचारियों को हिदायत कर रखी थी जो आना चाहे उसे जबरदस्ती कोई रोक न सके। मजलूम की हर मुमकिन मदद की जाए। हिदायत तो पहले से थी मगर अब कुछ दिनों से उस पर अमल हो रहा था। दरअसल हिदायत तो यह थी कि जो रहना चाहे वह मजहब बदले बिना बेखतरा रह सकता है। किसी को जबरदस्ती निकालने का हक नहीं। इसी हुक्म को अमली जामा इस तरह पहनाया गया था कि कलेक्टरेट के अफसरों ने अपनी मौजूदगी में 40 गांवों की पंचायत कराके दो सालिम गांवों की शुद्धि करा दी और लोकल गवर्नमेंट ने उनको अच्छे काम की सनद भी दे दी कि उस इलाके में उन्होंने शांति बनाए रखी और वहां का एक आदमी भी भागा नहीं। नौकरशाही उस जमाने में भी पुरानी मनोवृत्ति रखती थी और पुरानी चालें चल रही थी।

एक गांव के लोगों को लेने मैं खुद गई। वहां कुछ झगड़े का अंदेशा था। आदमियों की तादाद भी पचास-साठ थी। एस.पी. पुलिस पार्टी समेत साथ था और दो-तीन साथी हमारे अपने थे। पुलिस ने गांव घेर लिया और आवाज देते ही सारे मुसलमान इकट्ठा हो गए। सिर्फ तीन ने आकर कहा कि हम हिंदू बन चुके हैं, अब न गांव छोड़ना चाहते हैं, न मजहब। हमें उनसे कोई विरोध मोल नहीं लेना था। बस जबरदस्ती कुछ न होने पाए। खुशी-खुशी जिसका जो दिल चाहे करे, यही हमारा उसूल था। जान के डर से सहमे हुए लोग, जो अंदर ही अंदर साजिश कर रहे हों, हमारी नजर में मुल्क और कौम

---

29. अनुभवहीनता।

दोनों के लिए खतरनाक थे। और इंसाफ और इंसानियत के खिलाफ जो चीज हो उसके लिए लड़ना हमारा फर्ज था।

जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं, हमारा अंदाजा कितना गलत था ? इतना अहम और मुश्किल काम और उसे हम आसान समझ बैठे थे। चलने का इरादा किया तो अजीब-अजीब सवाल सामने आए। उनके मकान थे जिन पर उन्होंने काफी रकम खर्च की होगी। मगर देहात में न वे किराए पर चढ़ाए जा सकते थे न बिक सकते थे। उनकी जमीन थी, गांव से निकलकर वे कैसे उसको अपने कब्जे में रख सकेंगे ? जानवर थे जिनके चौथाई दाम उस वक्त मिल रहे थे और उनको मजबूरन बेचना पड़ रहा था।

और इन सबसे बढ़कर वह कर्ज था जो हमेशा से चला आ रहा था और हमेशा चलता रहेगा—यह वह कर्ज था जो उन दिनों किसान के माथे पर तकदीर जन्म दिन से लेकर मरण तक के लिए लिख देती थी। सबके सब कर्जदार थे और महाजन खाते खोले हुए बैठे थे कि ये एक तिनका यहां से न ले जाने पाएं इसके अलावा शादी-ब्याह के न्यौते भी कर्ज की ही हैसियत रखते हैं और उनकी अदायगी भी इतनी ही जरूरी होती है। उस वक्त वह हिसाब-किताब भी हो रहा था कि 'तेरे भैया के ब्याह पर मैंने इतना दिया था, मेरे यहां तो अभी काम-काज की नौबत भी नहीं आई है।'

खुशकिस्मती से हमारे हमराहियों में एक कांग्रेसी वकील साहब भी थे। उनकी कानूनदानी उस वक्त काम आ गई। उन्होंने बाकायदा सन् और तारीख देखना शुरू कर दी। किताब खुल गई और बेइमानियां जाहिर होने लगीं। बहुत से कर्जे जो अदा हो चुके थे, जाहिर हो गए। यों उन्हें थोड़ा छुटकारा मिला। मकान-जमीन की कोई कीमत ही उस वक्त न थी। गाय-बैल, भैंस सब उस वक्त नोच लेने की जो ख्वाहिश थी वह पूरी न हो सकी। वकील साहब की सूझ-बूझ और पुलिस अफसर की डांट-डपट ने कुछ पैसे उन जिलावतनों[30] की जेब में बचा ही दिए। शादी में दिया हुआ न्योता भी बेबाक हो गया।

मैं सोच रही थी ये मुश्किलात अब इनको मजबूर कर देंगी कि जाने से इनकार कर दें मगर ऐसा न हुआ। वे बदस्तूर तैयार रहे। उधर बनिए अपनी तंगनगरी दिखा रहे थे—बस में न था कि बदन से खाल तक उतरवा कर खा लेते। इधर बच्चे सबके सब ट्रक में बैठ गए थे। हिंदू-मुसलमान बच्चे पास-पास बैठे हुए इस तरह हंस रहे थे जैसे मेला देखने जा रहे हों और न जाने वालों को अफसोस है। ललचा रहे हैं कि हम भी चलते।

एक तरफ जवान औरतें लिपटकर अपनी सहेलियों से विदा हो रही थीं। हिंदू-मुसलमान दो बूढ़ी औरतें एक दूसरे से मिलकर जोर-जोर से बैन कर रही थीं। ट्रक के पास कई जवान लड़कियां एक दूसरे के गले में बांहें डालकर सिसकियां भर रही

---

30. अपने देश को छोड़कर जाने-आने वाले।

थीं और एक बूढ़ा किसान सामने लगे हुए चने के खेत को देख-देखकर आंसू पोंछ रहा था और कह रहा था, यह जो सामने कीकर का पेड़ है, यह मैंने अपने हाथ से लगाया था। चना कितना ऊंचा हो चुका है, तैयारी के करीब है। क्या पता अब इसे कौन काटेगा ?

यह दर्दनाक सीन देखकर मैं जब्त[31] न कर सकी। मैंने पुलिस अफसर से कहा, ''यह बहुत ही कठिन काम है। मैं आइंदा[32] आपका साथ न दे सकूंगी। किसी दूसरे को नामजद करा दूंगी। यह अलविदाई मंजर देखना मेरी ताकत से बाहर है।''

किसान दर-दीवार से मिलकर रुख्सत हुए और दरख्त से टूटे हुए पत्ते की तरह शहर की गलियों में सूखने के लिए बिखेर दिए गए। दुबारा मैं उनसे फिर मिली। बहुत कुछ ढांढस बंधाया मगर उनके दिलों की हूक न मिटा सकी। कुछ दिन बाद मैंने सुना कि धरती की मुहब्बत उन्हें निजामुद्दीन खींच ले गई और वहां भी मायूसी हुई। यही लालच उनको पाकिस्तान ले गया, पता नहीं यह आरजू वहां भी पूरी हो सकी या मर-खप गए।

इस एक प्रयोग ने हमें बहुत बड़ा सबक दिया। हम उनको मुतमइन न कर सके। उनको पाकिस्तान जाने से न रोक सके। उनको फिर एक माह बाद वतन वापस न लौटा सके और एक भरे गांव को उजाड़ने का कारण भी हम ही हुए। अपनी इस बहुत बड़ी गलती पर मुझे अब तक अफसोस है। लेकिन शायद इसके सिवा और कोई हल भी न था।

---

31. सहन।
32. भविष्य में।

10. अंधेरा और रोशनी

मार्च शुरू हो गया और कैंप अब नाकाबिले हल मसला बनकर रह गया था। कुछ समझ में न आता था इसको कैसे खत्म किया जाए। आप लोग न अब झगड़ा करना चाहते थे, न मारकाट मचाना चाहते थे। उन्होंने सब कुछ करके देख लिया था और अमन और फसाद दोनों के नुकसान और फायदों से वाकिफ हो चुके थे। संघियों और आर. एस. एस. के खिलाफ आम नफरत और नाखुशी फैली हुई थी और वे समझ रहे थे कि कदम-कदम पर गलतियां करते रहने से कुछ फायदा हासिल न होगा।

लेकिन लोकल गवर्नमेंट अब तक इस पर तुली हुई थी कि दिल्ली सूबा मुसलमानों से साफ हो जाए। इसके लिए वे तरह-तरह की चालें चलते रहते थे। उन्होंने इस मामले में लीग वालों से भी सांठ-गांठ कर ली थी और कुछ अपने आपको लीडर समझने वाले लोग भी अपने साथ लगा रखे थे।

उन्हीं में एक देहात का रिटायर्ड लेफ्टिनेंट भी था जो अफसरों का बड़ा मुंह लगा था और तकरीबन सभी से उसकी दोस्ती थी। बहुत से गांवों को खाली कराने का जिम्मेदार हम उसको समझते थे। अपने गांव पर तो उसका जबरदस्त असर था ही, उसके अलावा उसका पाकिस्तान आफिस में भी अच्छा रसूख था। जिसे चाहता पास दिलवा देता, जिसकी चाहता जमीन का तबादला कर देता। एक गांव की तेरह हजार बीघा जमीन जो एक बड़े अफसर[1] ने अपने रिश्तेदारों की पाकिस्तान में छोड़ी हुई चालीस हजार बीघा जमीन से बदली थी वह सारी बातचीत उसी के मार्फत हुई थी।

वह ऐसा क्यों कर रहा था ? शायद लोभ ने उसकी आंखें अंधी कर दी थीं। शायद वह अपने रिश्तेदारों और साथियों की जान-माल असुरक्षित समझ रहा था या भविष्य अंधकारमय देखकर उसने भलाई की यही राह सोची थी ? लोग कहते थे कि उसे पाकिस्तान गवर्नमेंट ने दिल्ली सूबे के बेहतरीन काश्तकार पाकिस्तान भेजने के लिए लिखा है और पाकिस्तान गवर्नमेंट दुनिया पर यह साबित करना चाहती है कि हिंदुस्तान से सब मुसलमान निकल आए। लेकिन हम कोई ऐसी बात नहीं कह सकते थे। हमारे पास सबूत ही क्या था ? सिर्फ अंदाजे लगा लेते थे और जो देखते थे उस पर अपनी

---

1. मि. रंधावा।

राय बना लेते थे। हममें से कुछ का ख़याल था कि सिर्फ नौकरशाही उसे ऐसा करने पर मजबूर कर रही है और इसमें बहुत कुछ असलियत भी थी। वह एक साथ दोनों सरकारों और अवाम, सबका हमदर्द और मददगार बन बैठा था और उसकी पीठ पर रखा हुआ एक बड़ा-सा हाथ हमें हर वक्त नजर आया करता था।

मेरी नजर में वह खुद कुछ भी न था, न उस जैसे बहुतेरे लोग कुछ थे। वह तो सिर्फ हमें नुकसान पहुंचाने, हमारी राह में रुकावट डालने और हमें नाकाम बनाने के लिए थपकियां देकर समाने लाए जाते थे। खुद अपनी उनकी कोई हैसियत न थी। परदे के पीछे जो अक्ल काम कर रही थी असल लड़ाई तो हमारी उससे थी।

एक दिन वह कैंप के दरवाजे पर मुझे मिल गया। मैंने कहा, देखो तुम रोज-रोज आकर इनको न भड़काओ। जब भी ये सब वापस जाने पर तैयार होते हैं तुम किसी न किसी पैगाम, वादे या हुक्म को लेकर आ जाते हो। इनकी तबाही के जिम्मेदार तुम हो। तुम्हीं ने इनको गांव से उजड़वा दिया और अब सोचने भी नहीं देते हो।

उसने कहा, मैं उनके लाए जाने से इनकार नहीं करता। लेकिन मैंने अपना और अपने साथियों का भला इसी में देखा। और अब तो गांव वापस जाने का कोई सवाल ही बाकी नहीं है। जमीनों का तबादला हो चुका। जब चीज ही हमारी न रही तो कहां जाएं ?

मैंने पूछा, और यह सब हुआ किसके हुक्म से ? मैं तो मालूम कर चुकी, गवर्नमेंट को कुछ खबर नहीं है। प्राइम मिनिस्टर तक इसके बारे में कुछ नहीं जानते।

उसने जवाब दिया, सबको पता है। लोकल गवर्नमेंट[2] ने खुद कराया है।

मैंने चाहा कि वह लिखा-पढ़ी किसी तरह हाथ आ जाए और एक सबूत मुहैया करके मैं कोशिश करूं। लेकिन किसी तरह पेश न गई। खबर तो बहुत दिनों से सुन रही थी। दूसरे जमींदारों का मुझे ऐतबार न था, मगर आज तसदीक[3] हो गई।

चार बार नाकाम होने के बाद हम सब झल्ला उठे। कोई हद है ? जब भी मामलात इस मंजिल पर पहुंचते हैं कि तय हो जाएं, तभी यह कभी पाकिस्तान आफिस की तरफ से, कभी अपने हमदर्द अफसरों की तरफ से कोई न कोई नई हिदायत या खुशखबरी लेकर आ जाता है।

और इस झल्लाहट में हमने असिस्टेंट कमांडर और कैंप कमांडर से कहा कि अब उसे कैंप में दाखिल न होने दिया जाए।

दूसरे दिन मैं कैंप के बाहर खड़ी उस काफिले को देख रही थी जो शहर से आकर ईसा खां के मकबरे में जमा हो रहा था। इतने में मजिस्ट्रेट साहब भी आ गए।

मैंने पूछा क्या पाकिस्तान गवर्नमेंट ने दिल्ली वालों को भेजने की इजाजत दे

---

2. दरअसल गवर्नमेंट का लफ्ज गलत था, सिर्फ दिल्ली सूबे का बड़ा अफसर जिम्मेदार था।
3. पुष्टि।

दी है ? इससे पहले तो आप कहते थे कि वे लोग इनको लेना नहीं चाहते ?

कहने लगे, नहीं साहब दिल्ली वालों को इजाजत नहीं है। मगर यह देखिए पंजाब के गांव वालों के लिए परमिट आया है। लिखा है कि उनके लिए ट्रेन का बंदोबस्त कर दिया जाए।

दूसरे दिन गाड़ी जाने वाली थी, इसलिए अब तक बहुत से लोग आ चुके थे। मुझे उनसे बातें करते देख काफी आदमी खड़े होकर बातें सुनने लगे। उनमें से एक ने चीखकर कहा : "क्या दिल्ली वालों को इजाजत नहीं है ?"

मजिस्ट्रेट ने जवाब दिया, "हां और वे कहते हैं कि करार तो पूर्वी और पश्चिमी पंजाब के तबादले का था। हर सूबे से इतना आदमी पहुंच गया है और अब गुंजाइश नहीं है। इतना छोटा-सा पाकिस्तान है, आखिर कहां तक लोग इसमें समाएंगे ?"

दिल्ली वाला झल्लाकर बोला, "तो फिर उस कमबख्त ने इतना छोटा पाकिस्तान बनाया क्यों था, जो उसमें हमारी जगह नहीं है ?" मजिस्ट्रेट करीब आकर राजदारी[4] के अंदाज में कहने लगे, "इस बदमाश लेफ्टिनेंट को हटाइए। सब किया-धरा इसी का है।" उनके चेहरे पर व्यंग्य और उपहास झलक रहा था।

तबीयत जल ही तो गई। मक्कारी की हद हो गई "चोर से कहो चोरी कर और शाह से कहो जागते रहना" मैंने कहा, उसे अंदर दाखिले के लिए पास देने को मैं मना कर चुकी थी, मगर आपने उसको हमेशा यहां रहने की इजाजत दिलवा दी है, और फिर उसे बदमाश भी कहते हैं !

खिसियाने होकर बोले, "मैं...ने...मैंने... ।"

"जी हां आपने। आपका राइटिंग मैजूद है।" मैंने कह ही दिया और वे दूसरी तरफ मुड़कर औरों से बात करने लगे। इस तरह अपनी शर्मिंदगी मिटाई।

फरवरी और मार्च कैंप के पनाहगुजीनों पर बहुत सख्त गुजरे। पुलिस वाले अब लूटने की कम ही हिम्मत करते थे। उनकी खाली जेबों को टटोलने वाले अब खुद उनके भाई बंधु थे। कैंप में अब जफर खां का राज था। उन्होंने और उनके भाई ने कई किस्म के काम करा देने के वादे पर लोगों से खूब रुपया वसूल किया। दोनों ने अपनी बदमाशियां करने के लिए कैंप पुलिस को अपने साथ मिला लिया था। उनके जरिए वे जुआ खेलने का इलजाम लगाकर लोगों को गिरफ्तार कराते, अटारी पर उन्हें कैद किया जाता और उनकी सारी पूंजी छीनकर उन्हें रिहाई दे दी जाती।

एक दिन मैं गई तो देखा कि साफ मेजपोश पर तांबे के दो नक्काशी किए हुए गिलासों में फूल पड़ा हुआ है, जफर खां दरबार लगाए बैठे हैं। मेज पर तरह-तरह के जेवरात की ढेरी लगी हुई है। कुछ बक्से भी खुले पड़े हैं। मुझे अचानक देखकर एक पल सिटपिटाए, फिर कहने लगे, देखिए आपा जान, बहुत से लोग रेल पर चढ़ते वक्त

---

4. रहस्यात्मक।

अपना सामान भूल गए हैं। ये सोने-चांदी के जेवरात हैं, बरतन-कपड़े सभी चीजें हैं। बताइए इनका क्या किया जाए।

मैंने नाखुशी जाहिर करते हुए कहा, यह सब कुछ गोदाम में महफूज था तो तुमने निकलवाया क्यों ? पराई चीज का तुम क्या बना सकते हो ? बोले, देख रहा हूं क्या क्या चीजें हैं, आप इन लोगों में तकसीम कर दीजिए। कुछ लोगों को मैंने दिया है, बाकियों को आप बांट दीजिए। आखिर इसे रखकर क्या होगा ?

मैंने सख्ती से कहा, "जफर खां, तुम्हें इन चीजों की तकसीम का कोई हक नहीं है। मुमकिन है जिनका सामान छूट गया है वे हमें खत भेजें। गाड़ियां जाती ही रहती हैं। उनका सामान दूसरों के साथ भेजा जा सकता है। मुझे बताओ किसको दिया है ? मैं उन सबसे वापस लूंगी।"

नाम पूछती हूं तो अस्पताल के डाक्टर, गोदाम के दरोगा, राशन इंचार्ज न मालूम कितने पेट भरे 'हकदार' चीजें छांटकर ले जा चुके थे। मेरे बुरा-भला कहने और शर्मिंदा करने पर दो-एक ने वापस किया और कुछ ने वापस देने का वादा किया। पता नहीं उन्होंने खुद क्या लिया था ? यह भला कैसे मालूम होता ? अलबत्ता शर्मिंदा हुए तो कहने लगे, "मैं खुद ही चाहता हूं, मगर क्या करूं ये लोग इतने लालची हैं कि खुशामद करके ले गए।"

सामान बक्सों में भरवाकर ताला डलवा दिया और वालंटियर से कहा कि इसे मेरे साथ कर दो। जहां दूसरे पनाहगुजीनों का सामान रखा है वहां रखवा दूंगी। इत्तिफाक देखिए उस दिन छोटी कार थी, बक्स उसमें न रखे जा सके और मजबूरन वह काम दूसरे दिन पर मुलतबवी[5] करना पड़ा। मगर फिर तो वे हफ्तों टालते रहे और किसी तरह बक्से न दिए। अल्लाह ही जाने किस गरीब का माल था और उसने कितनी मुसीबत उठाई होगी। किसी एक का था भी नहीं, बहुत से आदमियों का सामान था और नाम व पता मालूम न हो सका।

एक रोज खबर आई कि कैंप में गोली चल गई और एक आदमी मर गया। घबराई हुई पहुंची तो मालूम हुआ कि बहुत से देहाती मैदान में जमा होकर सलाह-मशविरा कर रहे थे और वही सबका गुरु लेफ्टिनेंट उसमें भाषण दे रहा था। बस पुलिस ने घेर लिया। किसी ने निकल भागने की कोशिश की और इत्तिफाक से गोली[6] चल गई।

जफर खां ने बयान दिया कि मैं सबको आपके कहने के मुताबिक समझा-बुझाकर सीधे रास्ते पर ला रहा था, मगर लेफ्टिनेंट ने सारे देहातियों का जलसा बुलाया और मैंने पुलिस वालों से कह दिया कि जाकर घेर लो। जलसा यहां न होना चाहिए। लोग समझे नहीं, भागने लगे। बस गोली चल गई।

---

5. स्थगित।
6. पुलिस के बयान के अनुसार।

लेकिन जब मैंने पूछताछ की तो यह सब कुछ गलत साबित हुआ वाकया यह था कि कैंप में एकबारगी खबर उड़ गई थी कि अब कोई गाड़ी पाकिस्तान न जाएगी। यह तो पक्का था, अफसरों की मदद और उनके लीडर की कोशिश से तिहाड़ वालों को तो पाकिस्तान से परमिट हासिल करने के लिए लोकल गवर्नमेंट ने लेफ्टिनेंट को कराची जाने की आसानियां मुहैया कीं और वह वहां से हक मंजूर करा लाया। मगर वह उनकी खुशफहमी थी या लेफ्टिनेंट की डींग। बहरहाल सब देहातियों को तो जाने की इजाजत मिली न थी इसलिए वे परेशान थे। उन्होंने आपस में सलाह-मशविरा किया और कुछ ऐसी सूरत पैदा हुई कि बिरादरी के संबंध से मजबूर होकर बहुत से तिहाड़ वाले भी इस पर मजबूर हो गए कि जब तुम नहीं जाते हो तो हम जाकर क्या करेंगे ? दूसरी तरफ कर्ता-धर्ता जमीन के तबादले की वजह से परेशान थे।

लेफ्टिनेंट परेशान हो गया। आज उसने जलसा इसीलिए किया था और यही भाषण दे रहा था कि तुमको अपनी बात से फिरना न चाहिए। अच्छी तरह सोच लो।

जफर खां को इस मशविरे में शरीक[7] नहीं किया गया। शायद यही बात उनको बुरी लगी हो या कोई और वजह हो। उन्होंने मिलिटरी वालों को उकसा दिया और यह इलजाम लगाया कि लेफ्टिनेंट बगावत फैला रहा है। गवर्नमेंट के खिलाफ भाषण दे रहा है। यह बिल्कुल झूठ और फ्रॉड था, मगर इसका खंडन करने वाला अब यहां कौन बैठा था ? फौजियों को साथ लेकर खुद पहुंचे और ताली बजाई कि घेर लो, लोग घिर गए और घबराकर भागने लगे। एक आदमी सर्कल से निकला था कि उसको गोली लग गई। यह सख्त कदम फौज को इसलिए उठाना पड़ा कि जनसमूह विद्रोही था। लोग बुरी तरह परेशान और सहमे हुए थे। औरतें बैठी हुई सरकार को कोस रही थीं। फिर तो दो दिन तक आनेवालों[8] का तांता बंधा रहा। जिसने सुना वही आया मगर कत्ल होने वाले के वारिसों की कोई इमदाद न हो सकी।

मैंने देखा कि लेफ्टिनेंट अटारी पर कैद था। दाएं-बाएं फौज के जवान थे। उसने ऊपर से मुझे पुकारा। सलाम किया। एक शख्स उसका खाना लिए ऊपर जा रहा था। उसे देखते ही वह गुर्राया, कोई जरूरत नहीं। मैं खाना न खाऊंगा। लोगों ने बताया इसने रात को भी खाना नहीं खाया है। मुझे जरा यह अजीब सी बात मालूम हुई कि कैंप का एक वर्कर लोगों को कैद भी करा सकता है। पूछा कि तुमने उसे कैद कैसे कर दिया ? जवाब दिया कि बगावत के इलजाम में। और दाद चाहने वाली नजरों से मुझे देखा। लेकिन मैंने उलटे उन्हीं को डांटा।

मैं सब समझ और जान गई थी। इसलिए इरादा हुआ कि अब सारा मामला अफसरों के कान में डाल दूं। पानी सिर से ऊंचा हो चुका है। इन दो बदमाशों की

---

7. सम्मिलित।
8. लीडर, वर्कर, अफसर और प्रतिष्ठित लोग अभी आए।

बदौलत सैकड़ों मुसीबतजदा तकलीफ उठा रहे हैं। सूरत खतरनाक थी। सारे पनाहगुजीनों में घबराहट फैली हुई थी, अंदेशा था कि किसी वक्त भी हिंसा भड़क उठेगी।

दूसरे दिन सवेरे ही खबर मिली कि लेफ्टिनेंट पाकिस्तान रवाना हो गया। और एक जिम्मेदार लोकल अफसर के हुक्म से वह हवाई जहाज का टिकट लेकर सिधार गया।

जफर खां समझ रहे थे कि बकरे की मां कब तक खैर मनाएगी ? बहुत जल्द हम लोग उनकी हरकतों का भांडा फोड़ देने वाले हैं। इलजामों की फेहरिस्त करीब-करीब तैयार थी कि एक रोज खबर मिली वह गायब हो गए।

किस्सा यह था कि इधर जल्दी-जल्दी गाड़ियां जा रही थीं, कैंप को खत्म करना था। पनाहगुजीनों को सवार कराने वह पहले की तरह स्टेशन गए और दो वालंटियर अपने खेमे पर तैनात कर गए कि शायद औरतों को किसी चीज की जरूरत हो या वे घबराएं, जरा खयाल रखना। इस चालाकी की जरूरत उनको इसलिए पेश आई, क्योंकि उनको शक हो चुका था कि हम लोग आसानी से उनको जाने न देंगे। वे देख रहे थे कि सब उस पर तुले हुए हैं कि कुछ दिन उनको यहां जेल की हवा खिलाएं। वालंटियर बेचारे चार घंटे खेमे पर पहरा देते रहे। सुबह से दोपहर हुई और वह भी ढलने लगी तब वे घबराए कि अंदर से तो कोई आवाज तक नहीं आ रही है, माजरा क्या है ? झांककर देखा तो आदमी न आदमजाद।[9] वे अब तक खाली खेमे की हिफाजत कर रहे थे। दौड़कर साथियों से कहा। तलाश की, पता चला वह तो रेल पर सवार हो गए और सबको बेवकूफ बना गए। और हमारी तहकीकात पूरी होकर भी अधूरी रह गई। सुभद्रा को इस हार का बहुत रंज था वह बड़े विश्वास के साथ कहती थी, "ये मरेंगे, देख लेना जरूर मरेंगे। लेफ्टिनेंट इन सबको मरवा देगा।"

मैं शायद यह जिक्र करना भूल गई हूं कि एक रोज कैंप में मिनिस्ट्री के एक मुस्लिम मेंबर भी आए थे और उन्होंने कहा, तुमसे सलाह-मशविरा करने नहीं आया हूं। गवर्नमेंट का हुक्म सुनाने आया हूं कि अपने-अपने घरों को वापस जाओ। सरकार तुम्हारी हिफाजत का पूरा बंदोबस्त करेगी। इस पर दो-चार मुखिया किस्म के लोग उनसे बहस-मुबाहिसा करने लगे थे। उनका शायराना दिमाग भला यह हुज्जत कब बर्दाश्त कर सकता था। बहुत ही गुस्से में यह कहकर चले गए, न जाओ तो जहन्नुम[10] में जाओ।

जल्दी-जल्दी दो-तीन गाड़ियां पाकिस्तान रवाना हुइ और मैदान खाली हो गया। कैंप खत्म हुआ और हमें भी फुर्सत नसीब हुई।

मैं इससे पहले जिक्र कर चुकी हूं कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बहुत से मुसीबतजदों से जो हालात मालूम हुए वे एक दूसरे से इतने मिलते-जुलते थे कि बाज

---

9. आदमी का बच्चा।

10. नरक।

वक्त[11] हम यह सोचने पर मजबूर हो जाते थे क्या स्कीम का बनाने वाला कोई दूसरा था जिसने दो कापियां तैयार करके एक एक दोनों मुल्कों के हवाले कर दी और दोनों जगह उसी प्रोग्राम पर अमल हुआ। कलकत्ता और बिहार वगैरह में हालात यहां से कुछ अलग थे और दूसरे तरीकों से वहां गुंडागर्दी हुई, मगर दिल्ली और पंजाब के दोनों हिस्सों में हंगामे का रूप और मकसद बिल्कुल एक जैसे थे। दोनों जगह पहले हिंदूराज और मुस्लिम हुकूमत का प्रचार किया गया। पुलिस और लोकल अफसरों ने प्रोपेगंडे और कार्रवाई में पूरा हिस्सा लिया। और जो कुछ किया गया हुकूमत के नाम से किया गया। लोगों को यकीन दिलाया गया कि इंडियन गवर्नमेंट पाकिस्तान गवर्नमेंट दोनों की मर्जी यही है कि अल्पसंख्यकों के जान-माल को असुरक्षित करार दे दिया जाए। बड़े अफसर खुल्लम खुल्ला इसे जाहिर करते थे। अदालतों में अब भी यही जवाब दिया जाता था।

और फिर अल्पसंख्यकों को भयभीत करके मजबूर किया गया कि गांव और मुहल्ले खाली करके किसी एक ठिकाने कैंप में जमा हो जाएं। गांव के वाशिंदों को एक बड़े गांव से भी यह कहकर निकाला जाता कि भई अब तुम्हारा बचाना अफसरों के बस की बात नहीं है। इसलिए जहां सींग समाए भाग जाओ या चलो हम तुम्हें हिफाजत के साथ शहर के कैंप में पहुंचा दें। वहां से सरहद पार, दूसरे मुल्क चले जाना। या बताया जाता कि गाड़ी लग गई है, स्टेशन चलो। बेयार-ओ-मददगार इंसान मायूसी के आलम में पैदल, घोड़े-रेड़ी पर और बैल-गाड़ियों पर चल पड़ते। बची-खुची जमा पूंजी साथ ले लेते और उनको कोई साथ लेने से उस वक्त मना भी न करता था। लेकिन मुश्किल से दो-तीन फर्लांग आगे जाते ही उन पर हमला हो जाता। हजारों दरिंदे लाठी, बल्लम, बंदूक और कृपाणों से लैस होकर उन पर पिल पड़ते।

इस सिलसिले में एक बात याद रखने की है कि जब यह काफिला रवाना होता उस वक्त पुलिस साथ होती थी मगर वह थोड़ी ही देर बाद ऐसे मौके पर जरूर पीछे रह जाती...। थानेदार साहब या डी. एस. पी. साहब का पहुंचने का वादा होता था मगर किसी जरूरी काम की वजह से वे उस समय न आ पाते और यहां सब कुछ हो जाता।

सामान लुटता, बदन के कपड़े तक उतार लिए जाते। खास तौर पर औरतों का लिबास उतारना जरूरी था। बूढ़-बच्चे सब अंधाधुंध भेड़-बकरियों की तरह जिबह कर दिए जाते और भागने वाले पुलिस या फौज की गोलियों का निशाना बनते थे। और फिर घोड़े दौड़ाती हुई फौज आ जाती। कुछेक को बचाकर अफसरों से नेकनामी का परवाना हासिल कर लिया जाता। जख्मी अस्पताल उठ जाते, लाशें ठेलों में भरकर गड्ढों या दरियाओं में फेंक दी जातीं या सूखे पत्ते डालकर फूंक दी जातीं और जवान औरतें, क्वांरी लड़कियां लूट के माल के तौर पर हमलावरों और पुलिस व फौज के जवानों में

11. कभी-कभी।

बांट दी जातीं थीं। अफसरों का भी हिस्सा लगता था मगर उनकी कीमती अमानत किसी जैलदार, नंबरदार या पटवारी के पास सुरक्षित रखवा दी जाती थीं। और जब तक अफसर साहब का जी न भरता लुत्फ लेते रहते, उसके बाद अमीन[12] को हक था कि उसको बेचकर पैसा कमा ले।

ये थे वे हथकंडे जिन पर हिंदुस्तान-पाकिस्तान, दोनों जगह अमल किया गया। खुद दिल्ली का यह हाल था कि वही मशीनरी जो आजकल फूंक फूंककर कदम धर रही है। हंगामे के दिनों में तेजी के साथ काम करती थी। बड़े अफसर बराबर सूबे का दौरा करते थे और लोगों को यकीन दिलाते थे कि वे जो कुछ कह रहे हैं सरकार की मर्जी ही है। फूट की आग भड़काने में उन्होंने अपनी पूरी ताकत लगा दी।

लोगों को आने वाले खतरे से डराते और साथ ही साथ अपनी बेबसी का इजहार[13] भी करते थे कि भाइयो, हम तुम्हारी जान बचाना चाहते हैं, लेकिन मुश्किल यह है कि यहां तो अब सिर्फ हिंदू रह सकते हैं। क्या किया जाए ? राज ही दोनों अलग-अलग हो गए, इसलिए मजबूरी है। बेहतर यही है कि गांव खाली कर दो। दूसरे पक्ष वालों से कहा जाता, यहां अब केवल हिंदू राज होगा। ये लोग अगर धर्म परिवर्तन कर लें तो अपने में मिला लो। महात्माजी कितने दिनों से कह रहे हैं कि छूतछात मिट जाना चाहिए। उन्हें शुद्ध करके खानपान एक कर लो।

इलाका नजफगढ़ में एक सरकारी अफसर ने रोशनपुर[14], दीनपुरा, पोटखुर्द वगैरह देहातों के लोगों को अपने सामने शुद्ध कराया। यह अफसर जाट आंदोलन का सबसे बड़ा समर्थक था। मैंने जब उन सबसे बातचीत की तो उन्होंने बताया कि बड़े-बड़े अफसर उस दिन मौजूद थे। चालीस गांवों के जाट इकट्ठे हुए थे और बाकायदा हमसे प्रतिज्ञा कराई गई थी। अब अगर हम समझौते के खिलाफ अमल करेंगे तो वे सब इकट्ठे होकर हमें मार देंगे।

इंतहा[15] यह है कि दिसंबर में दिल्ली में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की रैली हुई। इतने खून-खराबे के बाद भी अफसरों को होश नहीं आया था। किसे नहीं मालूम था कि दिल्ली प्रांत, यू. पी. का उत्तर-पूर्वी हिस्सा और अजमेर, पंजाब सब जगह संघी नौजवानों ने खून की नदियां बहाई हैं। जिंदा तो खैर जिंदा कब्रों के मुर्दे तक उनके बदले की भावना से बच न सके। दिल्ली, पंजाब और अजमेर के कब्रिस्तान उनकी दरिंदगी को रो रहे थे। मगर खास राजधानी में कांग्रेस सरकार की छत्रछाया में रैली हुई और एक महीना भी न बीता था कि बापू उनकी गोली का निशाना बन गए।

---

12. जिसके पास अमानत रखी जाए।
13. व्यक्त करना।
14. रोशनपुर, दीनपुरा, पोटखुर्द।
15. पराकाष्ठा।

एक मशहूर इंकलाबी[16] ने मुझे बताया कि सितंबर में उनके पास खबर आई कि शाहदरा में इस वक्त बड़ा कत्ल-ओ-खून हुआ है। उन्होंने पुलिस अफसर को फोन करके पूछा तो अफसर ने कहा यहां तो कोई इत्तिला नहीं है। आपको गलत खबर मिली होगी। उन्होंने फिर खबर की तसदीक की और दुबारा फोन किया कि नहीं, खबर सही है। आप पता लगाकर बताइए तो जवाब मिला, हां दो-एक आदमी मारे गए हैं। उनको ऐतबार न आया और खुद चल पड़े। दिल्ली से उनको कोई मदद न मिल सकी। पुल के उस तरफ एक पुलिस ट्रक मिल गया। ट्रक खून से लिथड़ा हुआ देखकर अपने साथियों समेत उन्होंने उसे रोक लिया। काफी देर बाद एस. पी. वगैरह पहुंचे और उन लोगों ने उनको खून के निशानों के जरिए सबूत दिया कि ट्रक लाशें दरिया में फेंक कर वापस आ रहा है। कर्मचारी सहमे हुए थे उन्होंने भी इकरार किया, मगर फिर भी कोई असर न हुआ। कोई सजा न हुई। कोई कार्रवाई न की गई।

सब कुछ हो गया मगर आज भी दोनों पक्ष यही कहते हैं कि झगड़ा पहले पाकिस्तान ने शुरू किया था, हमने तो बदला लिया। और आज भी बहुत से ऐसे मुसलमान हैं जो कहते हैं सब झूठ हैं। हिंदू लोगों को तो रत्ती बराबर नुकसान नहीं पहुंचा। अपना माल-दौलत समेटकर हिंदुस्तान आए हैं। एक बहन ने बड़े विश्वास के साथ कहा कि आप यकीन मानिए, जो उनको वहां कोई खतरा हो। मजे में लहौर के अंदर चलते-फिरते हैं, कारोबार करते हैं और जब वहां से चलने लगे तो गवर्नमेंट ने सख्ती से मना कर दिया कि कोई एतराज न करे। जो कुछ ले जाना चाहें ले जाएं। ये तो अपना कुल सामान यहां तक कि फर्नीचर भी लेकर आए हैं। मुसलमान तो जुल्म कर ही नहीं सकता। उन्होंने पूर्वी पंजाब और रियासतों में जो कुछ किया है वह देखिए।

दूसरी तरफ मुझसे बहुत-सी हिंदू बहनों और भाइयों ने कहा कि मुसलमानों का क्या बिगड़ा ? उनको तो वहां भी राज मिला, यहां भी कब्जा जमाए बैठे हैं। उन पर तो मुसीबत पड़ी ही नहीं, न उनका कोई मारा गया। और दिल्ली आते ही हमारे सैकड़ों आदमी मारे गए। मुसलमानों के पास तो हथियार भी बहुत थे। पूसा रोड और सब्जी मंडी पर उन्होंने तोप भी चलाकर मुकाबला किया था।

अप्रैल में इलाहाबाद से आते हुए मुझे अमृतसर के एक हिंदू व्यापारी मिले। कुछ और लोगों ने भी उनसे सवालात किए और इस सिलसिले में उन्होंने बहुत उत्तेजित होकर एक मोटी-सी गाली देकर कहा...सिखों ने हमको मरवाया वरना हम कारोबारी लोग मजे से दोनों हुकूमतों में तिजारत[17] करते और पाकिस्तान में रहते। हमारा तो कोई झगड़ा ही न था। न तारासिंह तलवार चलकाते, न झगड़ा होता। मेरे इस सवाल

---

16. सुभाष चंद्र बोस के साथी और आजाद हिंद फौज के अफसर रह चुके थे।
17. व्यापार।

पर कि पहले कहां हुआ उन्होंने जवाब दिया मार्च में रावलपिंडी में सिखों का कत्लेआम हो चुका था, लेकिन फिर भी सुकून रहा। मगर अमृतसर में लाहौर से पहले हुआ। मुसलमानों ने लाहौर में पांच नंगी लड़कियों का जुलूस निकाला और फिर उसका जवाब अमृतसर ने 25 लड़कियों का जुलूस निकालकर दिया। मैंने जो यह हालत देखी तो घबराया हुआ पुलिस स्टेशन दौड़ गया। एस. पी. ने कहकहा लगाकर कहा, जाओ जाओ अपना रास्ता लो। नहीं देखा जाता तो आंखें बंद कर लो।

बहरहाल दोनों तरफ ही ऐसे हालात थे। एक की मुसीबत का दूसरे को यकीन आता ही न था और सच तो यह है कि वे एक दूसरे को देखने, जानने या समझने की जहमत भी न उठाना चाहते थे।

●

11. समस्याएं

अफवाहें

अप्रैल शुरू होते ही यह अफवाह गश्त करने लगी कि फिर दिल्ली में बलवा होगा और अबकी बार न सिर्फ चुन-चुनकर मुसलमान ही मारे जाएंगे बल्कि दिल्ली के हिंदुओं को भी अपने इस अनुचित रवैये और असहयोग की सजा भुगतनी पड़ेगी जो उन्होंने रिफ्यूजियों के साथ अपनाया था।

मुसलमानों ने सुना तो कहा 5 सितंबर 1947 ई. मुकर्रर हुई थी और पूरी होकर रही। अब के भी यही होगा। शहर में जिधर देखो यही चर्चे। हर तरफ घबराहट फैल गई। खबरें कांग्रेस आफिस भी पहुंची और गवर्नमेंट हाउस भी। देहातों के कार्यकर्ता आए और बताया कि हथियार जमा हो रहे हैं। वालंटियर बोले, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की शाखाएं जगह-जगह लग रही हैं। किसी ने कहा कि फलां मैदान में रात पड़े शाखा लगती है, परेड होती है, भाले और बल्लम का खेल शुरू हो गया है। किसी ने खबर दी गुरुद्वारों और मंदिरों में आजकल रोज मीटिंगें हो रही हैं। एक साहब जो टेलीग्राफ आफिस में मुलजिम थे बयान करने लगे कि कल मैं साइकिल पर दफ्तर से वापस आ रहा था, पीछे-पीछे कुछ और लोग भी आ रहे थे। उनमें से एक ने कहा :

"ये साले अभी तक पाकिस्तान नहीं गए, यहीं टहल रहे हैं।"

दूसरा बोला, "रहने दो यार, 15 जून को इनकी कुर्बानी करेंगे।"

शांति कायम करने के लिए जी-तोड़ कोशिशें करने वाले लोग जब भी इकट्ठे होते, इसी पर बहस-मुबाहिसा होता रहता कि अब अगर फसाद हुआ तो क्या होगा ? कैसे इस बला को टाला जाए ? क्योंकि सच पूछिए तो हुकूमत उस वक्त भी कील-कांटे से लैस न थी। बापू की शहादत ने सब बहादुरों की हिम्मत चौगुनी कर दी थी। मगर हाथ-पैर तो कटे हुए थे। दिल्ली का प्रशासन पहले की ही तरह चूं-चूं का मुरब्बा था और पुराने पापी आज भी सत्ता में थे। उन्हीं से अब तक लड़ाई न खत्म हो पाई थी, किसी दूसरे से मुकाबला किस बिरते पर किया जाता ?

मैं शायद किसी जगह जिक्र कर चुकी हूं कि दिल्ली में एक सेंट्रल पीस कमेटी कायम थी जिसके अध्यक्ष राजेंद्र बाबू थे और उसमें शहर की बड़ी-बड़ी हस्तियां और सूबे के प्रतिष्ठित लोग शामिल थे। मुझे जानकारी नहीं इस कमेटी ने कितना काम किया

था और किस हद तक शांति कायम होने में उसकी कोशिशों का दखल[1] था। जहां तक अवाम और शहर के गुंजान फसादजदा[2] मुहल्लों का सवाल है लोग उसके नाम और काम दोनों से नावाकिफ थे। मगर शायद नई दिल्ली और सेक्रेटेरिएट में शांति फैलाना उसी का काम था।

बहरहाल जब भी कार्यकर्ता कोई नई कमेटी बनाने की बात सोचते तो जिम्मेदार लोग पीस कमेटी का नाम ले लेते, कि वह तो मौजूद ही है। उसके होते किसी दूसरी की क्या जरूरत ? मगर हम जानते थे, उसमें आम जनता की पहुंच नहीं हो सकती। अलग-अलग विचार वाले लोग उसमें एक जगह इकट्ठे नहीं हो सकते और सारा राष्ट्रवादी वर्ग अगर उसमें घुसने की कोशिश करे तो पहली मंजिल पर सरकार से टकराव हो जाना यकीनी है।

एक इलाका जिससे मेरा खुद ताल्लुक रह चुका था, उसमें शांति दल के नाम से काम करने वालों का एक संगठन था और उनकी सबसे बड़ी कामयाबी यह थी कि उन्होंने मुहल्ला खाली न होने दिया। कारोबार बंद न हुआ और मुसलमान एक दिन भी घरों में कैद होकर न बैठे। रिफ्यूजियों से उनका झगड़ा भी न हुआ। जो झगड़ा-फसाद होता वह शांति दल के वालंटियर अपने सर ओढ़ लेते और जनता को बचा लेते।

मैंने अब तक जान बूझकर एक बात का जिक्र नहीं किया है और वह इमारतों और मस्जिदों का मसला है। इसमें कोई शक नहीं कि जिंदा लोगों से बदले की आग जब न बुझ सकी तो गुंडों ने मुर्दों पर हाथ साफ किया। मगर हर चीज की तरह यह भी एक संगठित साजिश थी, किसी व्यक्ति का जल्दी में किया गया काम नहीं था।

महात्माजी जब दिल्ली आए हैं तो यहां की जामा मस्जिद के अलावा तकरीबन सारी मस्जिदें शरणार्थियों के निवास-स्थल बन चुकी थीं। कुछेक को मंदिर भी बना लिया था और यही हाल पूर्वी पंजाब और रियासतों का भी हुआ था। दिसंबर में जब अजमेर की खबर आई तो वहां भी इसी प्रोग्राम पर अमल किया गया।

जिन दिनों मैं हुमायूं के मकबरे में काम करती थी, अहरार पार्टी के चंद बुजुर्ग मुझसे मिलने आए और उन्होंने कहा कि बड़ा अच्छा हो अगर आप मजारों और मस्जिदों के सिलसिले में हमारे साथ काम करें। हम मस्जिदों को छुड़ाने के लिए कोशिश कर रहे हैं। चलिए आपको दिखाएं कि किस बुरी तरह कब्रिस्तान, मजार और मस्जिदें तोड़ी गई हैं।

लेकिन मेरा जवाब साफ था। मैंने कहा पहले नमाज पढ़ने वालों को बाकी रखने की कोशिश कीजिए। जब वही न रहें तो मस्जिदों का क्या होगा और उन पर ताला या सील लगाकर आप क्या करेंगे ? मैं अभी तो कैंप से बाहर नहीं जा सकती, फिर

---

1. योगदान।
2. घनी आबादी वाले।

देखा जाएगा।

उसके बाद अक्सर वे लोग मुझसे मिले लेकिन मेरा दिल ही न चाहता था, बल्कि जी तो यही कहता था कि यह मस्जिदों की बरबादी इसीलिए हो रही है कि अल्लाह तआला हमें यह दिखाना चाहता है कि खुदा को ईंट, चूने और पत्थर की जरूरत नहीं है। न उनकी परवाह है। वह तो तुम्हारे दिलों का शौक, पेशानी में तड़पते हुए सजदे, नीयत और अमल देखता है। जब यह सब नहीं, तो तुम्हारे हाथों की तामीर[3] और फख्र और बरतरी का निशान तुम्हारी आंखों के सामने मिट जाएगा। खुदा की यही मर्जी है। ये मस्जिदें बिना रूह का जिस्म थीं। मिट्टी की थीं, मिट्टी में मिला दी गईं।

मेवाती

इसी तरह जब मैं एक मेवाती छोटे खां के कहने पर बंगला वाली मस्जिद गई तो तबलीगी जमाअत[4] के मेंबरों ने मुझे घेर लिया। इस जमाअत का जिक्र मैं लखनऊ में सुन चुकी थी और उसके जोशीले मेंबर की दो किताबें भी मैंने पढ़ी थीं। कालिमा और नमाज की तबलीग[5] करने वाली यह जमाअत जो अपनी मेवात की गतिविधियों की वजह से काफी मशहूर हो चुकी थी। बंगलावाली मस्जिद में ठहरी हुई थी। उसके सभी सक्रिय कार्यकर्ता देहाती थे, जो अपनी रोजी खुद मेहनत-मजदूरी करके कमाते थे और अपने खयाल में दीन के इल्म का प्रचार करते थे। लेकिन मुझे यह देखकर अफसोस हुआ कि उनमें पढ़ा-लिखा, अक्लमंद आदमी कोई न था। अलबत्ता दिलवाले थे—सीधे-सादे देहाती, नेक, सच्चे दिल वाले खुदा और रसूल के सच्चे शैदाई। मैं उनकी इज्जत करने पर मजबूर हो गई, मगर उनका साथ न दे सकी। उन्होंने कहा, अगर आप जैसी बेटियां हमारे काम में शरीक हो जाएं तो हमारी जमाअत[6] को बहुत फायदा हो।

लेकिन मेरे पास उनके लिए भी यही जवाब था—पहले पुराने मुसलमानों को बचा लो, इस सरजमीन पर इस्लाम का नाम बाकी रख लो, फिर नए बनाने की फिक्र करना। हजारों भूखे मर रहे हैं, हजारों की शुद्धि हो चुकी है। पहले उनकी खबर लेने की जरूरत है।

उन्होंने कहा, हम तो मुसलमानों को ही दीन पर मजबूत करते हैं, दूसरों में बहस या मुनाजिरा[7] नहीं करते। लेकिन मैं उनकी क्या मदद कर सकती थी ? मैं इतने पक्के ईमान वाली मुसलमान थी ही कब कि दूसरों पर असर डाल सकूं ? जब तक खुद यकीन की मंजिल पर न पहुंच जाऊं, दूसरों को यकीन कैसे दिलाऊंगी ? और फिर मेरे सामने

---

3. निर्माण।
4. इस्लाम का प्रचार करने वाला शुद्धतः धार्मिक संगठन—अनु.।
5. कलिमा और नमाज का प्रचार।
6. पार्टी।
7. वाद-विवाद।

तो बहुत से काम पड़े थे, जो उस वक्त मुझे उससे ज्यादा जरूरी नजर आ रहे थे।

तडपड़ बोलने वाला मेवाती छोटे खां अक्सर मेरे पास आता था और चुपके से कहता, "मेवाती और आए हैं। बस जी मेवात को सारी ही वस रही है। इनको भी बसा दो न।" और फिर कहता, "चलिए, उनसे पाकिस्तान का अहवाल तो सुन लीजिए।"

वह मुझे मेवातियों से मिलाता। गरीब किसान जिनके दिल टूट चुके थे, मुझे अपनी कहानी सुनाते कि पाकिस्तान वालों ने हमको ले जाकर सरहद पर बसा दिया। वहां रोज ही हम सबकी सिखों से मुठभेड़ रहती थी, इसलिए हमने आपस में सलाह की कि इन्हीं के डर से तो हमने अपना देश छोड़ा था और इन्हीं से यहां वास्ता पड़ गया। तो जब लड़ना-मरना है तो अपने वतन में अपनी चीज के लिए लड़ेंगे मरेंगे। यहां क्यों मुसीबत उठाएं ? और यह सोचकर हम पलट आए, और भी आ रहे हैं।

जनवरी-फरवरी में तो खैर उनकी वापसी इतनी नहीं खलती थी। उस वक्त तक परमिट सिस्टम था। चुपके से नूह तहसील पहुंचा दो, किसी को कानों-कान खबर न होती थी। मगर उनकी हालत देखकर तरस आ जाता। उधर चूंकि बापू ने खुद जाकर मेवातियों को तसल्ली दी थी और पूर्वी पंजाब की सरकार को मजबूर किया था कि जो लोग नहीं जाना चाहते उनको मजबूर न किया जाए, इसलिए साठ हजार मेव अब तक एक तहसील में जमे हुए थे और इंडियन गवर्नमेंट दूसरों के मुकाबले मेवातियों को जरा ढील भी देती थीं। उसने कुछ जिम्मेदार कांग्रेसियों की एक पार्टी भी नूह तहसील भेज दी थी कि जो लोग वापस आए हैं और जो मौजूद हैं उनकी इमदाद और बहाली में मदद करें।

एक प्रतिष्ठित[8] आदमी भी उन दिनों इस काम में मदद करा रहे थे और कई ट्रक मेवातियों से भरकर उनकी निगरानी में गुड़गांवां गए थे। छोटे खां कहता था हम सब तो प्रजामंडल के लोग थे और रियासत हमारी मुखालिफ थी। रियासती गवर्नमेंट से हमारा झगड़ा रहता था। वह तो इस इलाके में कांग्रेस और प्रजामंडल सबको खत्म कर देना चाहते थे इसीलिए हमको मरवा दिया। और आखिरी वाक्य यह होता, "अब आ जाओ न हमारी तबलीगी जमाअत में ?"

अगर उसे कभी कुछ रुपया देना चाहो तो न ले। दिन-रात पैदल दौड़ता था और सारे बिखरे हुए लोगों को मेवात पहुंचा देना चाहता था। उसके अंदर गजब की तड़प थी कि किसी तरह जल्द से जल्द अपनी कौम के घर बसा दे। अगरचे उस दल का इल्म नमाज, कलिमा और दीनियात (धर्मशास्त्र) तक सीमित था, मेहनत-मजदूरी के बगैर रोटी खाना हराम समझते थे। बला के मेहनती और तकलकीफ बर्दाश्त करने वाले और दीनदार लोग थे। सैकड़ों आदमी आकर यहां उतर पड़ते थे इसीलिए मैंने पूछा,

---

8. उस समय वे मंत्रालय में नहीं थे, एक कार्यकर्ता के रूप में हमारे व्यवस्थापक थे।

"छोटे खां, इतने आदमियों को खाना कैसे खिलाते हो ?

कहने लगा, "अल्लाह देता है। वही रिज्क (अन्न) पहुंचाने वाला है।"

मैंने कहा, "यह तो ठीक है, मगर रुपए की जरूरत तो पड़ती ही होगी ?"

कहने लगा, "नहीं, हम लोग मेहनत से कमाते हैं। किसी से लेते नहीं।"

मैंने महसूस किया कि ये बहादुर और मेहनती कौम इस काबिल है कि उलमा और गवर्नमेंट–दोनों इसकी तरफ तवज्जो करें। अगर इनको तरक्की और तालीम के मौके मयस्सर[9] आ जाएं तो फिर यह बहादुर नस्ल हिंदुस्तान के लिए लोहे की दीवार बन सकती है और इस्लाम का नाकाबिले-तसखीर (दुर्जय) किला।

इकबाल ने कहा है :

अच्छा है दिल के पास रहे पासबान-ए-अक्ल[10]
लेकिन कभी कभी इसे तनहा भी छोड़ दे

और इस दल के पास सिर्फ सच्चा, पुरजोश, पुख्ता और बहादुर दिल था और इल्म और अक्ल की पासबानी[11] इस पर न थी। सीधे-सादे लफ्जों में वे देहात के भोले-भाले किसान को नमाज और कलिमें की सीख तो दे सकते थे मगर पढ़े-लिखे शैतानों के लिए उनके पास कोई लाहौल[12] नहीं थी। बेचारे इतने सीधे हैं कि शहर में अपनी जमाअत बनाकर तबलीग के लिए चलते हैं और जब मैं सुनती हूं कि वे किसी मुहल्ले में पहुंचे तो मरहूम बुजुर्ग अब्दुलवाली साहब–'मालूमात' के एडिटर का बयान किया हुआ किस्सा याद आ जाता है :

कहते हैं कि एक चौधरी बाराबंकी कस्बे के, एक मुहल्ले के, एक मौलाना फिरंगी महल के और एक कहीं और के, चारों मिलकर कलकत्ता घूमने पहुंचे। जहां जाएं चारों इकट्ठे। जिस सड़क पर निकलें चारों साथ-साथ। यह मुझे याद नहीं वे मौलाना आजाद के पास ठहरे थे या मिलने ही गए हों। बहरहाल वे उनसे वाकिफ थे। मौलाना अब्दुर्रज्जाक मलीहाबादी ने उन्हें देखा तो दौड़े हुए मौलाना आजाद के पास गए और कहा :

"मौलाना, आपको मालूम है, यह कबील :–ए-बनी लहियान[13] ने क्यों कलकत्ता पर चढ़ाई कर दी है ?" मौलाना चूंकि उनसे वाकिफ थे इसलिए बनी लहियान की उपमा से बहुत आनंदित हुए।

शहर में अभी मुस्लिम जोन कायम थे, इसलिए खाली मकानों को हम देहात के परेशान और दुखी लोगों से भर देना चाहते थे। आखिर वे लोग फिर कहां जाते ? पाकिस्तान जाना न चाहते थे, गांव में शुद्ध होकर रहते-रहते तंग आ चुके थे। उनका

---

9. प्राप्त।
10. अक्ल रूपी निरीक्षक।
11. रक्षा करना (रखवाला)।
12. नफरत या बेजारी का वाक्य।
13. लहियान का कबीला अपनी लंबी दाढ़ियों के लिए सारे अरब में मशहूर था।

इसरार था, हमें निकालो। हमें उम्मीद थीं कि दो-चार माह के अंदर हालात ऐसे हो जाएंगे कि वे दुबारा अपनी जमीनों पर वापस जा सकें। जनवरी से यह सिलसिला शुरू हो गया था मगर इस घटना के बाद मैंने फिर जाने की हिम्मत न की।

हमारे एक साथी पुलिस के हमराह जाया करते थे। एक बार उनको एक भगाई हुई लड़की बरामद करने के लिए भेजा और वहां उनको कुछ बहादुरी के कारनामे को भी अंजाम देने पड़े जिस पर न मुझे यकीन आया, न दूसरे साथियों को। मगर यह सच था कि जिसे लेने गए थे वह नहीं मिली। अलबत्ता वे एक दूसरी ले आए और उन्हें इस पर गर्व था कि वह भी तो एक आदमी की बीवी है। अगरचे उसे ले आने का सेहरा एस. पी. के सर बंधा और उनको सिर्फ बेवकूफों की तरह मुस्कराना पड़ा। जिन दिनों कैंप वालों के रवैये से हम सब उदास थे और हमारा दिल न चाहता था कि उनसे बात करें, तब भी वह इसी खोखली मुसकराहट के साथ हमें नसीहत दिया करते थे–

"उनकी तरफ से इतना दिल सख्त न कीजिए, कुछ तो हमदर्दी आपको करनी चाहिए।"

और इस नसीहत पर खून खौल जाता। खुद तो चादर कंधों पर डाले हर वक्त टहलते रहते हैं और फर्ज हम सबको याद दिलाते हैं। मगर हमारे गुस्से का जवाब भी उनके पास सिवाय मुस्कराहट के कुछ न था। ऐसा लगता था जैसे कुदरत ने तरस खाकर जिस चीज से उन्हें महरूम रखा था उसी के बदले हलकी सी मुस्कराहट दे दी है। यह भी न होती तो वे क्या करते ?

मार्च खत्म होते ही देहातों से निकासी का यह सिलसिला भी बंद कर दिया गया। सबसे ज्यादा मुखालिफ मैं खुद ही हो गई। और जमीअत से जो सूची मेरे पास आती, उसे रख लेती। मैं उस दिन का इंतजार कर रही थी जबकि देहात का दौरा करके मैं उनमें फिर पहली-सी उदारता और भाईचारा कायम कर सकूं।

और अब 15 जून के बारे में अफवाहें सुनकर हमें शिद्दत के साथ जरूरत महसूस हुई कि अपनी गतिविधियों का दायरा देहातों तक फैला दें।

उधर वे लोग जो यू. पी. वगैरह के हिस्सों में बिखर गए थे अमन-चैन की खबरें सुनकर दिल्ली आ रहे थे और दिल्ली में पड़े हुए देहाती अब गांव में पहुंचने के लिए बेताब हो उठे थे। लेकिन उनकी मदद करना उस वक्त हमारे बस से बाहर था। न कोई सवारी थी, न फंड। उसके बिना हम एक कदम भी न उठा सकते थे। काम करने वालों की अब कमी न थी। अगरचे सोशलिस्ट कांग्रेस से अलग हो चुके थे, मगर ऐसे कामों में शांति दल को अब भी उनका सहयोग मिल रहा था और शांति दल था भी अजीब खिचड़ी। बजाहिर वह कांग्रेस की मातहती में था लेकिन दरअसल उसका किसी पार्टी से नहीं सिर्फ इंसान और इंसानियत की मदद करने वालों से संबंध था।

सवाल यह था कि अगर कांग्रेस तैयारी शुरू करती है तो सितंबर का बलवा वह कब रोक पाई थी, जो जून की मुसीबत रोक लेगी। उसके पास आदमी ही कितने

हैं। कुछ अच्छे विचार वाले कांग्रेसी हैं जिनकी तादाद उंगलियों पर गिनी जा सकती है, वरना आम तौर पर उसमें अब ऐसे लोग भर गए हैं जिन्होंने मौके पर जनसंघ के जलसों की सदारत भी की और अब वे शांतिप्रिय बन गए। लोकल गवर्नमेंट का दस्त-ओ-बाजू[14] बनने के बाद वे जनता की भलाई के लिए क्या कर सकेंगे ? और जिंदगी में बापू के उसूलों का मजाक उड़ाने वाले अब कैसे गांधीवाद का प्रचार करेंगे ?

सोशलिस्ट अलग कोई कमेटी बनाते हैं तो उन पर न गवर्नमेंट को भरोसा है न कांग्रेस को। अवाम भी उनके नाम से वाकिफ नहीं हैं। सच पूछिए तो अभी वे पूरे तौर से संगठित भी न हुए थे और उनके वर्कर बिल्कुल नौसिखिए और बेउसूल थे, क्योंकि किसी मैदान में जब तक उन्हें जमने की नौबत न आई थी न किसी संघर्ष से उन्हें वास्ता पड़ा था। अभी तो सिर्फ तैयारी कर रहे थे।

यह सब सोचकर 'शांति दल' वाले अपने संगठन का दायरा बड़ा करने की फिक्र में थे। वे कहते थे अमन कायम करना अब कांग्रेस के बस का रोग नहीं है। नई आबादी तो बिल्कुल ही कांग्रेस के असर और काबू से बाहर है। कांग्रेस अपना प्रभाव और प्रतिष्ठा इस समय जनता में खो चुकी है : एक वर्ग सोशलिस्टों के असर में चला गया है, मुसलमानों में जमीअत की तरफ रुझान बढ़ रहा है, क्योंकि यही एक जमाअत थी जो आड़े वक्त उनके काम आई और आमतौर पर मुसलमान कांग्रेस से बिल्कुल ही विमुख हो चुके हैं क्योंकि जिस शहर में कांग्रेसी मुसलमान इस बुरी तरह मारे और तबाह किए गए हों और उनके साथियों ने उनकी कोई मदद न की हो वहां उन पर भरोसा कौन करता ? व्यक्तिगत रूप में कुछ लोगों की वे तारीफ भी करते थे उनके एहसानमंद थे, मगर संगठन की हैसियत से उनको कांग्रेस से सख्त शिकायत और मायूसी थी।

बदनामी का यह बड़ा दाग कांग्रेस के माथे पर है कि इस सारे हंगामे और फसाद के दरम्यान वह अपने ऊंचे आदर्श, मजबूत संगठन और सबसे बड़ी पार्टी होने के बावजूद मुसीबतजदों की कोई मदद न कर सकी, जनता को काबू में न कर सकी और बजाए इसके कि गिरते हुओं को उठाती, खुद नीचे की ओर फिसल पड़ी। उसके मेंबर या तो पड़ोसी को मरते-लुटते देखकर अपने घरों में छिप जाते और दरवाजे बंद कर लेते या कानों में उंगलियां देकर गवर्नमेंट की तरफ भागते, या फिर खुद भी शामिल हो जाते। यह सिर्फ दिल्ली में ही नहीं हुआ, हर जगह हुआ और दो-चार के सिवा कोई खुल्लमखुल्ला मैदान में उस गुंडागर्दी को रोकने वाला न आ सका।

लेकिन कांग्रेस का जन्मदाता उसकी रग-रग से वाकिफ था। वह मय अपने सच्चे दल के यह हाल देखकर खुद जलती आग में कूद पड़ा और तब सबकी आंखें खुलीं। अलबत्ता सेवादल के नौजवान सितंबर से अब तक मुसीबतजदों को बचाने, आग बुझाने और लूटमार रोकने में लगे रहे थे।

---

14. हिस्सा।

इसमें कोई शक नहीं उनमें से बहुतों के दिल पंजाब के जख्म खाए हुए थे। उनमें बहुतों के सीने अजीजों और दोस्तों की दर्दभरी याद से भरे हुए थे। और उन्होंने अपनी आंखों से लाशों से भरी हुई वे गाड़ियां, जो पाकिस्तानी पंजाब से दिल्ली जवाहरलालजी को तोहफे में भेजी जाती थीं, देखीं थी। उन्होंने उन जख्मी इंसानों को तड़पते भी देखा था, जो सिर्फ हिंदू होने की वजह से जुल्म की तलवार का निशाना बने थे और वह भयानक अतीत भूत बनकर उनके दिमागों पर छा गया था। इतने थोड़े दिनों में इतनी आसानी से वे कैसे उसको भुला सकते थे ?

मगर फिर भी ताज्जुब होता है उन्होंने हिंदुस्तान से भेजी हुई मुसलमान घायलों और लाशों से पटी हुई गाड़ियां क्यों न देखीं ? दिल्ली और दूसरी जगहों पर खाक और खून में लौटते हुए इंसान क्या उनकी नजर से नहीं गुजरे ?

सच तो यह है कि इंसान का स्वभाव ही कुछ ऐसा है। वह अपनी तकलीफ पर चीख उठता है, दूसरों के दुख पर हंस देता है। सालहां साल से नफरत और दूरी का जो बीज बोया जा रहा था उसमें अब कोंपलें फूट आई थीं और अगर चंद दिन इसी तरह और खून से सिंचाई होती रहती तो अंदेशा था किसी दिन तनावर दरख्त बन जाएगा...अकेला दरख्त बंजर जमीन पर जिसके साए तले बैठने वाला कोई भी जिंदा न होगा।

हम सब तो खतरे की बू सूंघकर निकल पड़े थे। हममें के बहुत से नौजवान बेचैन थे कि यह तो न इंकलाब है, न इंकलाब की आमद।[15] यह हंगामा तो किसी दूसरे ही तूफान का सूचक है जो इंकलाब के देवता को भी भेंट चढ़ा लेगा। और यही सब सोचकर जब उन्होंने देखा कि बापू की शहादत का असर हलका करने और अवाम के दिल व दिमाग से सोचने की ताकत छीन लेने के लिए फिर तोड़-फोड़ करने वाली ताकतें इकट्ठी होने लगी हैं तो घबरा गए। सारे के सारे कांस्टीट्यूशन हाउस में इकट्ठे होकर सोच-विचार करने लगे कि अब क्या किया जाए ?

मृदुला साराभाई ने उन सबको बुलाया था। मृदुला अच्छी किसको लगती थी ? कांग्रेसी उनसे चौकन्ना रहते, सोशलिस्ट उनसे डरते और कम्युनिस्ट उनको देखकर दूर हट जाते। लोग पास जाते हुए डरते, कहीं झिंझोड़ कर न रख दें। लेकिन इसके सब कायल थे कि औरतों में अकेली वही एक है जो अकारण मशहूर नहीं है। अपने काम, इरादे और दृढ़ता में अपनी सानी नहीं रखता। जहीन[16] आदमी थोड़े सनकी तो होते ही हैं। वही सनक उनसे बड़े-बड़े काम कराती है और अमर जीवन और ऐसी मृत्यु जिस पर सभी ईर्ष्या करें यह सब इसी सनक की बदौलत वे हासिल करते हैं। मृदुला में भी सनक थी। बजाहिर पत्थर की तरह जड़ लेकिन किसी खुशकिस्मत को करीब से देखने

---

15. आगमन।
16. बुद्धमान।

को मिल जातीं तो अंदर से मोम की तरह नर्म, पिघल जाने वाली। अलबत्ता यह मोम कोई मामूली मोम न था जो जरा-सी आंच में पिघल पड़े। इसको पिघलाने के लिए कभी-कभी तो भट्टी दरकार होती थी और बाज वक्त खाली धूप में पिघल जाता था।

मैंने तो अब तक दूर से देखा था लेकिन न मालूम क्यों मुझे अच्छी लगती थीं। एक गैर-मामूली औरत—दिलेर, लड़ाका, गांधीजी की सच्ची भक्त और देशप्रेमी।

यह जन-समूह बहुत बड़ा न था, गिनती के चंद लोग थे। लेकिन एक खयाल ...गो कि अलग-अलग पार्टियों के नुमाइंदे थे। प्रांतीय कांग्रेस के जिम्मेदार दो आदमी सोशलिस्ट पार्टी, जमीअत, शांति दल और सेवा दल के सेक्रेटरी इंचार्ज—सबने एक जबान होकर कहा कि "15 जून को खतरा है, तैयारियां हो रही हैं, अफवाहें फैलाई जा रही हैं और अवाम में खौफ और हिरास[17] बढ़ रहा है। अब सवाल यही है कि क्या करना चाहिए ?"

कांग्रेस कमेटी की एक जिम्मेदार हस्ती उसे कोई अहमियत न दे रही थी। मगर जनरल सेक्रेटरी[18] की पते की बातें सुनकर उनको भी खामोश होते ही बन पड़ी। वह सेंट्रल पीस कमेटी के सिवा और कोई जरिया इस्तेमाल करने को गुनाह समझते थे और कार्यकर्त्ता कह रहे थे कि हमें अपने कामों में अब तक जो उससे कोई मदद मिली नहीं है, इसमें तो लोकल गवर्नमेंट ने अपने दोस्त भर दिए हैं जो कदम-कदम पर रोड़ा अटकाते हैं।

बहरहाल एक लंबी बहस के बाद सब इस नतीजे पर पहुंचे कि खामोश बैठने का वक्त नहीं है कुछ न कुछ करना चाहिए और सरकारी असर से आजाद होकर करना चाहिए।

दूसरी और तीसरी बार फिर सब सलाह-मशविरे के लिए इकट्ठे हुए और यह तय हुआ कि पहले अफसरों से टकराव का जो हर वक्त खतरा लगा हुआ है उससे बचने का उपाय किया जाए वरना किया-धरा सब अकारथ हो जाएगा। हम तो जो कुछ करना चाहते हैं और कर रहे हैं, जनता की भलाई, अपनी सरकार की भलाई, मजबूती और फायदे के लिए कर रहे हैं। लेकिन अधिकारी हर चीज में रोकटोक लगाकर हमें बाकी, जासूस और न जाने क्या कुछ साबित कर देंगे। इसलिए यह बेहतर होगा कि पहले इसका तोड़ कर लिया जाए।

अफसरों का सवाल उठा तो यह मामला होम डिपार्टमेंट से संबंधित था। मगर सवाल यह था कि बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे ? हममें से किसी में भी सरदार पटेल के पास जाने की हिम्मत न थी और फिर आजकल तो वह बीमार भी थे। उस सारे सलाह-मशविरे की खबर उन तक पहुंचा दी गई और स्थिति की नजाकत से भी

---

17. आतंक।
18. चौधरी ब्रह्मप्रकाश उन दिनों जनरल सेक्रेटरी थे।

मृदुला ने सरकार को बाखबर कर दिया।

उन्हीं दिनों एक सच्चे कांग्रेसी जिन्हें हम मास्टर जी[19] कहा करते थे मिले और इसरार किया कि मुझे कल किसी मिनिस्टर तक पहुंचा दीजिए। एक जरूरी राज की बात कहनी है। हमने कुछ टाल-मटोल की तो उन्होंने चुपके से कहा पसोपेश न कीजिए, हमारे एक लोकप्रिय नेता की जान का मामला है। अब तो मैं भी घबरा गई और दूसरे ही दिन एक मंत्री[20] के पास उन्हें सुबह सवेरे पहुंचा दिया।

पता नहीं क्या बातचीत हुई मगर दो ही तीन दिन बाद अखबार में छपा कि गांधी ग्राउंड की किसी सभा में प्रधानमंत्री गए, तो बहुत से लोगों ने शोर मचाकर एक साथ उनके करीब आने की कोशिश की। कुछ हंगामा भी हुआ और एक आदमी गिरफ्तार भी किया गया। और फिर एक पुलिसमैन की गिरफ्तारी सुनी, जो प्रधानमंत्री के सुरक्षा गार्ड में शामिल था।

मास्टर जी ने कहा, देखा ? मैं न कहता था कि इसी जलसे में वे कुछ करने वाले हैं। मैं तो सुरक्षा गार्ड वाले आदमी का नाम तक जानता हूं। वह संघ का बड़ा मेंबर है, इसीलिए वहां भेजा गया था।[21]

ऐसे हालात पैदा हो गए थे कि कांग्रेसी हर मौके और हर जगह अपने प्रिय नेता की तरफ से चौकन्ना रहते थे। वे बहुत बड़ा नुकसान उठा चुके थे और अपनी आस्तीनों में छिपे हुए सांपों को भी खूब जानते थे। इसलिए सेवा दल के वालंटियर हर सभा में जी तोड़ कोशिश करते कि किसी तरह लीडरों को अपने घेरे में लें। उससे पहले बापू के लिए भी वे हमेशा यही किया करते थे। मगर आखिरी बार बिड़ला हाउस में ठहरने की वजह से उनको इसका मौका न दिया गया। पुलिस को रक्षक बनाया गया और सेवादल वाले इतनी दूर रोजाना आने-जाने और हिफाजत करने का कोई बंदोबस्त न देखकर खामोश हो रहे। हुकूमत का खयाल था पुलिस तो सशस्त्र है, प्रशिक्षित है, कानूनी है और ये तजुर्बेकार नहीं, निहत्थे हैं। जमाना खराब है, बापू के दुश्मन बहुतेरे हैं, ये भला क्या दम दे सकेंगे ? मगर शायद वह प्रेम और कर्तव्य की ताकत के फर्क को नहीं महसूस कर सकते थे।

है अभी खाम अगर मस्लहत अंदेश है इश्क[22]

---

19. मास्टर शांति स्वरूप।
20. मास्टर जी सुबह 6 बजे मि. रफी अहमद किदवई से मिले।
21. मास्टर जी ने रफी साहब से कहा था कि आज गांधी ग्राउंड की मीटिंग में पंडित नेहरू पर हमला होगा और उन्हें कत्ल करने की कोशिश की जाएगी। जिस शख्स को इस काम पर मुकर्रर किया गया है वह नेहरूजी के सुरक्षा गार्ड में शामिल है। नाम भी बता दिया गया था। रफी साहब ने क्या किया ? इतना मालूम है कि वह शख्स गांधी ग्राउंड साथ में गया और स्कीम हंगामा होने के बावजूद फेल हो गई।
22. प्रेम में यदि कोई भला-बुरा सोचकर कुछ करता है तो उसका प्रेम कच्चा है।

पगड़ी

अब मुहल्लों में एक बहुत बड़ा झगड़ा मकानों का उठ खड़ा हुआ था और एक नई बला 'पगड़ी' सिंध से आकर हिंदुस्तान में फैल गई थी। मैंने तो कभी अपने होश में 'पगड़ी' का नाम सुना न था। कुछ दिन तो समझ ही न सकी कि यह है क्या बला ? फिर साथियों ने मुझे पगड़ी की अहमियत और कारोबारी हैसियत समझाई। जिन दिनों कैंप में हजारों आदमी रोजाना आ रहे थे तो हम सबने स्थिति से परेशान होकर और उस आपाधापी को रोकने के लिए गवर्नमेंट से दरख्वास्त की थी कि जब तक शांति कायम न हो जाए मुस्लिम मुहल्लों में कोई शरणार्थी न बसाया जाए। एक मकान बसते ही दस घर उजड़कर कैंप में आ जाते हैं। कुछ उनके अपने दिलों में दहशत बैठ गई थी, जिसके खयाली असर से भागते थे और कुछ शरणार्थी भी अजीबो-गरीब हरकतें करते थे। पहले दिन वे इस कोशिश में लग जाते थे कि मुहल्ले भर में अपनी बिरादरी और भाइयों का कब्जा करा दें। और लोकल वाशिंदों को इतना मजबूर करें[23] कि वे सिर पर पैर रखकर भाग निकलें।

बहरहाल सरकार ने मुस्लिम जोन कायम कर दिए थे और उनके खाली मकान सिर्फ मुसलमान रिफ्यूजियों से भरे जा रहे थे, हालांकि अब भी बहुत से खाली थे।

बड़ा सख्त इम्तिहान था, काम करने वालों और पंजाबियों, दोनों का। एक तरफ तो धूप-लू से सूखते हुए जिस्म थे, जो बेकरार होकर उन इलाकों की तरफ लपकते थे जहां उनको साया और छत मिलने की उम्मीद थी। उधर कार्यकर्ता थे, जिनमें से बहुतों के खानदान खुद इस मुसीबत का शिकार थे। मगर पार्टी का हुक्म था, जमाअत के उसूलों की पाबंदी थी और अमन व इंसाफ की ख्वाहिश थी, जो उनको मजबूर करती थी कि खड़े-खड़े उन मुसीबतजदों को मुहल्ले से निकाल बाहर करें।

तीन बड़े-बड़े इलाके 'मुस्लिम जोन' थे। उधर जामा मस्जिद का इलाका, इधर बल्लीमारान वगैरह और फिर बाड़ा हिंदूराव। चौथा छोटा-सा जोन निजामुद्दीन था। इसमें दूसरों के लिए जगह भी न थी, पहले ही मुस्लिम पनाहगुजीनों ने उस पर कब्जा कर लिया था।

ये नाकाबिले-बर्दाश्त मुसीबतें देखकर मेरा दिल तड़प उठता था। वे आकर मुझसे फरियाद करते और कहते कि तुम कह दो तो मुसलमान तुम्हारी बात सुन लेंगे। मैं उनको लेकर जाती मगर नाकाम वापस आती। मुझे आज तक अफसोस है कि एक शरीफ इंसान मि. तलवार और भोले पंजाबी लड़के की मैं मदद न कर सकी। उन दोनों को साथ लेकर मैं मुस्लिम इलाकों के इंचार्ज से मिली। सोशलिस्ट पार्टी से सिफारिश की, रिहैबिलिटेशन कमिश्नर के पास गई। जमीअत के आफिस भेजा कि किसी तरह इन गरीबों को एक ऐसी रहने की जगह मिल जाए, जहां उनके खानदान के बाहर और

23. ऐसा या तो मजबूरी की वजह से था, या बदले की भावना से या शायद दोनों कारणों से।

सोलह मेंबर रात को सो सकें। मगर कुछ भी न हो सका। जरूरतमंद की मदद किसी ने न की और पगड़ी देने वाले मुस्लिम जोन में मकान हासिल करते रहे। दीवार फांदकर मकानों में घुस जाने वाले मकानों पर कब्जा करते रहे।

होता यह था, कि अमीर लोग जा चुके थे और जाते वक्त अपनी जायदाद सुरक्षित रखने और वक्त आने पर बेच देने के खयाल से अपने गरीब दोस्त, पड़ोसी या नौकर को अपने मकान में ठहरा गए थे। वह दोस्त, पड़ोसी या रिश्तेदार अगर शरीफ होता तो आखिर तक मकान को अपने कब्जे में रखता था और अगर वह चाहता तो पांच हजार, दस हजार पगड़ी लेकर उसे किसी शरणार्थी भाई के हवाले कर देता था।

कुछ ऐसे मुस्लिम व्यापारी थे जो फसाद में तो बचे रहे मगर अब उन्हें हिंदुस्तान में ठहरना न था। अपनी जायदाद बेचकर जाना चाहते थे। बेचना आसान न था इसलिए माल-असबाब बेचकर, दुकान और मकान की पगड़ी के हजारों रुपए लेकर वे फिलहाल पाकिस्तान जा रहे थे, ताकि जब हालात बदलें तो आकर अपनी जायदाद बेच जाएं।

वे बेदर-बेघर लोग इतनी मुसीबतों के शिकार हरगिज न होते अगर उनके खुदगरज लीडरों ने उनको यह न सिखाया होता कि जाओ और हिंदुस्तान के मुसलमानों को मारकर वहां से निकाल दो। उनकी जमीन और जायदाद पर कब्जा कर लो। मेरा खयाल है, यू. पी. और दिल्ली के मुसलमान इतने बेदर्द न थे कि मुसीबतजदा लोगों की मदद से किनारा करते। और फिर उनमें तो हजारों सरकारी कर्मचारी भी थे, व्यापारी भी जो किराया दे सकते थे। क्या इससे पहले किसी मुसलमान ने अपना मकान किसी गैर-मुस्लिम को किराए पर दिया नहीं था ? मैंने एक मकान में मुस्लिम, ईसाई, हिंदू और सिख खानदानों को मकान के चार हिस्सों में रखते देखा था। लेकिन उन गलत लीडरों की रहनुमाई ने उनको और भी तबाह किया था। बजाए इसके कि उनको यह सिखाते कि लड़ो, अपने हक के लिए जमकर लड़ो और जिनसे नुकसान पहुंचा है उन्हीं को मारो, यह बताया कि चलकर हिंदुस्तान के मुसलमानों को मारो।

मजबूरी में वे सब लोग नहीं भागे थे, वहां भी यही प्रोपेगंडा किया गया था कि एक भी हिंदू, सिख पाकिस्तान में अब न रहेगा। अब भाग चलो। उधर नातजुर्बेकार और अल्हड़ कांग्रेस सरकार थी। उसने गाड़ियां और हवाई जहाज भेज-भेजकर उनको मंगवाना शुरू कर दिया। यह न किया कि अपनी फौजें भिड़ा देती, बजाए अपनी ही आबादी और रिआया को कत्ल कराने के। यह गड़बड़ी अगर हिंदुस्तान-पाकिस्तान की सरहद पर दो पागल हुकूमतों को टकरा देती तो इससे हजार दर्जा बेहतर होता। यह बदला लेने का जोश, गलियों और सड़कों पर खून का छिड़काव न करता। जंग का मैदान उस खून से लालाजार बना होता, जो मजलूमों की हिमायत और जुल्म व जब्र को मिटाने के लिए बहाया जाता तो अच्छा होता।

अपराधी था पढ़ा-लिखा तबका, नौकरशाही, लीडर और मजहब के ठेकेदार। इन सबको आपस में भिड़ाकर खून-खराबे से तस्कीन हासिल करनी थी। लेकिन जिस तरह

मुसलमानों का पढ़ा-लिखा गिरोह मुस्लिम लीग का हिमायती बनकर जनता को पागल बनाने का जिम्मेदार था उसी तरह हिंदुओं का पढ़ा-लिखा गिरोह राष्ट्रीय जन सेवक को बनाने और उसकी तोड़फोड़ की गतिविधियों का जिम्मेदार था। हालात ने कुछ ऐसी पेचीदगी इख्तियार कर ली थी कि किसी एक पक्ष को मुलजिम करार नहीं दिया जा सकता था।

मुसलमानों की कांग्रेस से बदगुमानी और अविश्वास कुछ उनके अपने ही दिमाग की खराबी न थी। उसमें बहुत कुछ हाथ उन महाशयजी का भी था जो कभी आर्य समाज के मंदिर में भाषण देते नजर आते थे, कभी हिंदी साहित्य सम्मेलन की सभा में, कभी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की परेड अपने सामने कराते थे और कभी एक राष्ट्र, एक संस्कृति का नारा लगाते थे, और कांग्रेस के जिम्मेदार नेता भी थे।

मुस्लिम लीग की कामयाबी कुछ 'लेके रहेंगे पाकिस्तान' के नारे का नतीजा न थी। अगर मजहबियत कुरान हाथ में लिए साथ न हो लेती और परदे के पीछे से कोई तार न खींचता रहता तो सारा पढ़ा-लिखा तबका कैसे घिसट जाता ? कुछ अपने मकसद थे, कुछ स्वाभाविक श्रेष्ठता और बड़प्पन की ख्वाहिश थी, कुछ गलत मजहबी जोश था और कुछ डेढ़ सौ साल की ट्रेनिंग के असर से नैतिक गिरावट थी जिसने अपमान के इस गड्ढे में गिरा दिया।

बूढ़ों को तो जल्दी थी कि अपनी आंख के सामने आजाद हिंदुस्तान और पाकिस्तान देख लें। क्या होता अगर यह दिन देखना नौजवान आंखों के लिए छोड़ दिया जाता और खुद कोशिश में कब्र का रास्ता लेते।

अब जबकि वक्त गुजर चुका है ऐसे बहुतेरे खयाल आते हैं। "यों होता तो क्या होता ?" लेकिन सब बेकार है , आइंदा नस्लें इसको सोचेंगी, भविष्य का इतिहासकार इसे लिखेगा। मगर बात तो जब है कोई सीख भी हासिल करे।

नतीजा भुगतना पड़ा सिर्फ अवाम को, गरीबों को, मध्यम वर्ग को और सबसे ज्यादा औरतों को और उनसे भी ज्यादा बूढ़ों को जिन्हें मौत भी न आई।

यह सिर्फ दोनों तरफ के लीडरों की सियासत ही न थी, नौकरशाही, पूंजीपतियों और महाराजाओं की मिली-जुली जबरदस्त साजिश थी। सरकारी दफ्तर मुस्लिम नेशनल गार्ड और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के अड्डे बने हुए थे। सारी कार्रवाइयां वहीं से होती थीं। शुरू वहीं से हुआ और अब वही लोग थे जो हुकूमतों का सहारा बने हुए थे। फौज, पुलिस और ब्राडकास्टिंग तीनों विभागों से मिलकर मुल्क का सत्यानाश कर डाला।

एक ऐसा संगठित षड्यंत्र जिसने हिंदुस्तान की इतनी जिंदा, तंदुरुस्त, दौलतमंद और बहादुर कौम को तबाह करके रख दिया। हिंदुस्तान के मुसलमान अपने को अल्पसंख्यक कह सकते हैं मगर वे[24] हिंदू अल्पसंख्यक कहां से थे। उनकी तादाद तो

24. यानी पंजाब और बंगाल के हिंदू-सिख।

मुसलमानों से कुछ ही कम थी। हर चीज में, हर बात में वे बराबरी के क्या, और ऊंचे ही थे। अगर उन अत्याचारों के खिलाफ जो पाकिस्तान में उन पर किए जा रहे थे, शांतिपूर्ण युद्ध छेड़ देते और फिर अपने हिंदुस्तान के हिंदू भाइयों से मदद मांगते तो मुझे यकीन है हिंदू क्या खुद मुसलमान भाई उस जुल्म के खिलाफ उनकी मदद करते, या शायद ऐसा न होता। मैं कुछ भी नहीं कह सकती मगर अब सोचती हूं, तो यही खयाल आता है कि हम सब जरूर मदद करते। उनमें से जो यहां आता उसे सिर-आंखों पर बिठाते। क्या पता क्या होता ? लेकिन मैं कोई राजनीतिज्ञ तो हूं नहीं। इसलिए मेरी राय की वक्त भी क्या हो सकती है ? मैं तो सिर्फ एक औरत हूं और मेरा दृष्टिकोण कानूनी आंखों में कैसे समा सकता है।

जनवरी में आरजी स्कूल के एक जलसे में मैं करोलबाग गई थी और साफ-सुथरे पंजाबी-सिंधी बच्चों के खिले हुए चेहरे और मेहनती नौजवानों को देखकर तबीयत खुश हुई थी।

लेकिन मैं वहां भी सोचने लगी कि दिल्ली की गर्म व खुश्क आबोहवा कब तक पांच दरियाओं से सींची जाने वाली इस खेती को हरी रख सकेगी ? ये फूल जैसे चेहरे कुम्हलाकर नीले पड़ जाएंगे। ये मोटे-ताजे जवान कमर झुका देंगे। हड्डियां उभर आएंगी और पंजाब का हुस्न दिल्ली की पथरीली जमीन अपने अंदर समो लेगी। चंद ही दिन गुजरे हैं, मगर देख लो न इन होंठों पर अब न माहिया है न हीर, इन पर तो अब सिर्फ गालियां और कोसने बाकी रह गए हैं।

"आं कदह बि शकस्त-ओ-आं साकी न मांद"[25]

---

25. अब न वह प्याला है और न ही वह साकी।

12. नेकी का बदला बदी

हमारे तालीमी मरकज के ऊपर वाले दोनों कमरे लड़कों ने एक शरणार्थी खानदान को रिहायश के लिए दे दिए थे। मैं डरी कि दूसरों की तरह कहीं यह भी उंगली देते ही पहुंचा न पकड़ लें। मगर लड़कों ने कहा नहीं, वे बहुत शरीफ आदमी हैं। आप इत्मीनान रखिए। यहां आने के बाद उन्होंने लड़की की शादी रचाई और उस सिलसिले में काफी मेहमान आते-जाते रहे। शादी में शिरकत के लिए उनके एक अजीज भी आए थे जो मास्टर थे और उन्होंने जब इस स्कूल को देखा तो बेहद खुश हुए और कहने लगे :

"भई, हमारा भी एक प्राइवेट स्कूल रावलपिंडी में था, वह तबाह हो गया। दिल चाहता है मैं भी यहां रह जाऊं और पढ़ाना शुरू कर दूं।"

स्कूल में मास्टर ही कौन बहुत थे। हम तो ऐसे सरफरोशों की तलाश में रहा करते थे जो खाते-पीते कुछ न हों, किसी वक्त आराम न करते हों और काम चौबीस घंटे करते हों। सभी यह सुनकर खुश हुए और अपनी पार्टी में उनको शामिल कर लिया।

शादी खत्म होते ही बेचारे पनाहगुजीन बीमार हो गए और उनको अस्पताल पहुंचा दिया गया। उधर मास्टर साहब अपने बीबी-बच्चों को लेकर मुस्तकिल कयाम[1] के इरादे से आ गए और नीचे के दो कमरे उनको रिहाइश के लिए दे दिए गए। अस्पताल में कई दिन रहने के बाद एक दिन मरीज चल बसा और ठीक उस वक्त जब उनकी लाश ऐंबुलेंस से उतारी जा रही थी, मैं पहुंची।

पीछे-पीछे मैं भी ऊपर गई और वह भयावना सीन मैंने देखा कि दहल गई। बहुत से मर्द-औरतें अपने सीने पर दुहत्थड़ मार रहे थे। सब बुलंद आवाज से बैन कर-करके रो रहे थे और बेवा ने तो पीटते-पीटते अपना बुरा हाल कर डाला था। फिर उसने एक जूती उठाई और उसे अपने चेहरे पर पूरी ताकत से मारने लगी। घूंसों से कूटते-कूटते उसने सीना बिल्कुल सुर्ख कर डाला था। मैंने लपककर उसे थाम लिया और मास्टर से कहा कि भई, इन्हें संभालो। ये कहीं जान न दे दें। मगर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। खुद रोने-चिल्लाने में लगे रहे। दो-एक से और भी कहा मैंने मगर किसी ने न बेवा को रोका न संभाला। वे सब खुद ही कर रहे थे और मैं घबराई जा रही थी कि

---

1. स्थाई तौर पर रहने के लिए।

ऐ खुदाया, क्या आफत है। ये बैन, यह घमाघमी, ये चीखें सुनते-सुनते मुझे ऐसा लगा कि खुद ही बेहोश हो रही हूं। मौत किसने नहीं देखी ? खुद मेरे ऊपर जो पड़ गई वह ऐसी आकस्मिक दुर्घटना थी कि ताज्जुब है दिल की हरकत क्यों न बंद हो गई। लेकिन मरने वालों को इस तरह रोया भी जाता है, यह मालूम न था।

इस घटना के बाद लड़कों ने कोई कसर उस खानदान की मदद में बाकी न छोड़ी। मास्टर जी अपने बाल-बच्चों के साथ आ गए थे। जून-जुलाई की गरमियों में रावलपिंडी के रहने वाले बेचारे गरमी की शिद्दत से परेशान हो रहे थे। उस सारी इमारत में सिर्फ एक कमरा था जहां पंखा लगा हुआ था। दोपहर में सारे लड़के पिछले कमरे में गरमी से भुनकर गुजार देते और पंखे वाला कमरा मास्टर की फैमिली को दे देते कि ये लोग इतनी गरमी के आदमी नहीं हैं। उन्हीं को हेडमास्टर बना दिया गया और उन्हें उन लड़कों में जिन्होंने इतनी कुरबानी दी थी दुगनी तनख्वाह दी गई ताकि किसी तरह अपना गुजारा कर सकें।

लेकिन मास्टर साहब ने उसका क्या बदला दिया, जरा वह भी सुन लीजिए।

अप्रैल में इम्तिहान शुरू होने से कुछ पहले उन्होंने बच्चों में प्रोपेगंडा शुरू कर दिया कि मैं अपना स्कूल खोलने वाला हूं। फिर लड़कों से कहा कि इस मकान के कुछ कमरे हमें दे दो। लड़कों ने कहा स्कूल जामिआ का है और एक इमारत में दो स्कूल जारी होने की कोई उम्मीद नहीं है। मास्टर ने ऐलान किया कि वह इतनी थोड़ी तनख्वाह पर बसर नहीं कर सकते। कम से कम चार सौ उनकी फैमिली के लिए चाहिए। उनको बहुत समझाया कि उस संस्था में तो कोई सौ रुपए भी तनख्वाह नहीं लेता, आपको इतनी रकम कहां से दी जा सकती है ? आपने खुद ही हमारे साथ शिरकत की। यह तो पहले ही बता दिया गया था कि माली फायदे का यहां कोई सवाल ही नहीं है लेकिन वे नहीं समझे और लड़कों को भड़काना शुरू कर दिया कि तुम बेकार यहां पढ़ रहे हो, यह तो टेंपरेरी स्कूल है। कोई स्कूल इसकी सनद को नहीं मानेगा। नतीजा यह हुआ कि लड़कों में आम असंतोष फैल गया।

लड़कियां भी स्कूल में पढ़ाती थी। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि हमने टेलीफोन और पुलिस गाइड के लिए दरख्वास्तें दे रखी हैं। इसलिए अगर जामिआ से हमको सोशल सर्विस का सर्टिफिकेट मिल जाए तो हमारी दरख्वास्त पर यकीनन ज्यादा तवज्जो दी जाएगी। मैंने शफीक[2] साहब से कहा और उन्होंने सर्टिफिकेट दे दिया। उसे लेकर वे मास्टर साहब के पास गईं और खुदा जाने क्या बातचीत हुई कि कमरे से बाहर निकलते ही उन्होंने उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और मदरसे के मैनेजर के हाथों में पकड़ा दिया कि हमें ऐसे सर्टिफिकेट की जरूरत नहीं है।

लड़कों ने बच्चों के मेले का प्रोग्राम बनाया और उसकी तैयारियां शुरू हो गईं।

---

2. मरहूम शफीकुर्रहमान किदवई।

नक्शा, बोर्ड और तस्वीरें वगैरह तैयार हो चुकी थीं और इम्तिहान उस तैयारी की वजह से चंद दिनों के लिए मुलबतवी कर दिया गया था। एक दिन मास्टर साहब ने छठी जमात के बच्चों से, जो स्कूल में उम्र में निस्बतन[3] बड़े थे—और उसी निस्बत से अकल में भी, कुछ कहा-सुना तो उनमें खलबली मच गई। लड़के कहते थे इम्तिहान क्यों नहीं होते ? हमें दूसरे स्कूल में दाखिले की दरख्वास्त देनी है, इसलिए एक हफ्ता बाद नहीं, अभी इम्तिहान होना चाहिए।

गड़बड़ बढ़ती गई। उन्होंने घसीटकर दूसरी क्लासों के बच्चों को भी बाहर निकाला और शोर मचाया कि हमें स्कूल नहीं चाहिए। हम इसको आग लगा देंगे। इसी गड़बड़ में हिंदू बच्चे बाहर निकल आए। मुस्लिम बच्चे अंदर बैठे रहे और आपस में हुज्जत-बहस होने लगी। खास हिंदू-मुस्लिम दंगा होने की नौबत आ गई थी मगर स्कूल में कर्त्ता-धर्त्ता नौजवानों को उस वक्त समझ आ गई। उन्होंने फौरन आपस में सलाह की और छुट्टी का ऐलान कर दिया। मगर उस वक्त तक नक्शे फाड़े जा चुके थे, तस्वीरों के टुकड़े किए जा चुके थे, कमरे उलट-पुलट हो गए थे और आग लगाने के लिए दियासलाई ढूंढ़ी जा रही थी। झटपट हिंदू-मुसलमान बच्चों को स्कूल से बाहर निकालकर कमरे बंद कर दिए गए और मुझे फोन से हालात की इत्तिला दी गई।

उधर बच्चे घर पहुंचे तो बहुत से मां-बाप परेशान हो गए। उनमें से किसी को स्कूल से शिकायत न थी। पंजाब के सोशलिस्ट लीडर 'शैदा'[4] फौरन दौड़े हुए आए। अरे भाई यह क्या हुआ ? जामिआ के स्कूल में गड़बड़ कैसी ? वह हैरान हो-होकर पूछते थे और लड़कों की समझ में न आता था अपने साथी की शिकायत कैसे करें। बहरहाल उन्होंने सच्ची हालत कह सुनाई। होशियार, सोशलिस्ट, जो खुद भी शरणार्थी था मामले की तह तक पहुंच गया और अपने पुराने क्लासफैलो मास्टर साहब से जा भिड़ा। बड़ी कड़वी बातें हुईं और शैदा साहब यह कहकर चले गए कि कुछ हो, मेरे बच्चे तो यहीं पढ़ेंगे।

लेकिन सोशलिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी एक मशहूर अखबार के एडिटर, एक शरणार्थी प्रोफेसर, एक सरदारजी जिसे देखो दौड़ा चला आ रहा है। एक तांता-सा बंध गया। उसी वक्त से जो मां-बाप आने शुरू हुए, तो दोपहर तक सिलसिला जारी रहा। करीब-करीब सबको अफसोस था, शर्मिंदगी थी। सिर्फ चंद लोग ऐसे थे जो अपने बच्चों की तरफ से हमसे लड़ने आए, वरना आम तौर पर सब यही कह रहे थे कि इस आपाधापी में सिर्फ जामिआ का स्कूल था जिसकी बदौलत बच्चों के भविष्य की तरफ से हमें थोड़ी बेफिक्री नसीब हुई। अब हम इसे हरगिज बंद न होने देंगे, न यहां कोई झगड़ा होने देंगे। गरज यह, कि मामला रफा-दफा हो गया। दूसरे दिन से इम्तिहान भी शुरू हो गए

---

3. अपेक्षाकृत।
4. प्रो. राजेंद्र नाथ 'शैदा'।

और दो हफ्ते बाद खासा शानदार मेला भी हुआ। स्कूल में एक महीने की छुट्टी हो गई।

मगर मास्टर साहब अब बहुत खतरनाक लगने लगे। पनाहगुजीन को बेघर करना, अपना अंतःकरण बर्दाश्त नहीं करता था और रखने में यह खतरा था कि अबकी बार सचमुच ही आग लगवा देंगे। लड़के अपनी मुरव्वत[5] की बिना पर साफ कहने में संकोच करते थे। इस काम को भी मुझे ही अंजाम देना पड़ा। यह तो उनको पहले ही बता दिया गया था कि जामिआ चूंकि आपकी माली मुश्किलात दूर नहीं कर सकता इसलिए आप दूसरी मुलाजमत तलाश कर लीजिए। अब यह भी उनसे कह दिया कि चूंकि अब जामिआ ने स्कूल की मंजूरी दे दी है इसलिए जुलाई में यकीनन दाखिले ज्यादा होंगे और जगह की दिक्कत हो जाएगी, इसलिए मेहरबानी से आप दूसरा मकान तलाश कर लीजिए।

उन्होंने कहा, मैं खुद दूसरा ढूंढ रहा हूं। पंद्रह दिन बाद फिर याद दिलाया तो जवाब दिया, दूसरी दरख्वास्त भेज चुका हूं। एक महीने बाद जब स्कूल दुबारा खुल गया और बच्चों की तादाद तीन सौ से ऊपर हो गई, उधर मास्टर साहब के मिलने वाले और रिश्तेदार भी दुगने हो गए तो खिंचाव, नागवारी[6] और ताल्लुकात में खराबी शुरू हो गई। मास्टर साहब अपने एक और रिश्तेदार को भी ले आए और दो कमरे उनके कब्जे में दे दिए। यानी अब नीचे के चार और ऊपर के दो, उनके खानदान के कुल छह कमरे हो गए। बदकिस्मती से रास्ता सिर्फ एक था। उसी से लड़कों का भारी झुंड गुजरता। उसी से मुहल्ले के लोग, अखबार के शौकीन आते-जाते और उसी से मास्टर के रिश्तेदार साइकिल समेत गुजर जाना चाहते थे। इसी पर एक दिन तकरार हो गई। चपरासी ने साइकिल रोक ली। मास्टर ने धमकियां दीं और चैलेंज भी।

आखिरकार कोशिश करके मुहल्ले के दूसरे सिरे पर दो कमरे बेवा[7] औरत को दिलवा दिए और वह बेचारी तो पहले भी कहती थी, "भैया, तुम हमें जहां बिठा दोगे चले जाएंगे।" वह अपने बच्चों समेत दूसरे मकान में चली गई। ऊपर का हिस्सा खाली हो गया यानी असल बाशिंदे वहां चले गए। शांतिदल, कांग्रेस कमेटी, सोशलिस्ट पार्टी सबको दरख्वास्तें लड़कों ने दीं कि स्कूल को इस लुटेरों की तरह किए गए कब्जे से निजात[8] दिलाई जाए।

मैंने एक दिन कस्टोडियन के नाम दरख्वास्त लिखवाई और मास्टर साहब से कहा, इस पर दस्तखत कर दीजिए ताकि मैं खुद जाकर आपके मकान के लिए कोशिश करूं। मगर उनकी मंशा दूसरी थी, किसी तरह दस्तखत न किए। सच्ची बात यह है

---

5. लिहाज।
6. अप्रिय।
7. पहले किराएदार की बीवी।
8. मुक्ति।

कि मास्टर साहब का रिश्तेदार या दोस्त एक पुलिस वाला भी था और उसकी शह पर वह और भी हैरान कर रहे थे। फिर यह भी जान चुके थे कि वे लोग हम पर जबरदस्ती न करेंगे। शराफत का दामन पकड़े, बुद्धू बने रहेंगे।

खुदा-खुदा करके अगस्त में जाकर यह मामला तय हुआ, जब डिप्टी कमिश्नर और चीफ कमिश्नर तक के पास उसे पहुंचाया गया और उस रोज-रोज की झकझक से निजात मिली।

बजाहिर बिल्कुल मामूली-सी घटना है, लेकिन मैंने सिर्फ इसलिए लिखना जरूरी समझा कि पाठक अंदाजा कर लें कि किस हद तक बरबादी और तोड़-फोड़ की तरफ दिमाग मायल[9] हो चुके थे और बदले की आग ने तालीमयाफ्ता इंसानों की अकल और सूझबूझ को भी जला डाला था। ये मास्टर, ये अफसर के दफ्तर के बाबू लोग, यही सब लोग तो उस शर्मनाक हालत के जन्मदाता थे।

---

9. झुकाव।

13. मई और जून

मई में मुहल्लों के अंदर काम करने वालों की मुश्किलें और बढ़ गईं। एक तो अफवाहें, जो पता नहीं कहां से उड़-उड़कर आती थीं और कौन उन्हें फैलाता था। मगर एक कान भी न बचता जो उनको न सुने और मुस्लिम जोन थे जो लगातार झगड़े का सबब बने हुए थे। मकानों की कमी लोगों को मजबूर कर रही थी कि मुसलमानों को खुशामद या धौंस जैसे भी हो मकान देने पर राजी कर लें। अफसरान अपने खास आदमियों को शहर के जिम्मेदार लोगों की मदद से मुस्लिम जोन में मकान दिलवा देते थे। पुलिस के अफसर डंडे के जोर से कट्टर मुसलमानों को भी मजबूर कर देते थे कि उनके दोस्त या रिश्तेदार को मकान दें। और जब एक को मिल जाता तो दस ललचाते। बहुत सारे इकट्ठे होकर धावा बोल देते। अब उन्होंने एक और तरीका अख्तियार किया था कि मर्द खुद नहीं जाते, औरतों और बच्चों के गोल को रवाना करते। औरतें बच्चों समेत गली में घुस जातीं और मकानों पर कब्जा कर लेतीं।

असल में एक मुहल्ले के तमाम मकानों को बचाने[1] का जिम्मेदार शांति दल था इसलिए लोग आमतौर पर हमारे वालंटियरों से बदगुमान थे। इसमें कोई शक नहीं कि इस हंगामी दौर में हमारे कारकुनों से बहुत-सी गलतियां हुईं। मगर उन गलतियों की पूरी जिम्मेदारी वालंटियरों पर लाद देना ज्यादती है। एक दौर में जब हिंदुस्तान की सरजमीन से मुसलमानों का नामोनिशान मिटा देने का जज्बा उरूज[2] पर था अवाम से लेकर हुक्काम[3] तक सभी आपे से बाहर हो रहे थे। उन दिनों जब खुद कानून के रक्षक कानून भंग करते थे बापू जीवन-मरण की कशमकश में मुब्तला थे और काम करने वाले बाकी ही न रह गए थे, तो कुछ नेकनीयत नौजवानों को जो सच्चे दिल से उस

---

1. चूंकि पिछले ऐलान के मुताबिक अभी मुस्लिम जोन कायम थे और हमारी कोशिशें किसी तरह दोनों फिरकों को साथ रहने पर रजामंद न कर सकी थीं। इसलिए फिलहाल यही उसूल था कि जब तक गवर्नमेंट जोन तोड़ने का ऐलान न कर दे मुस्लिम मुहल्लों में सिर्फ मुस्लिम आबादी या पुरानी हिंदू आबादी रहे, मगर नए लोग न बसाए जाएं। यह भी शांति कायम करने के लिए एक वक्ती कोशिश थी।
2. चरम।
3. अधिकारीगण।

अंधेरगर्दी को खत्म करना चाहते थे, उसके सिवा और कोई चारा न रह गया था कि नौसिखिए और नातजुर्बेकार नौजवानों को लेकर आगे बढ़ें और नई पौध का सहारा ढूंढें हालांकि जब पुराने दरख्त अपनी जड़ों पर डगमगा रहे थे तो पौधों का सहारा कोई सहारा न था। लेकिन यह उम्मीद जरूर थी कि शायद यह संभाला लेकर किसी दिन इस उजड़े बाग में फिर से बहार ले आएं। शायद यही इस तूफान को बहा ले जाएं।

ये पढ़े-लिखे नौजवान, जिनमें कुछ सूझबूझ भी थी, इस खूनी खेल से और उस सूरतेहाल[4] से बेजार[5] थे, लेकिन उनमें सहनशीलता और धीरज की कमी थी और जो कुछ खराबियां पैदा हुईं, शायद वे उसी की बदौलत थीं।

उधर मुस्लिम जोन की सारी कार्रवाई सिर्फ जबानी थी, उसकी कानूनी हैसियत कोई नहीं थी। अब यह लोकल अफसरों का फर्ज था कि सारे स्टाफ और महकमों को इस ऐलान की असलियत से आगाह[6] कर दें या उनको हुक्म भेज दें। मगर लोकल गवर्नमेंट तो इस पर तुली हुई थीं कि झगड़ा खत्म न हो। उसने न आवाम की मुसीबत देखी, न हमारी चीख-पुकार सुनी। बदस्तूर अपने पुराने ढर्रे पर कायम रही और शुरू में न जाने कितनी जगहों से हमें यही जवाब मिला कि हमें तो कोई इत्तिला नहीं है, हमारे पास कोई आर्डर नहीं आया है।

उधर केंद्रीय सरकार बिना असेंबली के कोई कानून न बना सकती थी और आर्डिनेंस जारी करके आपातकाल को स्थाई बना देना भी मुनासिब न था। उसके पास भी इसके सिवा कोई चारा नहीं था कि उसूल के तौर पर उसे मान ले और उसे लागू करने की जिम्मेदारी लोकल गवर्नमेंट को सौंप दे।

कुछ दिन के बाद बड़ी मुश्किल और दौड़-धूप से अफसरों को इस समझौते का विश्वास दिलाया गया, अगर चार माह बीतने के बाद भी उन्हें सचमुच यकीन न आया। हम सबकी तकदीर में झूठा बनना था, बनते थे। हम कहते मुस्लिम जोन है, पुलिस आफिसर चुपके से कहते यह कोई कानूनी हुक्म नहीं है। तुम घुस जाओ तुम पर मुकद्दमा नहीं चल सकता। अफसर लोगों के कान में इस ऐलान के खोखलेपन का हाल बयान कर देते और वे लोग हंस-हंसकर हमारा मजाक उड़ाते और अपनी-अपनी मनमानी करते। मुहल्लों पर हमले निहत्थे होते थे, कभी-कभी मारपीट और पथराव भी हो जाता था। और गाली-गलौज तो हर रोज ही होती रहती। दूकानें बंद हो जातीं, राह चलते भागकर कांग्रेस के आफिस में घुस जाते। घरों में ईंटें बरसाई जातीं और डाका-चोरी की वारदातें तो अब इतनी आम थीं कि जिसकी हद नहीं।

एक रोज हम लोग अपने सहन में बैठे हुए थे कि इंडिया गेट की तरफ से खौफनाक चीख की आवाज आई...हम सब घबराकर उठ पड़े। पुलिसमैन दौड़ा और फिर भागते

4. वस्तुस्थिति।
5. ऊब जाना।
6. परिचित।

हुए आदमियों का पीछा करते हुए लोग दिखाई दिए।

मालूम हुआ किसी दफ्तर के कोई बाबू अपनी बीवी समेत चहलकदमी कर रहे थे। उस वक्त रात के साढ़े आठ बजे होंगे। इंडिया गेट के इर्दगिर्द विशाल मैदान और कितनी साफ-सुथरी सड़कें, लेकिन उस तेज़ रोशनी में भी दो सिख निकल पड़े और उनकी बीवी को उठा लिया। बाबू ने मुकाबले की कोशिश की तो एक ने उंगली डालकर उनके गलफड़े चीर दिए। और यह खौफनाक चीख उनकी थी। बीवी बच गई, वह खुद भी बच गए, जख्म भी एक हफ्ते में ठीक हो गए होंगे। मगर उस घटना ने महीनों के लिए औरतों का शाम के बाद उधर आना बंद करा दिया।

बहरहाल वालंटियर नातजुर्बेकार थे, मुफलिस थे, बेकार थे और उनमें से ज्यादा शरणार्थी थे। वे सुभद्रा को दिल-जान से चाहते थे। मगर तीन वक्त खाना न खाने के बाद चौथे वक्त वे भूख से जान नहीं देना चाहते थे, इसलिए किसी न किसी जरूरतमंद से वादा करके पैसे ऐंठ लेते थे, ताकि पेट की आग बुझा सकें।

उनमें कुछ ऐसे थे जो यह भी न जानते थे कि अहिंसा किसको कहते हैं। वे हमलावरों को भगाते वक्त जब बहुत उत्तेजित हो जाते तो दो-एक डंडे भी रसीद कर देते।

आठ घंटे लगातार फाटक पर पहरा देने के बाद जब वे बहुत थक जाते तो कभी-कभी उन्हें उन मुसलमानों की सूरत से नफरत हो जाती, जिन्होंने उनको चाय तक को नहीं पूछा था, हालांकि वे सिर्फ उन्हीं की जान बचाने के लिए मर रहे थे और उस वक्त वे बदले की भावना के तहत चोर दरवाजे से किसी रिफ्यूजी खानदान को अंदर घुसा देते।

और फिर जब मुस्लिम जोन टूट गए और मकान अलाट होने लगे तो उनमें ऐसे भी थे जिनका खयाल था कि चूंकि उन्होंने बहुत काम लिया है लिहाजा पहला हक उनका है। इधर उनके साथी भी यही सोच रहे थे कि बजाए शरारती लोगों के अगर ये मुहल्ले में बस जाएं तो अशांति की नौबत न आएगी।

और उस मौके पर हम सबने गलतियां कीं, पहाड़ के बराबर गलतियां। सोशलिस्टों ने सोशलिस्टों को, कांग्रेसियों ने अपने साथियों को और शांति दल ने अपने वालंटियरों को मकान दिलवाए और असली हकदार और मुसीबतजदा महरूम रह गए।

यह सब इसलिए नहीं हुआ कि हम ऐसा करना चाहते थे, बल्कि नादानी में सब कुछ होता रहा और समझ में न आया। बहुत से वालंटियर ऐसे भी थे जो रिलीफ कमेटी से माली इमदाद हासिल करने या गवर्नमेंट से कर्ज लेने या मकान के लालच या शोहरत की खातिर उस दल में शामिल हो गए थे और यह सब उनकी मदद और उनकी सलाह से हुआ। लेकिन इस इलजाम से हम अपना दामन बचा न सके कि हमने भी थोड़े पक्षपात से काम लिया। उनमें से कुछ ऐसे भी थे कि जब ऊपर बयान की गई उनकी ख्वाहिशें पूरी न हो सकीं तो उन्होंने पगड़ियां लेकर दूसरों के मकान किसी तीसरे के नाम अलाट करवा दिए।

सुभद्रा बहुत समझदार थी। हमारे साथी सब निश्छल थे और हममें बेशतर बड़े ऊंच-नीच देखकर काम करने वाले लोग भी थे। लेकिन भविष्य को जानने वाला कोई भी न था और हमें अपने साथियों पर भरोसा भी शायद जरूरत से ज्यादा हो जाता था। इसका नतीजा यह हुआ कि सुभद्रा को सबने सताया और लोकल गवर्नमेंट ने वालंटियरों पर मुकदमे तक चला दिए। लेकिन इन तमाम दुश्वारियों के होते हुए भी काम तो करना ही था और बदनामी की परवाह किए बगैर कदम बढ़ाना ही था। आज जब वक्त गुजर चुका है तो घटनाओं का विश्लेषण करना कितना आसान मालूम होता है, लेकिन उस वक्त हमारे पास इस पर गौर करने के लिए वक्त ही कहां था ?

अब हमारे सामने दो बड़े अहम मसले थे। रिफ्यूजियों को जहां तक मुमकिन हो इत्मीनान दिलाकर उनमें और मुसलमानों में संबंध बनाना और 15 जून के फसाद को रोकना, जिसकी धमकियां हर रोज दी जा रही थीं।

इस एक मुद्दे पर जमीअत, कांग्रेस, सोशलिस्ट और फारवर्ड ब्लाक सभी एक थे और हमारा दल उन सबका मिश्रण था। इसलिए यह छोटी-सी संस्था अपनी पिछली गतिविधियां और कामयाब तजुर्बा लेकर आगे बढ़ी और लंबे बहस मुबाहिसे के बाद सब इस पर सहमत हो गए कि हर पार्टी इन दिनों अपना पार्टी प्रोपेगंडा बंद कर दे। एक केंद्र पर एकजुट होकर हम सब काम करें सिर्फ शांति और एकता हमारा लक्ष्य हो और हर कीमत पर हम उसे हासिल करने की कोशिश करें, चाहे उसके लिए हमें अधिकारियों से झगड़ना पड़े, चाहे जनता से लड़ना पड़े, चाहे सरकार से टकराना पड़े।

इतना तक हो जाने के बाद तो हम सब एक मजबूत दीवार बनकर गड़बड़ करनेवालों के रास्ते में बाधक हो गए। शरणार्थियों में से नौजवान लड़के-लड़कियां, जो पहले ही रचनात्मक काम कर रहे थे, हमारे साथ हो गए। कुछ सिख भाई थे जो हमारी मदद करना चाहते थे और उन्होंने कई किस्म के कामों के लिए अपनी सेवाएं पेश कर दीं। एक ने पब्लिसिटी में मदद देने का वादा किया।

मृदुला[7] ने कहा जो खतरा दरपेश[8] है वह किसी एक के लिए नहीं है। पिछली घटनाओं से सबने नुकसान उठाया है। देश की शांति उसकी इज्जत, उसकी तरक्की, यही हम सबकी मंजिल-ए-मकसूद है। इस वक्त अगर हमने मिल-जुलकर कुछ कर लिया तो बुनियाद मजबूत कर लेंगे वरना यह आजादी ख्वाब बनकर रह जाएगी और बदला, नफरत, फूट के बीच अगर तह में बैठ गए, तो फिर हम उनको निकाल न सकेंगे।

शांति दल का नया रूप

सब इससे सहमत थे कि अपने संगठन को सारी ताकत इस वक्त शांति कायम करने

---

7. मृदुला साराभाई।
8. सम्मुख।

में खर्च करेंगे और शांतिदल को फिर से संगठित किया जाए, लेकिन संगठन केंद्रीय शांति समिति के अधीन हो ताकि माली मुश्किलों के समय हम उससे मदद ले सकें और राजेंद्र बाबू[9] की सहायता और सहयोग बल्कि संरक्षण हमें मिलता रहे।

राजेंद्र बाबू के पास कुछ जिम्मेदार लोग गए। उनसे हालत बयान किए और उनकी मंजूरी भी हासिल हो गई। बुनियाद तैयार करने के बाद ढांचा तैयार हुआ। हर पार्टी की एक-एक, दो-दो जिम्मेदार हस्तियां शामिल करके एक सलाहकार बोर्ड बनाया गया। उसके मातहत शहर, देहात, प्रोपेगंडा और कार्यकर्ताओं का चुनाव करने के लिए अलग-अलग कमेटियां बनाई गईं।

और सारी लड़ाई-भिड़ाई, दौड़-धूप और रुपए-पैसे का इंतजाम मृदुला पर छोड़ दिया गया। यह भी कि वे हम सबकी बलाएं अपने सर ओढ़ लेंगी।

हमारी शहर की गश्ती कमेटी बड़ी जोरदार थी। उसका काम था सारे दिन घूमना और हर इलाके के शांतिदल आफिस की रिपोर्ट केंद्रीय कार्यालय को देना। शहर के बाहर इलाकों में शांति दल के दफ्तर कायम हुए। जहां अलग जगह मिल गई वहां अलग, वरना कांग्रेस या सोशलिस्ट पार्टी के आफिस में साझा कर लिया। एक जगह खेमा लगाकर दफ्तर बनाया गया। इन बारह जगहों के हालात, उनके प्रकार और समस्याएं अब अक्सर एक दूसरे से भिन्न होते थे और गश्ती कमेटी सुबह से शाम तक उन झगड़ों को सुझाने और उन हालात पर सोच-विचार करने में वक्त खर्च करती थी। शहर के ये दफ्तर सूचना विभाग का काम भी करते थे और अपने इलाके की शांति के लिए भी जिम्मेदार बनाए गए।

प्रोपेगंडे में पोस्टर पंपलेट, सभा, मुशायरा, लाउडस्पीकर के जरिए चलते-फिरते भाषण और जासूसी सभी कुछ शामिल था। आखिर में ड्रामा भी रखा, मगर उसका कोई बंदोबस्त न हो सका।

देहाती कमेटी का काम पूरे दिल्ली प्रांत का दौरा, पुरानी और नई आबादी में भाईचारा कायम कराना, मुसलमानों का पुनर्वास, रिफ्यूजियों की मुश्किलात का हल सोचना और हर रोज की रिपोर्ट दफ्तर में देना, सब शामिल था।

केंद्रीय कार्यालय अपने चुनाव बोर्ड की मदद से शहर के तमाम इलाकों के लिए इंचार्ज और कार्यकर्त्ता चुनता और वहीं उस इलाके की शांति और सारी विवादास्पद समस्याओं पर नजर रखने वाला और जिम्मेदार समझा जाता था।

अभी ये सब मामले तय हो ही रहे थे कि हमने अपने काम को फैलाना शुरू कर दिया और शहर व देहात में छोटे-छोटे जलसे करने लगे।

महरौली के पास एक गांव के सक्के कुतब साहब की दरगाह में पानी भरा करते थे। फसाद के दिनों में उन्होंने मजहब बदल लिया। लेकिन जब गांधीजी वहां गए तो

---

9. भारत के राष्ट्रपति।

उन्होंने गांववालों से कहा कि जो कुछ हुआ है जबरदस्ती हुआ है, उसे मिटाना जरूरी है। वही सक्के मुसलमान की हैसियत से अब भी कुतब साहब की दरगाह में पानी भरें। उनकी शहादत के बाद जब विनोबा भावेजी गए तो वे भी यही कह आए।

उन्हीं दिनों हमें खबर मिली। एक मील परे दूसरे गांव में मेवातियों की बड़ी टोली वापस आ गई[10] है और उन्होंने अपने टूटे-फूटे मकानों में रिहाइश अख्तियार करके मेहनत-मजदूरी कर दी है। उनमें से कुछ हमारे पास आते और तफसील के साथ हाल सुनाते रहे।

चूंकि वे बिना किसी इमदाद के आकर ठहर गए थे इसलिए बड़ी मुसीबत की जिंदगी बसर कर रहे थे। हम सबकी राय हुई कि एक जलसा उस गांव में करना चाहिए जहां के सक्कों का मामला है और उसमें उन मेवातियों को भी बुलाकर सबसे मेल-मिलाप कराया जाए।

जलसे के लिए हमने महरौली कांग्रेस कमेटी को इत्तिला कर दी। फिर दुबारा उस गांव के जिम्मेदार लोगों से कहलाया और मुकर्रर रोज हम सब जा पहुंचे। मगर वहां उस वक्त तक कोई न था। लोकल कमेटी के चेयरमैन की ख्वाहिश थी कि जलसा आज भी मुलतवी कर दिया जाए। चूंकि दुबारा कोशिश हो चुकी थी इसलिए सुभद्रा को चिढ़-सी हो गई। उसने कहा मैं बैठी हूं, आप सबको बुला लीजिए। आज तो मैं बगैर काम खत्म किए न जाऊंगी।

काफी देर में लोग इकट्ठे हुए। मेवाती भी आए। उन्होंने पड़ोसियों का शुक्रिया अदा किया कि एक महीना हमें आए हुए हो चुका है, मगर किसी ने हमको सताया नहीं। साथ ही अपनी तकलीफें बयान कीं। चूंकि वे पाकिस्तान एक पल[11] के लिए भी न गए थे इधर-उधर भाग निकले थे, इसलिए उनको यकीन दिलाने की कोई जरूरत न थी। मगर फिर भी उन्होंने भारत सरकार से अपनी वफादारी का साफ शब्दों में विश्वास दिला दिया।

वफादारी की मांग

और आजकल यह बहुत आम चीज थी। हर हिंदू को हक हासिल था कि वह मुसलमानों से वफादारी की मांग करे। इस मौके पर हमारे साथ सेवाग्राम के जाजूजी[12] भी थे। उन्होंने लोगों को समझाया कि जिसके घर में लूट का माल हो वह अपनी खुशी से उनको वापस कर दे। जो बच्चे अपने घरों में बाप-चचा को दूसरों का माल लूटकर ले आते देखेंगे वे आगे चलकर कितने पापी होंगे इस पर आप लोग विचार कर लीजिए। अपने

---

10. गड़बड़ी के दिनों में भारी तादाद में लोग अलीगढ़, बुलंदशहर, सहारनपुर की तरफ भाग गए थे।
11. दिल्ली से भागकर लोग काफी तादाद में यू. पी. के आसपास के जिलों और देहातों में चले गए थे।
12. जाजूजी वर्धा से आकर हमारे सहयोगी बन गए थे। वे गांधीजी के भक्त थे।

बच्चों की भलाई के लिए, अपने खानदान की भलाई के लिए अपना चाल-चलन ठीक कीजिए। एकता, भाईचारा, नेकी सचाई सब कुछ उन्होंने सादे लफ्जों में उनको समझाया।

हमारे साथियों में एक साहब ने जरा जल्दबाजी से काम लिया और उसी मसले पर प्रस्ताव रख दिया कि मिलकर उनकी खाली इमदाद करो। हमने रोका कि यह बेमौके का प्रस्ताव है। खास तौर पर मुझे उस अपील पर बड़ा अपमान-सा महसूस हो रहा था, मगर वहां तो शब्द जबान से निकल चुके थे। दो-चार ने बढ़कर दस-पांच रुपए का ऐलान भी कर दिया और जल्दी ही सवाल पैदा हो गया कि खजांची कौन बने ? इस पर झगड़ा शुरू हुआ। जलसे में दो आदमी पिस्तौल लगाकर भी आए थे। मुझे अंदेशा हुआ कि कहीं दूसरा खेल शुरू न हो जाए। यह तो निश्चित था कि जबरदस्ती हम पहला जलसा कर रहे थे और हमारा मकसद चंदा जमा करना न था। लेकिन जरा-सी बेवकूफी ने रंग ही बदल दिया।

लोग चीख-चीखकर सदर पर दोष लगा रहे थे कि जब वह गांव खाली हुआ था तो हममें से किसी ने नहीं लूटा। गुंडों ने इकट्ठा होकर लूटना शुरू किया, तो सदर साहब ने सबसे माल छिनवा लिया और अपनी हिफाजत में रखा कि सरकार को भेज दिया जाए। आखिर वह सब कहां गया ? इतना माल हजम करके भी यह इस लायक हैं कि कमेटी में शामिल हों या खजांची बनें ?

बात बढ़ती जा रही थी और कहने वाले साहब खुश थे कि होने दो। बढ़ने दो, इसी तरह तो बात खुलेगी। वह नए थे और नहीं जानते थे कि आग लगाकर बुझाने में कितनी देर लगेगी। लेकिन मैं न मानी। उन शोर करने वालों के बीच में घुसकर साफ ऐलान कर दिया कि हम लोग इसलिए नहीं आए हैं। न हम चंदा चाहते हैं, न झगड़ा। रुपए-पैसे का सवाल बिल्कुल गलत दरम्यान आ गया है। हमारा मकसद सिर्फ मेल-मिलाप और शांति दल का प्रचार करना है। हम दोनों ने चीख-चीखकर, और जाजूजी ने समझाकर मामला रफा-दफा कराया वरना उस दिन न जाने क्या होता। शायद 'नीति' उस दिन हंगामा करा देती।

सभा में हमसे वफादारी के सवालात हुए। हैदराबाद और कश्मीर की बाबत पूछा गया। उन्हीं दिनों पुंछ में भारत सरकार की बड़ी विजय हुई थी। मास्टर जी[13] ने अपने भाषण में उस विजय और ब्रिगेडियर उस्मान का जिक्र छोड़ दिया और सिर्फ एक नाम लेकर उनसे पूछा कि क्या उस मुसलमान से ज्यादा देश से प्रेम करने वाला कोई हिंदू है तुम्हारे पास ? वे बहुत से शूरवीर, जो इससे पहले आजादी की लड़ाई में लड़े, मरे और अब कश्मीर में जान दे रहे हैं, अगर वफादार नहीं कहे जा सकते तो क्या हम-तुम हैं ?

एक लोकल जमींदार ने उठकर कहा, "अगर सरकार की मर्जी यही है तो हम

---

13. मास्टर शांति स्वरूप।

उनको बसाने और रखने पर तैयार हैं और उनको कोई तकलीफ न पहुंचने देंगे। लेकिन मुसलमानों को भी समझ लेना चाहिए कि अब वह पुरानी बात न चलेगी। पहले तो वे गाया करते थे 'मेरे मौला बुला ले मदीने मुझे'। अगर वे यहां रहना चाहते हैं तो वफादार बन कर रहें। यहां रहकर मदीने की तरफ ताकते रहना गलत बात है। हम सब यह सुनने के लिए तैयार नहीं हैं उनको अपना दिमाग ठीक रखना होगा।''

यह सुनकर तो खुद्दारी और कौमी स्वाभिमान के अहसास से मेरे कान जलने लगे। एक बार जी चाहा कि वह खरी-खरी सुनाऊं कि तबीयत ठिकाने हो जाए। लेकिन हालात ने मुझमें भला-बुरा समझने की काफी ताकत पैदा कर दी थी। बमुश्किल अपने पर काबू हासिल किया और संभलकर उनसे कहा :

''क्या तुम किसी तीर्थ को जाते हुए यात्रा के मकसद से चलते हुए जिस सरजमीन और जिस दरिया का रुख करते हो उसकी तरफ ध्यान देने और उसी को पुकारने का खयाल दिल में नहीं लाते हो ? मदीना वाले को पुकारने के ये मानी तुमने क्यों ले लिए कि मुसलमान हिंदुस्तान को अपना वतन नहीं समझते या देश त्यागना चाहते हैं ? अगर जमनाजी की जय लिखना और महादेव, जगन्नाथपुरी और मथुरा जाने का खयाल और कोशिश तुम्हें शोभा देता है और उचित है तो उनको भी मक्का-मदीना की तरफ देखने या मजहब और मजहब के जन्मदाता की कल्पना से अपनी आत्मा को सुधरा करने का उतना ही हक है।

न वे यह बात मान सकते हैं और न तुम्हें यह कहनी चाहिए। दूसरे, वे अपने घर वापस आए हैं। तुम्हारे बसने देने या न देने का सवाल ही कहां पैदा होता है ? तुम अपने घर रहो, वे अपने घर रहेंगे। अलबत्ता हम तुमसे इंसानियत और शराफत की अपील करने आए हैं कि भले आदमियों की तरह अच्छे पड़ोसी बनकर रहो। हर मजहब ने यही सिखाया है और इन्हीं बातों से आदमी जानवर से ऊंचा है।

बहरहाल मामला ठंडा हुआ, हमारा मकसद हासिल हो गया। दो गांवों के दरम्यान हमने सुलह करा दी और सक्के कुतब साहब जाने लगे। मेवातियों[14] को हमने रुपए-पैसे की इमदाद पहुंचाई मगर अपनी जिंदगी की जरूरतें वे खुद अपनी मेहनत से पूरी करते रहे। बला की मेहनती और कष्ट झेलने वाली कौम है।

दिल्ली की शांति भंग होने से पहले लोकल अफसरान ने यहां देहातों में अमन कमेटियां बनाई थीं और हमें मालूम था कि जब किसी नई कमेटी के बनाने का सवाल उठता है, पुरानी अमन कमेटी सामने आ जाती है। इसलिए स्थानीय अधिकारियों से हमने दरख्वास्त की कि अपनी अमन कमेटियों में शांति दल का एक आदमी शामिल कर लें। शांति दल का मुख्यालय कांस्टीट्यूशन हाउस में था और उसकी शाखाएं सारे प्रांत में फैलाना चाहते थे। बहुत से कामों के अलावा मुश्किलों का एक और हल भी

14. जल्दी ही उनके झुंड के झुंड पत्थर तोड़ने और इमारती काम करने दिल्ली आने लगे।

मेंबरों ने सोचा था कि गवर्नमेंट की इमदाद के लिए गैर-सरकारी निष्ठावान कार्यकर्त्ता मुहैया किए जाएं। उसी जमाने में कई ऐसे आदमियों की गिरफ्तारी की खबर अखबारों में छपी जो संदिग्ध हालत में मिनिस्टरों की कोठियों के पास या अंदर घुसने की कोशिश करते देखे गए और उन खबरों ने जता दिया कि दुश्मनों की कोशिश अब किसी नई शहादत के लिए हो रही है।

यह तो हमें बिल्कुल उम्मीद न थी कि अधिकारी हमें सहयोग करेंगे। हर कदम पर अंदेशा था कि उनकी तरफ से रुकावट डाली जाएगी। एक बात और भी थी। तकरीबन हर महकमे पर नए आने वालों का कब्जा था। वे हमारे काबू से बाहर थे। स्थानीय कांग्रेस का भी उन पर कोई असर न था। उनके दिल दुखे हुए थे और दिमाग गुस्से से भन्नाए हुए। आबादी का तबादला अगर आहिस्ता-आहिस्ता एक निश्चित मुद्दत के अंदर हुआ होता तो स्थिति इतनी खराब न होती। लेकिन अब तो भेड़-बकरियों की तरह आदमियों के रेवड़ हंकाए गए थे। बेठिकाना होने की वजह से न कोई व्यवस्था उनमें बाकी रह गई थी, न नैतिक व सामाजिक बंधन। उस समय तो मरता क्या न करता वाला नक्शा था।

कितनी बड़ी गलती थी कि जिम्मेदार अफसर जो एक जिले की कानून और व्यवस्था पर हावी हों, एकदम उसे ऐसे लोगों के हाथ में छोड़कर चल दें जिनके दिल बदले की आग में जल रहे हों। हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों जगह यही हुआ और ज्यादा आपाधापी इसीलिए फैली कि सरकारी अफसरों को भी तबादले में शामिल कर लिया गया बल्कि मेरा खयाल है कि सरकारी कर्मचारी ही थे जिन्होंने यह सब कुछ कराया और फिर सरमायादार[15] जिन्होंने रुपए दे-देकर दोनों तरफ गुंडों को कत्लेआम पर तैयार किया।

अब से पहले जब कलकत्ता में दंगा-फसाद हुआ तो मुस्लिम लीगी परिवार जिसके कुछ रिश्तेदार देहरादून में थे, भागकर देहरादून अपने नातेदारों के पास आ गया। भागकर आने वाले बीमार थे और उनकी बीवी कहती थी कि कलकत्ता की हालत देखकर उनकी यह गत हुई है। मकान चूंकि पास ही था इसलिए मेरा अक्सर उनसे मिलना-जुलना होता था। उनकी और मेरी लड़कियां भी आपस में गहरी दोस्त बन गईं।

कुछ अर्सा बाद, एक रोज कलकत्ता का जिक्र छिड़ा और मेरे पूछने पर उन्होंने हालात बयान करने शुरू किए। बातचीत के दौरान बड़ी सादगी, फख्र और खुशी के साथ उन्होंने कहा कि बहन, उन दिनों कारोबार तो बिल्कुल ही बंद था, बस दिन भर चाकू बंटते थे। रात भर चाकू बांटे जाते थे। मैंने पूछा वह किसलिए ? कहने लगीं यह हिंदुओं को मारने के लिए। पठानों ने इतना मारा है कि हिंदुओं का कचूमर निकाल दिया। बड़ी-बड़ी पेटियां पार्सल आती थीं और बस दुकान के दरवाजे बंद रहते थे। पीछे

---

15. पूंजीपति।

की तरफ से लोग आकर चाकू ले जाते थे। ज्यादातर पठानों[16] से यह काम लिया जाता था। पठान अलग-अलग दुकानों पर नौकर थे।

जब वे सात-आठ कत्ल कर लेते तो उन पर जुनून-सा छा जाता। इसलिए लारियां और मोटरें पीछे-पीछे लगी रहती थीं कि जहां यह हाल देखा वहीं उठाकर मोटर में डाला और ले गए। खूब उनको नहलाते, बर्फ में दबाते तब वे ठीक होते थे वरना आत्महत्या कर लेते थे।

मैंने पूछा यह सिर्फ आपके यहां होता था या और लोग भी करते थे ? कहने लगीं सब बड़े-बड़े कारखानेदार और सेठों के यहां यही होता था। उधर हिंदू महाजन, मिल मालिक और सेठ-साहूकार वही करते थे। इसीलिए तो हमको भी बंदोबस्त करना पड़ा और जब मुझे खयाल आया कि यह बीमारी घर के मालिक को अकारण नहीं है अंतःकरण की मार भी होगी।

आज भी यह घटना मेरे दिमाग में ताजा है। बयान करने वाली की नजर में उसकी कोई अहमियत न थी। यह तो जेहाद था, जायज रक्षा की कोशिश थी जिस पर दोनों पक्ष अमल कर रहे थे।

इसी तरह लखनऊ में एक दिन मुझे मालूम हुआ कि लाठियां, जिनके सिरों पर धारदार हथियार लगे हैं, एक मोटर कंपनी के मालिक के मकान के पिछले हिस्से में जमा कराई जा रही हैं और एक गुरुद्वारा या मंदिर शस्त्रागार में बदल गया है।

बहरहाल ये पुरानी मनहूस यादें थीं जिनका नतीजा उस समय आंखों के सामने था और पिछले तजुर्बे ने अब हमें बहुत कुछ चौंका दिया था। इसलिए बाकायदा काम शुरू कर दिया गया। आफिस के इंचार्ज फिलहाल एक पुराने कांग्रेसी मास्टरजी हो गए और उन्होंने मेज संभाल ली। पंजाब के एक नौजवान शरणार्थी ने सूचना विभाग अपने जिम्मे लिया। सुभद्रा पार्टी की कनवीनर मुकर्रर हुई। बैज तैयार हुए और जगह-जगह जलसे, मुशायरे, कवि सम्मेलन सब होने लगे। दो जीपें भी हासिल कर ली गईं। विभिन्न खर्चों के लिए रुपया जमा कराना मृदुला ने अपने जिम्मे लिया और जल्दी ही सेंट्रल पीस कमेटी से भी हमें मदद मिल गई। पेट्रोल मजबूरन लोकल गवर्नमेंट को देना पड़ा। देहाती कमेटी में पं. शर्मा[17], एक लालाजी[18] और मैं तीन आदमी थे।

---

16. बंटवारे से पहले कलकत्ता और बंबई दोनों जगह फेक्टरी, कारखानों और दुकानों पर आम तौर से पठान नौकर रखे जाते थे।
17. पं. जयदेव शर्मा
18. मदनलाल।

14. दिल्ली के देहात

4 जून, 1948 से देहाती कमेटी ने भी अपना काम शुरू कर दिया। मुझे देहातों से ज्यादा दिलचस्पी थी। दूसरे, अपने कारोबरी अज्ञान को छिपाने का इसके अलावा कोई ठिकाना भी न था, इसलिए उसमें शामिल हो गई। मैं शायद इसलिए पहले भी जिक्र कर चुकी हूं कि शुद्धि हो जाने वाले मुसलमानों का मसला भी परेशानी पैदा कर रहा था, इसलिए और भी जरूरी हुआ कि मैं यही काम अपने जिम्मे लूं।

दिल्ली के देहात जो कभी आबाद और खुशहाल होंगे, अब उजड़े पड़े थे। मकान जले हुए, खेत वीरान और गलियां सुनसान पड़ी थीं। जब हम किसी गांव में पहुंचते तो गांव के किसी कोने से चंद आदमी निकल पड़ते और हमें ले जाकर चौपाल में बिठाते। जब हम गांव के उजाड़ हिस्से की बाबत सवाल करते तो लापरवाही जाहिर करने की कोशिश करते हुए हमें यकीन दिलाते कि मुसलमानों को तो हम रोक रहे थे और फलां नंबरदार से हमारा बड़ा यारगना था। हमने उन्हें बहुत समझाया, मगर उन्होंने नहीं माना, चले गए। यहां से तो अपना सब ले-लिवाकर बाहर निकले, मगर गांव से बाहर उन पर हमला हुआ।

लेकिन जब मुसलमानों की छोड़ी हुई जमीन, खेत और मकानों के बारे में सवाल करते तो वे बगलें झांकने लगते और ऐसा जाहिर करते जैसे यह मसला आज ही उनके सामने आया है। उन्होंने उससे पहले सोचा ही न था।

बेशतर देहात अभी ऐसे थे जहां हिंदू-पंजाबी शरणार्थियों ने कदम भी न रखा था। उनमें से इक्का-दुक्का जगह जमीन की तलाश में आते तो उन देहातों के जमींदार-जैलदार उनको शरबत-लस्सी पिलाकर रुख्सत कर देते और यकीन दिला देते थे कि मुसलमानों के पास था ही क्या ? वे तो बिल्कुल दरिद्र थे। अब जो कुछ हमारा है हिंदुओं का है, उनकी कोई चीज नहीं जिस पर तुम कब्जा कर सको।

असलियत यह है कि उनमें से कोई नहीं चाहता था कि शरणार्थी यहां आबाद हों, हालांकि देहात खाली इसीलिए कराए गए थे कि नए आने वालों के लिए जगह निकाल सके, खाने का ठिकाना हो सके। लेकिन खुदगर्जियों[1] ने यह मकसद[2] फना[3]

---

1. स्वार्थ।
2. लक्ष्य।

कर दिया। अधिकारियों के बस में न था कि जबरदस्ती रिफ्यूजियों को वहां आबाद करें। अगर हिंदुओं में विद्रोह भड़क उठता और देहाती जाकर अधिकारियों का दरवाजा खटखटाते तो हालात से नावाकिफ हुकूमत फैसला यकीनन उनके हक में करती।

इसके अलावा हमने यह भी देखा कि उन पर पशेमानी भी छाई हुई थी। वे दुख भरे सुर में उन दिनों को याद करते थे। दस-बीस गांवों में उनकी धाक थी और राज-दरबार में अपने गांवों के विस्तार और आवादी की वजह से उनकी अहमियत और इज्जत थी। मुसलमान पड़ोसी उस समय तो कांटा मालूम हुए, मगर अब याद आ रहे थे। तीन-चौथाई गांव खाली हो जाने के बाद अपनी कमी का अहसास उनको बेचैन कर रहा था और वे हर तरह से यह जाहिर करने की कोशिश करते थे न हमने उनसे बुराई की, न उन्होंने हमारे साथ कुछ किया। यह तो सब सरकार ने कराया।

की मिरे कत्ल के बाद उसने जफा[4] से तोबा
हाय उस जूद पशेमां[5] का पशेमां होना

और इस पछतावे का इजहार हर जगह हो रहा था। एक दिल्ली वाले जिनकी चांदनी चौक में दुकान थी एक रोज कहने लगे :

"साहब, हमारी दिल्ली का तो इन पंजाबियों ने ऐसा सत्यानाश किया है कि देख-देखकर कोफ्त होती है। न कोई तमीज रह गई है, न तहजीब। चांदनी चौक में आज तक कबाब न बिके थे। अब देखिए जगह-जगह कबाब की दुकानें लग रही हैं। फतेहपुरी और फव्वारे पर सरेआम पटरियों पर शराब तक बिक रही है। लोग उसी जगह खड़े-खड़े शराब पीते हैं और चाट-कबाब खाते हैं। हमें नाक बंद करके गुजरना पड़ता है। हमारी औरतें बिल्कुल ही परदे में बैठ गई हैं, आना-जाना बंद है। शरीफ औरतों पर सरे बाजार फब्तियां कसी जाती हैं। इसलिए क्या करें । इतने गैर-मुहज्जब[6] लोग तो हमने देखे ही नहीं। हमें तो यह फिक्र है कि बच्चों के ऊपर इन हालात का कितना खराब असर पड़ेगा। अभी कल मैंने देखा एक खूबसूरत औरत बदन पर डेढ़-दो सौ का रेशमी सूट, खूब लिपस्टिक और पाउडर लगाए हुए चांदनी चौक की सड़क पर दो गज का गन्ना चूसती हुई चली जा रही थी। बदमजाकी[7] की इंतहा[8] है।"

यह शिकायत आम थी। शाम के पांच बजे से जीवहत्या के डर से मुंह पर कपड़ा लपेट लेने वाले जैनी बनिए इस स्थिति से दिन-ब-दिन तंग आ रहे थे।

देहाती जितना मुमकिन होता कोशिश करते थे कि पंजाबी शरणार्थी यहां न आएं।

---

3. मिथना।
4. अन्याय, अत्याचार।
5. शीघ्र ही अपनी भूल पर पछतावा करने वाला।
6. असभ्य।
7. ओछापन।
8. सीमा।

जब हमारी पार्टी बहुत से दूसरे गांवों में होती हुई कस्बा नजफगढ़ पहुंची तो जून के महीने की आग पर जलती हुई दोपहर थी। गरमी के मारे बुरा हाल था। हमारे पास एक पुराने कांग्रेसी भी थे उन्होंने अपने रिश्तेदार का मकान ढूंढ़ा और उनकी बैठक में, जो दुकान की छत पर थी, ठहर गए। स्थानीय कांग्रेस समिति के अध्यक्ष और मंत्री चूंकि दूर रहते थे इसलिए उन्हें बुलाने के लिए आदमी भेज दिया गया। उनके आने तक हमें यहां वक्त गुजारना था। मेजबान ने दो-एक और पड़ोसियों को बुलाया और ख़ुद अपने समधी की खातिरदारी में लग गए। पड़ोसियों में एक लालाजी भी थे। उन्होंने तकरीबन सारा वक्त हमारे साथ गुजारा। हमारे तीसरे साथी ने हमेशा की तरह 'टैक्ट' से काम लेना शुरू कर दिया और अपने आने का मकसद बताते हुए लाला जी से पूछा :

"कहो भई, खुश हो ? मुसलमान तो चले गए, मगर ये जो नए आए हैं उनसे कैसी पट रही है ?"

दुकानदार ने जवाब दिया, "बस जी अच्छी ही पटती है। और यह भी अच्छा ही हुआ कि मियां लोग चले गए।"

उन्होंने पूछा, "क्या चाहते हो फिर आ जाएं कि अब न आएं ?"

लालाजी ने जल्दी से जवाब दिया, "ना साहब, मियां लोगों की तो अब यहां गुजर नहीं।"

मैंने पूछा, "क्या तुम्हारी उनसे बहुत लड़ाई रहती थी ?"

लाला ने कहा, "लड़ाई तो खैर क्या, मगर उनको बड़ा घमंड था। सारे देश को वे 'अहल-ए-इस्लाम'[9] बना लेना चाहते थे, उससे छुट्टी मिली। फिर उनकी वजह से गऊ भी हमारे शहर में कटती थी। वे लोग बहुत खाते थे और अमीर भी थे। सच्ची बात तो यह है अपने हिंदू भाई आ गए, यह अच्छा हुआ।"

हमने पूछा, "तुम्हारी इनकी अच्छी निभती है, मेलजोल रहता है ?"

हंसकर बोले, "निभती तो खैर क्या है, ये भी मांस खाते हैं और सिख कृपाण भी बांधते हैं। हम निहत्थे हैं। शराबें पी-पिलाकर रोज ही दंगा-फसाद मचाते हैं, मगर उनकी हमारी चोट चलती है। जब झगड़ा हुआ एक दूसरे के सिर तोड़ लिए और ठीक-ठाक हो गया। बस जी, इसी तरह कट जाएगी। कई बार खटपट हो चुकी है, अभी उस दिन भी हो चुका है औक्र हमने जान लिया है कि ये इसी तरह राजी होंगे।"

गांव का हाल पूछा तो मालूम हुआ कि यहां दो-चार लोग ही मारे गए, अलबत्ता सब भगा दिए गए।

लालाजी ने कहा, "वह था न हमारा तहसीलदार, बस उसनें सबको जिंदा निकलवा दिया। लेकिन जाट भाइयों से हमने कह दिया कि हम-तुम एक हैं और कई गांवों के मुसलमान शुद्ध हुए। उनको हमने अपने में मिला लिया।"

---

9. मुसलमान।

हमने उससे कांग्रेस की बाबत पूछा तो मुस्कराकर अजीब ढंग से जवाब दिया :

"यहां तो कांग्रेस है ही नहीं, हां। बस प्रधानजी हैं। यहां तो संघ पार्टी और हिंदू महासभा का जोर है और जाटिस्तान की मांग है। कांग्रेस के हैं तो दो-तीन आदमी मगर उनको कोई पूछता नहीं, न उनकी कोई सुनता है।"

मुस्करा-मुस्कराकर लालाजी ने सब कुछ कह सुनाया। मैं खामोश बैठी रही क्योंकि मेरी साथियों की हिदायत थी कि जब तक सारा हाल दोस्त बनकर पूछ न लें, न बोलूं, ताकि कहीं उन्हें शक हो जाए और वे जी की बात छिपा जाएं।

अध्यक्ष महोदय तो मिले नहीं, सेक्रेटरी आए और उन्होंने वादा किया कि हम कोशिश करेंगे कि आप जलसा कर लें। मगर हमारे मेहरबान लालाजी कहते थे यहां जलसा क्या करना, यहां तो बस ठीक-ठीक है।

सेक्रेटरी ने कहा कि अगर मैं लोगों को इकट्ठा करने में नाकाम रहूं तो यह समझ लीजिएगा कि यहां हम सिर्फ दो कांग्रेसी हैं।

तीसरे दिन हम पंडित सुंदरलाल को लेकर वहां पहुंचे। लेकिन वहां कोई भी न था, सिर्फ अध्यक्ष ओर मंत्री थे। मायूस और रंजीदा। वे भले आदमी अपने को इतना बेबस महसूस कर रहे थे, न उनकी कोई ताकत थी न आवाज। एक अटारी पर बैठकर हमने दो घंटे इंतजार किया। बड़ी मुश्किल से चंद आदमी जमा हुए। कमेटी के अध्यक्ष ने भाषण शुरू किया और एक साल की सारी घटनाओं की समीक्षा कर डाली। भाषण सुलझा हुआ और सचाई में भरा था। दिल का दर्द शब्दों में झलक रहा था। लोगों की तादाद धीरे-धीरे बढ़नी शुरू हुई लेकिन अध्यक्ष की बेबसी और मायूसी देखकर हम सब बहुत प्रभावित हुए। यह नेक इंसान जिसकी आवाज जंगल की पुकार साबित हो रही थी। उस सारे इलाके में अकेला कांग्रेस का नुमाइंदा था और उसका उठना-बैठना लोगों ने दूभर कर रखा था। उसे प्रांत से अब तक कोई मदद नहीं मिली थी, लेकिन वह आज भी अपनी जगह कायम था।

और फिर पं. सुंदरलाल ने भाषण शुरू किया। लोग दुकानों और मकानों से निकल-निकलकर इकट्ठे होने लगे। पास-पड़ोस के किसान भी आ गए। भाषण ढाई घंटे जारी रहा। न कोई उकताया न किसी ने विरोध में नारे लगाए, न ही कोई नाराज हुआ। पंडितजी पैंतरे बदल-बदलकर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग और धर्म व ईमान के ठेकेदारों को चैलेंज करते रहे। इसी दरम्यान थोड़ा-थोड़ा करके दूध पिया। सुनने वालों को जैसे सांप सूंघ गया था। आखिर तक तो श्रोताओं की तादाद दो हजार हो गई थी।

हम कामयाब वापस आए। अब जिस गांव में जाते, बेखटके अपना प्रचार करते। पंडित जी ने नींद के मातों[10] को झिंझोड़कर रख दिया था और उस इलाके के लोग

---

10. डूबे हुए।

सोच में पड़ गए थे कि यह जो कुछ हुआ क्या हुआ और कैसे हुआ ? कई गांवों में हमें दो-दो, तीन-तीन बार जाना पड़ा और 4 जून से लेकर 30 जून तक हमने 27 गांवों का दौरा किया।

एक तरफ हमने इलाका महरौली के सारे देहात व कस्बे देखे, दूसरी तरफ इलाका नजफगढ़ के बहुत से देहातों में गए। कहीं बड़े जलसे किए, कहीं छोटी मीटिंगें। किसी जगह हमने पं. सुंदरलालजी को तकलीफ दी और कहीं जाजूजी को। इसमें कोई शक नहीं कि पंद्रह जून की अफवाहें सब जगह फैली हुई थीं। कुछ लोग मान लेते थे कि "हां, यहां भी खबर आई है।" और कुछ लोग छिपाते थे। नए बलवे के डर से लोगों में आतंक भी था और आम असंतोष भी। अपने प्रोग्राम के मुताबिक हमने बहुत-सी जगहों पर शांति दल कमेटियां कायम कीं और पुराने बाशिंदों को, शरणार्थियों को और जहां-जहां मुसलमान वापस आ गए थे, उनको समझा-बुझाकर इस पर राजी किया कि 'मुजिश्तारा सल्वात...'[11] जो कुछ हुआ सो हुआ, उसे भूल जाएं। गई हुई किसी चीज की मांग न करें। सिर्फ जमीन-मकान की वापसी के लिए झगड़ें। अगर उनका मकान किसी स्थानीय हिंदू भाई के कब्जे में है तो हम जरूर खाली कर देंगे और अगर शरणार्थी भाई के पास है तो गांव का कोई भी टूटा हुआ मकान वे अपने लिए चुन लें। उसकी मरम्मत और दुरुस्ती के लिए हम पैसा मुहैया कर देंगे। मगर शरणार्थी से मकान वापस लेने की वे बिल्कुल कोशिश न करें। जहां तक संभव हो हर कीमत पर शांति और मेल-मिलाप कायम होना चाहिए।

हमारी इस पालिसी ने बहुत से झगड़े रोक दिए और विरोधियों के पास शिकायत करने के लिए एक घटना भी न मिल सकी। हमारा असल काम था स्थानीय हिंदू-मुसलमान और शरणार्थियों में भाईचारा कायम कराना। इसका मौका हमें कम ही देहातों में मिला क्योंकि शरणार्थी किसी तरह देहात की तरफ रुख न करते थे और स्थानीय हिंदू उनका अपना पसंद न करते थे। उसके बजाए वे मुसलमानों को फिर बसा लेते थे।

एक गांव में जब हम पहुंचे और लोगों को इकट्ठा किया तो पहले मुकामी[12] लोग अपने झुरमुट में एक मुसलमान नंबरदार को लिए हुए थे। फिर शरणार्थियों का दल आया। वे दोनों दो टुकड़ियों में अलग-अलग बैठे। शरणार्थियों ने शिकायत की कि सिर्फ हमें नुकसान पहुंचाने के लिए इन्होंने इस मुसलमान नंबरदार को बुलाकर गांव में बिठा लिया है ताकि मुसलमानों को छोड़ी हुई जमीनें हमें अलाट न होने पाएं और हिंदू ने कहा :

"नुकसान पहुंचाना कैसा, आखिर इंसाफ भी तो कोई चीज है। उसका हक है तो हम कैसे उसको झुठलाएं ? और जो जमीन की बात कहते हो तो सब चीजों पर

---

11. "गुजश्तारा सल्वात आइदंदा रा एहतियात" फारसी की मशहूर उक्ति है : जो कुछ हो चुका उसे भूल जाओ और आगे सावधानी रखो।

12. स्थानीय।

तो तुम्हारा कब्जा है ही। खाली नंबरदार और उसके रिश्तेदारों की जमीन छोड़ दो। गांव भर का तो तुम लोगों ने बुरा माहौल कर डाला है। मकानों के छप्पर तक फूंक लिए, अब और क्या करोगे ?"

इस तरह काफी देर समझाने और लानत-मलामत करने के बाद हमने उन सब को इस पर राजी कर लिया कि कमेटी बना लें और अपनी मुश्किलों और शिकायतों की रिपोर्ट हमारे आफिस को भेज दें। कमेटी में उस अकेले मुसलमान का नाम हिंदुओं ने खुद शामिल करना चाहा। शरणार्थी बिगड़े कि यह किस पार्टी का नुमाइंदा[13] है, इसके पीछे ताकत ही क्या है और एक आदमी की आवाज कोई आवाज न हुई। मगर मुकामी जमींदार इस पर डटे रहे कि हम सबको इस पर भरोसा है, और भी मुसलमान वापस आ रहे हैं। मुस्लिम नुमाइंदा कमेटी में जरूर रखा जाए।

कुछ ही दिन बाद मुझे मालूम हुआ नंबरदार की वह जमीन जो शरणार्थियों के कब्जे में थी मुकामी हिंदू दोस्तों ने जबरदस्ती उस पर हल चलवा दिए और नंबरदार का कब्जा करा दिया। इस पर झगड़ा चला और आखिरकार जीत नंबरदार[14] की हुई।

ज्यादातर गांव ऐसे थे जहां मुसलमान न वापस आए थे, न ही उनकी दरख्वास्त आबादकारी के लिए हमारे पास अब तक[15] आई थी। लेकिन स्थानीय आबादी और शरणार्थियों में झगड़ा चल रहा था। मुसलमानों की छोड़ी हुई जायदाद जिसे उनके जाते ही पड़ोसियों ने हथिया ली थी, अब रिफ्यूजियों को दी जा रही थी। और जिनके कब्जे से वे खेत और मकान निकल रहे थे वे हाथ धोकर शरणार्थियों के पीछे पड़ गए थे। शरणार्थी भी कुछ कमजोर न थे, फिर इस वक्त उनकी हिमायत हुकूमत भी कर रही थी और करना ही चाहिए था।

बहरहाल ऐसे मसलों का शांतिपूर्ण हल भी हमारे पास यही था कि यहां दो चार बाअसर आदमियों को जिम्मेदार बनाएं। उनसे बचन लें कि अपने गांव में बलवा न होने देंगे। इतना नुकसान उठाने के बाद कुछ तो समझ आनी चाहिए। दूसरों के भड़काने से उन्हें अपने पैरों पर कुल्हाड़ी न मारनी चाहिए। मेल-मिलाप बढ़ाने के लिए जलसे किए, मिली-जुली कमेटियां बनाई और उनको समझाया कि खुद न लड़ो, शिकायतें हमारे पास लाओ। हम तुम दोनों की तरफ से सबसे लड़ेंगे।

---

13. प्रतिनिधि।
14. मगर पांच-छह साल बाद वही नंबरदार एक रोज मुझे कालू सराय में मिला। हर किसी के घर जानवरों की देखभाल पर मुलजिम था और उसकी बहुत बुरी हालत थी। पूछने पर पता चला वह सब ढोंग था। सिर्फ उसकी जमीन हथियाने के लिए यह ड्रामा खेला गया था। जमीन शरणार्थियों को नहीं मिल सकी, मुकामी बनियों ने हड़प ली।
15. हमारे पास दुबारा बसाने के लिए सिर्फ वे मुसलमान अर्जी देते थे जो हिंदुस्तान ही में रह रहे थे पर बिखरे हुए थे। पाकिस्तान जाने वालों की न वापसी का सवाल था, न उनके पुनर्वास का। उनकी प्रापर्टी कस्टोडियन के कब्जे में थी।

मुस्लिम पनाहगुजीनों की माली इमदाद एक मुश्किल मसला थी। स्थानीय सरकार न उसकी जरूरत समझती थी, न हमारी बात सुनती थी। दिल्ली के तबाहहाल लोगों में अब बड़े पैमाने पर चंदा देने की ताकत न थी और सच्ची बात यह है कि हिंदू भाइयों के पास हम जाना नहीं चाहते थे। हमारे दिमाग इतने साफ कब थे कि मुसीबतजदा की मदद करते समय यह भूल जाएं कौन हिंदू है, कौन मुसलमान ?

लाचार, मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक, हमने जवाहरलालजी का दरवाजा खटखटाया और एक बार, नहीं तीन बार उनके निजी पर्स और उनके फंड से बड़ी-बड़ी रकमें हासिल कीं और उस रुपए से मुस्लिम पनाहगुजीनों के लिए लकड़ी, बांस, फूस, दरवाजे और चौखटों का इंतजाम किया। मेरे लिए कुदरत ने इतनी आसानी मुहैय्या कर दी थी कि भाई साहब के जरिए से जरा जल्दी आवाज ऊपर तक पहुंचा सकती थी। और यह जरिया बहुत कामयाब साबित हुआ।

एक दिन हम बख्तियाबरपुर गए। यहां की मुस्लिम आबादी एक मुसलमान नायब तहसीलदार की अगुवाई में हिंदू बन गई थी और अब उन सबसे नायब तहसीलदार की किसी बात पर अनबन हो गई थी। इसी गुस्से में उन्होंने ऐलान कर दिया हम तो मुसलमान हैं। सिर्फ जान के डर से जाहिर में हिंदू बन गए थे। जमीअत और शांति दल को उन्होंने दरख्वास्त दी कि हम सबको यहां से निकालकर पाकिस्तन पहुंचा दिया जाए, या हमारा फैसला किया जाए।

हमने देखा कि गांव वाले नायब तहसीलदार को अपने हलके[16] में लिए बैठे थे। उस वक्त वे सब उसके हिमायती और हमदर्द बन बैठे थे और सारे मसुलमान गांव से बाहर अपने खेतों के करीब झोंपड़ियों में पड़े थे। उन्होंने बताया कि हम सब इसलिए इकट्ठे होकर रह रहे हैं क्योंकि हमें अपनी जान और अपने खेतों की तरफ से खतरा है। मुसलमानों की दरख्वास्त पर उनकी हिफाजत के लिए पुलिस गार्ड ठहरा हुआ था मगर जैसा कि ऐसे समय में होता ही है उनकी मौजूदगी में रातों को सामान उठ जाता था, खेत कट जाते थे और बैल खुल जाते थे।

मैं इससे पहले खिड़की[17] वालों का हाल देख चुकी थी इसलिए किसी तरह दिल न चाहा। उनकी मुश्किलात सुनकर भी मुझे बेहतर सूरत यही मालूम हुई कि जिस तरह हो सके उनको गांव में मुस्तकिल[18] किया जाए। यहां से निकलना इससे बड़ी तबाही होती जो इस वक्त हो रही है।

हमारे साथियों की यही राय हुई। नायब तहसीलदार से हमने बातचीत की तो उसने कहा, "उस वक्त मुझे यही ठीक मालूम हुआ कि इन सबकी जान बचा दूं। मगर

16. क्षेत्र।
17. वह गांव जहां के बहुत से शुद्धि हुए आदमियों को निकालकर दिल्ली लाया गया था।
18. स्थायी बनाना।

अब तो ये मेरे कहने में नहीं हैं। इनका जो जी चाहे करें। चाहे ठहरें, चाहे जाएं। मेरा रास्ता अलग, उनका अलग। मैं तो कहीं न जाऊंगा।''

लोगों ने चिल्लाकर कहा, ''हम तुमसे कोई मतलब नहीं रखना चाहते।''

उसने जवाब दिया, ''मैं तो कह चुका कि तुम अपनी मर्जी के मुख्तार हो जो चाहे करो। मैं तो हिंदू हो चुका।''

गांव वाले उससे हमदर्दी कर रहे थे और यह सब सुनकर हमने आपस में सलाह की और दुबारा आने का वादा करके रुखसत हुए।

तीसरे दिन हम जाजूजी को लेकर पहुंचे। वे उन दिनों हमारी खुशकिस्मती से दिल्ली ही में थे और उनको उस बुढ़ापे में हम अक्सर तीस-चालीस मील ले जाकर तकलीफ दिया करते थे।

हमारी मदद उन्होंने की और यह मोर्चा भी हमने उन्हीं की मदद से जीता।

उन्होंने अपने सुलझे हुए ढंग से जब ठंडे-ठंडे सवाल करके उनको जी की बात उगल देने पर मजबूर कर दिया तो फिर मीठे शब्दों में समझाना शुरू किया। गांधीजी के ऐसे सीधे-सादे बोलों में उन्होंने नैतिक और सामाजिक सिद्धांत समझाए। नीति, धर्म और इंसानियत के नाम पर उनसे अपील की कि इस गुंडागर्दी को खत्म करें और अपने और सरकार के दुश्मनों को दिखा दें कि हम अब चौकन्ना हो चुके हैं, उनकी चालबाजियों में न आएंगे। 15 जून को दंगे फसाद की जगह आपस में प्यार-मुहब्बत और ऐसी शांति हो कि दुश्मन हाथ मलकर रह जाएं। उन्होंने गवर्नमेंट की पालिसी कांग्रेस के उसूल और बापू की तालीम सबका जिक्र करके मुहब्बत का भूला पाठ उनको फिर याद करा दिया और नतीजा यह हुआ कि आपस में सुलह हो गई। तीन बार जाने के बाद हमें इस विषय की तरफ से पूरा इत्मीनान हो गया।

देहातों में सफाई, शिक्षा और डाक्टरी इमदाद का बंदोबस्त पहले ही क्या होता था और अब तो बिलकुल ही सफाया था। भले दिनों में हकीमजी, वैद्यजी, दाइयां और जर्राह[19] जरूर हुआ करते थे। अब वे भी सब मर-खप गए, या दिल्ली चले गए थे। बहुत ही बुरी हालत थी। मीलों, कोसों तक मरीज का पूछने वाला कोई न था। स्कूल की इमारतें जहां-जहां थीं, खाली पड़ी थीं। मगर एक गांव में मस्जिद तोड़कर बहुत ही फुर्ती और मुस्तैदी से स्कूल कायम कर लिया गया था। उस दिन हमारे साथ एस. पी. थे। मैंने कहा कि मस्जिद की इमारत आप सील करा दीजिए, उसको तो दूसरे काम में न इस्तेमाल होना चाहिए। एस. पी. ने देखा, अफसोस भी जाहिर किया। फिर मुझे नहीं मालूम स्कूल चलता रहा या मस्जिद की मरम्मत हुई। बहरहाल किसी गांव में स्कूल बाकी न रह गया था।

हम जिस देहात में पहुंचते वहां के बच्चे हमें गलियों, दरख्तों और तालाबों पर

---

19. फोड़े-फुंसियां आदि बीमारियों का चीर-फाड़कर इलाज करने वाले।

उचकते-फांदते हुए मिलते थे, जवान खेतों में काम करते हुए नजर आते और औरतें कुएं पर या घरों में सुस्त रफ्तारी[20] से टहलती मिलतीं। लेकिन सारे गांव के बूढ़े ज्यादातर चौपाल में जुआ खेलते होते और हमारे पहुंचते ही नंबरदार की डांट-डपट सुनकर बहुत जल्द सारी आबादी चौपाल में भर जाती। जुए की बाजी गड़बड़ हो जाती। बूढ़े अफीमचियों की तरह अपनी चुंधी आंखें खोलकर हमें देखने की कोशिश करते। उनमें से कोई हमारे सवाल का जवाब न देता। सब जैलदार या नंबरदार का मुंह देखने लगते। कोई उस वक्त तक हमें बैठने के लिए भी न कहता जब तक कि गांव का चौधरी न आ जाए।

यह था हिंदुस्तान, जिसका सही नक्शा हम उस वक्त देख रहे थे। उन्हें देखकर मेरी तो जैसे हिम्मत टूट जाती। उसे ठीक होते शायद आधी सदी से कम न लगेगा और किसी सरकार के बस का रोग तो है नहीं। उन्हें इंसान बनाने के लिए तो आदमी बनाने की फैक्टरी कायम करनी पड़ेगी—फैक्टरी भी ऐसी जिसके सब पुर्जे गैर-सरकारी हों। नौजवान और सिर्फ मुखलिस[21] नौजवान ही इस दुनिया में इंकलाब ला सकते हैं। अगर साल के दो महीने, यानी अपनी छुट्टियां उन देहातों पर खर्च कर दें तो शायद कालेज और यूनिवर्सिटी के हजारों लड़कों का झुंड इन देहातों में फैलकर इनका जीवन-स्तर बेहतर बना सकता है। मगर :

ऊ शेखतन गुमस्त कि रा रहबरी कुनद[22]

---

20. धीमी चाल।

21. सच्चा।

22. जो आप ही गुमराह हो गए हैं वे दूसरों को क्या रास्ता दिखाएंगे।

15. बहाली का मसला[1]

हमारे साथियों में दिल्ली के एक प्रतिष्ठित जमींदार ब्राह्मण[2] भी थे और वे खालिस दिल्ली वाले थे। जबान उर्दू-ए-मुअल्ला[3] और करखनदारी मिली-जुली बोलते थे और दफ्तरी फारसीनिष्ट उर्दू लिखते थे। उन्होंने बेहद काम किया। मुसलमानों को बसाने, उनकी जमीनें वापस दिलाने और उनका मालिक होने का हक मंजूर करवाने के लिए तमाम अदालती और कानूनी दुश्वारियां उन्होंने ही हल कीं। वे पुराने कांग्रेसी न थे, इसलिए कहीं खुशामद, कहीं जोड़-तोड़ और कहीं धौंस, जैसा मौका हो उस लिहाज से अपना काम निकालते थे। और जब मैं किसी चीज को उसूल के खिलाफ कहती तो बड़े मजे के साथ मुझे 'नीति' और टैक्ट के उसूल समझाते थे। अनथक काम करने वाले और बड़े अच्छे मददगार थे। सरकार-दरबार का भी तजुर्बा उनको बहुत था। लेकिन अंदरूनी तौर पर ठेठ ब्राह्मण थे। अक्सर कहा करते : दुनिया तो सारी पाप से भरी हुई है। इसका कारण यही है कि स्त्रियों ने पतिव्रत धर्म का पालन करना छोड़ दिया है और फिर मनुस्मृति से नारी के कर्त्तव्य सुनाते। अपनी पत्नी की आदर्श पूजा का जिक्र करते, ड्राइवर हां में हां मिलाता रहता और मैं जलकर बहस शुरू कर देती। मगर वे बुरा न मानते।

जमीअत-उल-उलमा ने हमें एक दरख्वास्त भिजवाई, जो मौजा आली के मुसलमानों ने दी थी। अब वे इस दुमुंही जिंदगी से तंग आ चुके थे और गांव से निकलना चाहते थे। लेकिन हम पक्का इरादा कर चुके थे कि अब किसी को गांव से निकलने न देंगे। अगर उसी जगह ठहराकर हमने मामलात को ठीक न किया तो कुछ करना बेकार है।

हमारी पार्टी शाम के समय वहां पहुंची। हमारे साथी ने हमेशा की तरह 'गौड़ ब्राह्मण' का हुक्का मांगा, इसमें कोई शक नहीं। यह एक अच्छा परिचय होता था और कामयाबी का रास्ता खुल जाता था। लोग भला पंडित की बात कैसे ध्यान से न सुनते ? फौरन आवभगत शुरू हो जाती।

---

1. पुनर्वास की समस्या।
2. पं. जयदेव।
3. दिल्ली के लाल किले में बेगमात द्वारा बोली जाने वाली भाषा, श्रेष्ठ उर्दू।

मैं जब कभी मजाक उड़ाती तो वे यही सबूत पेश करते कि अपना मतलब काम निकालने से है। देहातों में तो लोग इसी तरह आकर्षित होते हैं। लेकिन फिर जल्दी ही सफाई पेश कर देते :

"आपा जी, खाने-पीने में क्या रखा है, असली चीज तो आपस का प्रेम है। खान-पान कभी एक नहीं रहा, मगर हिंदू मुसलमानों में भला कोई बैर कभी था ?"

और मुझे लाजवाब हो जाना पड़ता। वाकई इससे पहले हिंदू-मुसलमान गहरे दोस्त होते थे, मगर छुआछूत बराबर कायम रहती थी। और दोनों दोस्त एक-दूसरे के मजहबी व्यवहार का आदर करके बुरा भी न मानते थे। अब जबकि हम सभ्य हो गए छुआछूत मिट गई, खान-पान एक हो गया तो एक दूसरे की बेइज्जती और बरबादी पर तुल गए।

'गौड़ ब्राह्मण' का हुक्का आया और मजे-मजे की बातें शुरू हुई। चौपाल के सहन में नीम का पेड़ था। उसकी ठंडी छांव में बैठे हुए हम गहरी नजरों से उन बूढ़े परेशान चेहरों को, उन हैरान आंखों को देख रहे थे और उन नौजवानों को देख रहे थे, जिन्होंने हमारे आने की खबर सुनते ही भांप लिया था कि कुछ दाल में काला है।

हमने उन मुसलमानों से कहा कि "अच्छा अब आकर साफ-साफ बताओ तुम चाहते क्या हो ? दबाव में आकर मजहब बदला है या राजी खुशी से ? और अब गांव से भागने के लिए किसलिए तैयार हो ?"

कुछ लोग सफाई देने लगे कि एक जवान आदमी ने कहा, कुछ नहीं, जो हमारी तकदीर में था पूरा हुआ। मैं तो अब गांव नहीं छोड़ सकता चाहे कुछ हो जाए।

लेकिन एक बूढ़ा आगे बढ़ा। उसने लरजते[4] हाथों से मेरे कदम थाम लिए और कहा ये लोग जो चाहें करें लेकिन मेरा आखिरी वक्त है। कब्र में पैर लटकाए बैठा हूं, मुझसे तो यह बेईमानी नहीं होती। मैं तो अब इस हाल में नहीं रह सकता, मुझे ले चलो।

यह सुनना था कि सारी महफिल चौंक पड़ी। जमींदारों और जैलदारों की त्योरियां खिंच गईं और उन्होंने कहा, जब हर तरफ दंगा-फसाद मचा हुआ था, तब तो हमने इनकी जान बचाई और हमारी बात का विश्वास न कीजिए, इन्हीं से पूछ लीजिए कि इनको रत्ती बराबर तकलीफ हमने दी है ? हम सब इनके आड़े आए और उनकी हिफाजत की। और अब ये हमारे साथ यह कर रहे हैं ?

बूढ़े ने जलकर कहा, तुमने बचाई कि सूअर ने बचाई ? बूढ़ा रो दिया। सूअर खिलाकर तब हमें यहां रहने दिया। उसके होंठ लरज रहे थे और अंदरूनी तकलीफ को जब्त करने की कोशिश में वह सारे जिस्म से कांप रहा था। उसने कहा, अब मुझसे नहीं रहा जाता, इस ढंग से जिंदगी नहीं कट सकती।

नंबरदार बिगड़ा, तुमने हमारे साथ खाया-पिया, हुक्का-पानी किया। तुम्हारे खयाल से हमने छुआछूत मिटाई, तुमने हमारा धर्म भ्रष्ट किया और अब ऐसा कहते हो ? जान

---

4. कांपते।

बचाने का यह बदला ? कैसा अन्याय है ? सबके सब आपस में बोलने लगे। हिंदू नौजवान खासतौर पर ज्यादा भड़के हुए थे। बूढ़े संजीदगी के साथ कह रहे थे और मुसलमान हमारी मौजूदगी से कुछ दिलेर हो गए थे।

आखिरकार सब कुछ सुनकर मैंने उन सबसे कहा :

"भई, माफ करना। जरा मुझे सफाई से कहना पड़ता है कि जो कुछ मैंने अभी देखा और सुना उसका मतलब है तुम दोनों पापी हो। अभी जरा देर पहले नंबरदार की बातें सुनकर मैं समझी थी कि इस गांव वाले बड़े भले लोग हैं। यहां झगड़ा नहीं हुआ, मिलजुलकर रहे और एक-दूसरे की हिफाजत की। मगर अब तो खयाल बदलना ही पड़ा। सुन लो।

"तुम दोनों ने एक दूसरे को धोखा दिया, झूठ बोला, एक दूसरे का दीन-धरम बिगाड़ा। कितने शर्म और अफसोस की बात है कि बहादुर राजपूत अपने पड़ोसी को पनाह देता है और फिर उसको मजबूर पाकर जुल्म भी करता है कि गंदी चीज जिसे खाना और खिलाना दोनों उसके धरम के अनुसार भी जायज नहीं है, जबरदस्ती उसको खिलाकर खुद भी पाप करता है और उसको भी गुनाहगार बनाता है।

और तुम पठान—बात के धनी, कौल के सच्चे, आन के लिए जान पर खेल जाने वाले ! तुम जान के डर से अपना ईमान खराब करते हो ? दिल में कुछ, जबान पर कुछ ? जब तुम दिल से हिंदू नहीं बने थे तो तुमने झूठ बोलकर इनके साथ क्यों खाया-पिया ? उनके मजहबी रिवाजों को तोड़कर तुमने कितना बड़ा गुनाह किया है, जरा सोचो ? यह सब करने से तो मर जाना अच्छा था। तुममें से किसी का मुंह इस काबिल नहीं कि खुदा को दिखा सको। अब एक ही रास्ता है कि अपने गुनाहों पर पछताओ। पहले एक दूसरे से और फिर भगवान से माफी मांगो और पहले की तरह मिलजुलकर रहो।

और जो यह नहीं हो सकता तो फिर मुझे बताओ। मैं ट्रक भेजकर इनको तो निकलवा लूं। सरकार दोनों की है। वह सबको रखना चाहती है। उसके लिए सब बराबर हैं, चाहे उनका मजहब कोई हो। इतने दिन तुमने आजादी का इंतजार किया, दुआएं मांगी और जब मिल गई तो इस तरह उसको मिटाने पर तुले हुए हो।"

पता नहीं क्या था, कुछ वक्त ही शायद ऐसा आ गया था कि दानों शर्मिंदा हो गए और तीन दिन की मोहलत मांगी कि हम पंचायत करके फैसला कर लें।

हम वापस आए। दूसरे दिन विनोबा भावेजी से मिली और सारा हाल सुनाकर उनसे दरख्वास्त की कि अपने आदमी भेजकर देहातों में बापू के उसूल और तालीम का प्रचार करें तो जल्दी हालात सुधर जाएंगे। लोगों में अब सुनने और समझने का रुझान पैदा हो गया है।

तीसरे दिन हमारी पार्टी फिर गई तो नंबरदार ने कहा आप जरा यहां ठहरिए। हम इस वक्त फिर इकट्ठे होकर बात कर लें तो बताएं। बूढ़े की चौपाल में, जिसमें उसकी

लकड़ी, लकड़ी काटने के औजार और भूसा भी ढेर था हमने बैठकर इंतजार करना मुनासिब समझा।

उसका बेटा मुझसे कहने लगा कि जरा आप मेरे साथ चली आइए, मैं आपको अपना घर दिखा दूं। उसे छोड़कर भला मैं कैसे जा सकता हूं। अंदर उसने एक कमरा मुझे दिखाया जो अनाज की बोरियों से भरा हुआ था। घर में सामान भी दूसरे किसानों की बनिस्बत[5] ज्यादा था। उसने कहा, मैं जिस तरह हिंदू बना हुआ रह रहा हूं, उसी तरह रहूंगा। मगर बूढ़ा नहीं मानता है। मैं अकेला ही उसका बेटा हूं, वह छोड़ना नहीं चाहता। और फिर इस गांव में दूसरा बढ़ई कारीगर भी तो नहीं है, इसीलिए तो उनको मेरी कद्र है यहां मुझे काम भी बहुत मिलता है।

और यह सच था अगर ये बढ़ई, लुहार, मजदूर चले जाते तो पास-पड़ोस के हल, बैल गाड़ियां दुरुस्त करने वाला कौन था ? दूसरे शरणार्थी भी आ घुसते जिनको उन्होंने अपने बयान के मुताबिक कालका से आगे बढ़ने न दिया था। यहां तक कि जैतपुर यहां से एक मील के फासले पर खाली पड़ा था, एहसान नंबरदार और उसके साथियों के जाने के बाद उस गांव में अभी तक शरणार्थी नहीं आ सके थे। जवानी दुनिया, उसका फायदा और अपना भविष्य देख रही थी और बुढ़ापा आखिरत[6] की फिक्र में परेशान था। दोनों के जज्बात मेरी नजर में तो एहतराम[7] के काबिल थे। मैं उन मौलवी साहब की तरह (जो एक बार हमारे साथ देहातियों को लेने गए थे) उनसे यह कह सकी कि 'दीन व दुनिया दोनों में से एक को चुन लो।' क्या पता जब वे भूख से बेताब हों तो खुदा से बिल्कुल ही फिर जाएं। अभी तो वे कहते हैं हम दिल से खुदा को याद करते हैं, छिपकर नमाज पढ़ते हैं।

यह सब सोचकर मैं फिर नंबरदार वगैरह का इंतजार करने लगी। लेकिन देर होती ही चली गई और हमें यह महसूस हुआ कि वे लोग टाल रहे हैं। आखिर थककर हमने चलने की ठान ली और यही सोच लिया कि दूसरे दिन सवारी और हिफाजत का इंतजाम करा देंगे। ज्योंही हम कार में बैठे, नंबरदार आ गया, उसके साथ और भी कई लोग थे। उसने बूढ़े का हाथ पकड़ा और उसे गले लगाकर कहने लगा :

"बहनजी, हम बुड्ढे हमेशा के साथी-पड़ोसी। एक दूसरे को छोड़ नहीं सकते, मैं कहते देता हूं। इनका जैसे जी चाहे रहें, यहां से न जाएं। हम इनको जाने न देंगे।"

मैंने कहा, "मगर ये तो मुसलमान होकर रहना चाहते हैं और तुम इसको पंसद न करोगे। हालांकि सदियों से ये यहां इसी तरह रहते आए हैं और तब तुम्हारा कुछ न बिगड़ा। अब इनको अपने मजहबी फर्ज अदा करने की इजाजत नहीं मिलती, इसलिए

5. अपेक्षा।
6. परलोक।
7. समादरणीय।

भाग रहे हैं।"

नंबरदार ने वादा किया कि...अब कुछ न होगा। कोई इनको न रोकेगा। लेकिन गुड़गांव के जो लोग भगदड़ में यहां आकर बस गए थे वे अगर जाना चाहें तो जाएं। न वे हमारे हैं और न हम उनको रखना चाहते हैं यह गड़बड़ भी उन्हीं की पैदा की हुई है। इनको आप जरूर यहां से बुलवा लीजिए।

समझौता हो गया और हमारी पार्टी कामयाब वापस आई। हमने विनोबाजी को जाकर खुशखबरी सुनाई कि अब दूसरे दिन आपके जाने की जरूरत नहीं है, वहां सब गले मिल गए। वे भी बहुत खुश थे।

दूसरे रोज चालीस आदमी वहां से निकालकर निजामुद्दीन में बसा दिए गए। वे सब गुड़गांवा के थे और वहीं वापस जाने के इच्छुक थे। मगर फिलहाल हम उनको भेज नहीं सकते थे। कुछ रोज बाद बूढ़ा एक दिन फिर आया। वह बहुत खुश न था, मगर इतना इत्मीनान था कि अपने घर में नमाज पढ़ता है। उसने पूछा, बहनजी, रोजे आ रहे हैं, रखें ? हमारे साथियों ने कहा, जरूर रखो। कोई तुमको रोके तो हमें बताना। वह अब भी डर रहा था, लेकिन उसका ढाढस बंध गया।

इस तजुर्बे ने हिम्मत बढ़ा दी। नजफगढ़ इलाके के बहुत से देहात उन लोगों से आबाद थीं जिनकी शुद्धि हो गई थी। उनमें बहुत से भागने पर तुले हुए थे और हमने सोचा कि पंचायत और गांधीजी की दुआ की मजलिस[8] के जरिए। अगर हम उसको सुधार सकें तो बहुत ही अच्छा होगा। विनोबाजी से मैंने इस पर बातचीत भी की और वे तैयार थे कि जब कहो हम प्रार्थना आयोजित कर लेंगे। लेकिन कुछ ऐसे हालात पेश आते रहे कि हम अपनी इस ख्वाहिश और इरादे को पूरा न कर सके।

जले हुए मकानात और मलबे के ढेर तो खैर हर जगह हमें मिलते थे, मगर शाहदरा पुल के उस पार हमने एक गांव ऐसा देखा जहां बहुत से पुख्ता मकानों की दीवारें तक खोद दी गई थीं। यहां शरणार्थी बड़ी तादाद में ठहरे हुए थे और उनकी टूटी हुई दीवारों को दुरुस्त कर रहे थे। गांव के तमाम दरख्त काट कर दरवाजे, खिड़कियां और छतें तैयार हो रही थीं। पुरानी आबादी दूसरे सिर पर थी।

हमने लोगों से पूछा, "क्या ये मकान बमों से उड़ाए गए हैं ?"

मालूम हुआ, नहीं, इस कस्बे में तो कोई लड़ाई हुई ही नहीं। यहां तो मुस्लिम कैंप था और कैंप के तमाम लोग यहां से सही-सलामत निकल गए। अलबत्ता दो-तीन फर्लांग परे गांधीनगर के सामने वाले मैदान में उन पर हमला हुआ और पचहत्तर फीसदी आदमी खत्म हो गए। जो एक हिस्सा बचा वह दिल्ली पहुंचा दिया गया।

हमने फिर सवाल किया, "मगर ये मकान किसने खोदे ?"

वहां के रहने वाले हिंदुओं ने जवाब दिया, "शरणार्थियों ने।"

---

8. पार्टी।

हालांकि यह गलत था और हमें असलियत बाद में मालूम हुई। इस कस्बे की बरबादी के जिम्मेदार शरणार्थी हरगिज न थे। शाहदरा इलाके की तबाही व बरबादी के जिम्मेदार वही के लोग थे जिनमें राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के मेंबर और सरगरम लोग बहुत थे या फिर पुलिस, जिसमें हिंदू राज और जाटिस्तान का प्रोपेगंडा इस हद तक हुआ था कि वे अपनी इंसानियत भी खो बैठे थे। यह तो उन दिनों आम बात थी कि करो खुद और इलजाम थोप दो शरणार्थियों के सिर। कमजोर की जोरू सबकी भावज। शरणार्थी जहां थे भी नहीं, वहां भी हर काम के जिम्मेदार वही करार दिए गए और उनके परदे में अमन के दुश्मनों ने अपने हाथ रंगे, लेकिन शरणार्थी भी कितने बुद्धू थे ! इनको इतना होश ही न था कि अपनी सफाई पेश करते।

बहरहाल हालात की तहकीक और पास-पड़ोस के देहातियों से पूछताछ के बाद हम इस नतीजे पर पहुंचे कि पड़ोसी उन मुसलमानों के साथ हर वक्त उठने-बैठने वाले थे वे जानते थे कि मुसलमान अपना सोना-चांदी दीवारों और जमीनों में दफन करते हैं। इस कस्बे के रहने वाले बड़े मालदार लोग थे। पांच हजार तो सिर्फ मवेशी उनके पास थे, भेड़-बकरियां थीं। बेहतरीन नस्ल की भैंसें और गाय जिनका सारा दूध रोजाना दिल्ली आता था। मुसलमान गूजरों का यह कस्बा अपनी मालदारी के लिए मशहूर था। मुमकिन है जमीन और दीवारें खोदते वक्त शरणार्थियों ने भी कुछ शिरकत कर ली हो, लेकिन मेरा खयाल है यह सब कुछ उनके आने से पहले हो चुका था। और जब वे आए तो मकानों के दरवाजे और खिड़कियां तक गायब थीं छत की कड़ियां भी उतरकर हिंदू भाइयों के मकानों में पहुंच चुकी थी। रद्दी सामान बाकी था जिसे रिफ्यूजियों ने खाना पकाने के लिए ईंधन के तौर पर इस्तेमाल कर लिया। उनको भी तो अपने इंतकाम[9] की आग बुझानी थी। बिना सोचे-समझे दो-चार झोंपड़ियों में उन्होंने भी आग लगाई।

और अब इस धूप-लू से बचने के लिए पास-पड़ोस के गांव तक के दरख्त काटकर लाते हैं और इन टूटे हुए घरों की मरम्मत कर रहे हैं। इन्हीं मकानों की दुरुस्ती के लिए वे गवर्नमेंट से रुपया भी मांग रहे थे।

इर्दगिर्द इंप्रूवमेंट ट्रस्ट के प्लाट पड़े हुए थे। शरणार्थी कहते थे हमें अलाट कर दिए जाएं तो हम खुद मकान बनवा लें और हमने उसके हेडक्वार्टर में रिपोर्ट की कि जितनी जल्दी प्लाट दिलवा दिए जाएं, बेहतर होगा।

महरौली के करीब एक बहुत बड़ा गांव[10] था जिसकी आबादी पिछले दिनों आठ हजार के लगभग थी। उसके बाशिंदे दौलतमंद, तंदुरुस्त और बेहतरीन काश्तकार भी थे। यहां अलबत्ता पुख्ता[11] मकानों पर शरणार्थियों का कब्जा था और मकान सही-सालिम

---

9 बदला।

10 छतरपुर।

11 मजबूत।

थे। लेकिन कच्चे मकानों के सैकड़ों छप्पर और छतें चूल्हे में जला डाली गई थीं और अब परेशान थे कि आखिर इतने आदमी कहां रहें, कैसे रहें ? दो आलीशान मस्जिदें भी थीं और उनमें भी कई खानदान बस रहे थे।

मस्जिदों और मजारों के बारे में सारी रिपोर्ट हम 'इंखला मसाजिद कमेटी' को, जिसके सदर मेहचंद खन्ना थे, भेज दिया करते थे। यह कमेटी बापू अपनी जिंदगी ही में बना गए थे और इसी कमेटी की कोशिश से बहुत सी मस्जिदें मुसलमानों को फिर वापस मिलीं, उनकी मरम्मत हुई, मजारों की दुरुस्ती हुई। आर्कियोलाजिकल डिपार्टमेंट के सेक्रेटरी और अहरार पार्टी के एक मेंबर भी उसमें शामिल थे। जब कभी किसी बात में शक पैदा होता तो नक्शे की मदद से सबूत हासिल किए जाते थे। मैं चूंकि अब तक उनके काम में शरीक न थी इसलिए ब्योरा नहीं जानती लेकिन कमेटी की गतिविधियों और उसके उपकारों को मानती हूं। वे खतरे में पड़कर भी अपना फर्ज अदा करते थे।

दिल्ली में जमीअत-उल-उलमा के होते हुए (जो सारे हिंदुस्तान में मुसलमानों की एकमात्र जानी-मानी जमाअत है) देहातों में न मजहबी तालीम थी, न इस्लामियत, या इस्लामी कल्चर था। ब्राह्मण या राजपूत, जाट, गूजर वगैरह कौमों के लोग अपने रहन-सहन और रस्म-व-रिवाज के एतबार से किसी तरह भी देखने में मुसलमान न मालूम होते थे। मुस्लिम जाट अपनी हठधर्मी और जहालत[12] में किसी तरह भी हिंदू जाटों से अलग न थे। मजहब की तब्दीली का हंगामा हुआ तो पूरे-पूरे गांवों की शुद्धि हो गई। इस तूफान के लिए उनके पास कोई रोक न थी, कोई सहारा न था। उनमें बेशतर ऐसे थे जो कलमा तक न जानते थे और कलिमा जानते होते तब भी क्या था जब उसके मानी समझने की काबिलियत[13] ही न थी।

अच्छे भले-चंगे, खाते-पीते लोग और उनमें मिडल पास तक एक फीसदी भी न थे। कई-कई सौ बीघा जमीन और दुमंजिला मकानों के मालिक अंगूठा लगाते थे, दस्तखत न कर सकते थे।

जब मर्दों का यह हाल था तो औरतों का क्या जिक्र ? राजधानी के इर्दगिर्द जब यह हाल था तो मुल्क के दूसरे हिस्सों में जो न होता, थोड़ा था।

कयास कुन जिगुलिस्तान-ए-मन बहार मरा[14]

हमारी पार्टी नरेला इलाके के एक ऐसे गांव में भी गई जो कांग्रेस के अच्छे कार्यकर्त्ताओं की कोशिश से सितंबर में उजड़कर, नवंबर 1947 में पूरे दो माह बाद बापू के सामने ही आबाद हो गया था। लेकिन उस वक्त तक उन बेचारों को किसी तरफ से कोई इमदाद न मिली थी। स्वामी[15] का आश्रम जो मुसीबतजदों की पनाहगाह

---

12. अपढ़।
13. क्षमता।
14. इस बाग की हालत से हमारी बाहर का अंदाजा कर लो।
15. एक पुराने कांग्रेसी, आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के मेंबर।

रह चुका था आज भी बेसहारा लोगों की उम्मीदों का केंद्र था। स्वामीजी की निष्ठा और उनके साथियों की मदद से न सिर्फ उनकी जानें बचाईं बल्कि इज्जत, जान और ईमान भी बचाया। उनकी जमीनें भी वापस दिलाईं और पचास-पचास साल के मौरूसी[16] काश्तकार जो मालिकों के पक्षपात का शिकार होकर बेदखल कर दिए गए थे उनकी कानूनी इमदाद भी स्वामीजी ने की। जुल्म, जबरदस्ती और धोखे की कई घटनाएं जो स्वामीजी के पास लिखी हुई मौजूद थीं उन्होंने हमारे सुपुर्द कर दीं। उन्होंने कहा, हम थाने में भी रिपोर्ट कर चुके और सब जगह इन मामलात को ले गए मगर सुनवाई न हुई। वे भी अराजकता से बहुत परेशान थे।

स्वामीजी ने नरेला के इलाके में एक छोटा-सा आश्रम खोल रखा था। उसमें मुस्तकिल तो सिर्फ तीन-चार आदमी रहते थे लेकिन मुसाफिरों और दुखियारों का एक ठिकाना यही था। उनके दूसरे साथी पढ़े-लिखे थे, मगर स्वामीजी अनपढ़ थे। बहुत ही मेहनती, निष्ठावान, गांधीजी के सच्चे भक्त और बहैसियत इंसान के लाजवाब आदमी थे।

उन दिनों जब फसाद जोरों पर था, पड़ोस का गांव खाली होकर सारे का सारा आश्रम में उठ आया। उन सबको काफी दिन यहां रखने के बाद उन्होंने नदी पार पहुंचा दिया कि अपने रिश्तेदारों में, यू. पी. चले जाओ। ज्योंही अक्तूबर गुजरा और नवंबर आया स्वामीजी और उनके दूसरे साथी अपना वादा पूरा करने के लिए बेचैन हो गए। बापू से सलाह लेकर वे सारे पनाहगुजीनों को बुला लाए। पांच महीने तक किसी तरफ से उनको बिल्कुल मदद न मिली। सबका बोझ अपने बूढ़े कंधों पर उन्होंने खुद उठाया।

हम लोग भी उनकी कुछ ज्यादा मदद न कर सके। बस मामूली-सी माली इमदाद और थोड़ा दूसरा सहयोग, बाकी सब मसले उन्होंने खुद हल किए। इसी आश्रम में दो माह तक छिपाकर एक मुसलिम लड़की नायर जी[17] मेरे पास पहुंचा गए थे। ऐसी घटनाएं न मालूम कितनी घटी होंगी, मगर वे अपनी तारीफ कब कराना चाहते थे। वे तो खामोश काम करने वाले थे, जो हर काम अपना फर्ज समझकर पूरा करते थे।

लड़कियों को आश्रम में छिपाना, फिर उनको हिफाजत के साथ रिश्तेदारों तक पहुंचाना सिर्फ स्वामीजी की हिम्मत थी। विरोधियों के घेरे में भी उनकी हिम्मत कम न होती थी। मेरे साथ भी कई जगहों का दौरा उन्होंने किया और अपना तो लगभग सारा इलाका हमें उन्होंने दिखाया। मैं जलसों में उनके भाषण सुनकर दंग रह गई। अपनी देहाती जबान में वे कानून, राजनीति, अंतर्राष्ट्रीय स्थिति और धर्म—सब पर अपनी कुदरती काबिलियत की बदौलत रोशनी डालते थे। सुथरे खयालात, उच्च स्तर और

16. पीढ़ी-दर-पीढ़ी

17. स्वामीजी के दूसरे साथी मि. कृष्ण नायर दिल्ली के एक समाजी और सियासी ओहदेदार, बाद में दिल्ली से पार्लियामेंट के मेंबर भी चुने गए।

सही राय रखते हुए भी वह बड़ी सादगी से अपने को अनपढ़, मूर्ख कहा करते थे। उनसे मिलकर और फिर कुछ और सच्चे कांग्रेसियों को मैं देखकर पुकार उठी कि फिर इंसान निकले तो यहीं से ! बापू का किया धरा अकारथ नहीं हुआ उन्होंने बंजर जमीन नहीं छोड़ी है, इक्का-दुक्का सायादार दरख्त भी उगा गए हैं जिनके तले जिंदगी के थके-हारे लोग आज भी आराम हासिल कर सकते हैं। जब बचा-खुचा देने का वक्त आया तो बापू ही की गुदड़ी से जवाहर चमकते हुए दिखाई दिए।

हमें वे देहात भी दिखाए गए जहां ऐसे लोग जमीन-मकान के मालिक थे जिनके पास पूर्वी पंजाब में भी जमीनें और मकान थे और मुसलमानों की छोड़ी हुई जमीनों में से उनको उस गांव में भी हिस्सा दिया गया था। वे पूर्वी पंजाब के रहने वाले थे, मगर उनके कुछ बाग पाकिस्तान में भी थे और वे अब उनसे महरूम हो गए थे इसलिए दिल्ली सूबे की मुस्लिम जायदाद से उनको नुकसान का मुआवजा दिया गया था।

ये लोग फसल पर आते थे। कटाई-जुताई करने के बाद सब अनाज बेच-बाचकर रुपया लेते और पूर्वी पंजाब वापस चले जाते। उस गांव की 1600 बीघा जमीन का ज्यादातर बटवारा ऐसे ही शरणार्थी मुसीबतजदों को हुआ था। पास के एक दूसरे गांव में कृषि विभाग[18] के एक मेंबर को 8 हजार बीघा जमीन अलाट की गई थी। हमारी तो उससे मुलाकात न हो सकी लेकिन लोगों ने बताया कि जंगल की हजारों रुपए की लकड़ी बेचकर मोटी रकम उसने हासिल की है और इन दिनों कहीं गया हुआ है।

मुश्किल यह थी कि स्थानीय लोग और शरणार्थी दोनों अपने-अपने मामलात अलग ही अलग तय कराना चाहते थे और कुछ सूरत भी ऐसी पैदा हो गई थी कि एक महकमा दूसरे की दिक्कतों का बिल्कुल लिहाज न करता था। इसलिए वे भी समझते थे कि हमारा महकमा, हमारा हाकिम और हमारा मामला सब जुदा है। हम एक दूसरे से मिलकर क्यों फैसला कराएं और किसलिए एक दूसरे का लिहाज करें ?

बहरहाल सब कुछ देखते-भालते 15 जून भी गुजर गया। सरकार कील-कांटे से लैस थी और कार्यकर्ता स्थिति का सामना करने के लिए बिल्कुल तैयार थे। दुश्मनों की कुछ न चली। सब कुछ खैरियत से गुजर गया। हम सबने इत्मीनान की सांस ली और फिर जून भी इसी हमाहमी और दौड़-धूप में खत्म हो गया।

लेकिन वे झगड़ालू तत्त्व जो 15 जून को अपना मकसद पूरा न कर सके थे ऐसी अव्यवस्था और बेचैनी पैदा कर देना चाहते थे कि लोग अपने आप भागने लगे। इसलिए अब फिर दुबारा मस्जिदों और मजारों की खुदाई शुरू हो गई और शहर में मकान हासिल करने के बहाने दंगे भड़काए जाने लगे। 'शांतिदल' की बैठकें जल्दी-जल्दी होती थीं और हम सब मिल-बैठकर यही सोचते थे कि वह कौन-सी साजिश है जिसे हमें बेनकाब करना है। यह बराबर हो रहा था कि किसी गांव में जाकर खाली पड़ी हुई जमीन या

18. केंद्र सरकार के।

ऐसे खेत, जिन पर स्थानीय निवासियों ने कब्जा कर लिया हो, हम उसके असली मालिक को वापस दिलाने की कोशिश करते और फौरन विरोधियों को पता लग जाता। जब तक हम मालिक को लेकर पहुंचे, वहां ट्रक भरकर शरणार्थी रवाना कर दिए जाते और फिर मालिक के लिए कोना भी खाली न रह जाता।

देहातों में स्कूल बंद थे, बेकारी आम थी और खेत बंजर पड़े थे। यह तो सरकार ही जानती होगी कि इस आपाधापी में कितना माली नुकसान उसका हुआ और कितनी जमीन थी जिसकी दो फसलों का लगान वित्त मंत्रालय के अधिकारी वसूल न कर सके। लेकिन हमारा अंदाजा था कि उस साल आधी से भी कम आमदनी हुई होगी। और इसीलिए हमारी और भी ख्वाहिश थी कि किसी तरह नई फसल बोने वाले गांव में पहुंचा दें, लेकिन मुश्किल यह थी कि हर आदमी किसी दूसरे की चीज और जमीन पर काबिज[19] था और वह सारी पुरानी व्यवस्था टूट-फूट चुकी थी और लुटेरे[20] न सरकार को कुछ देना चाहते थे, न शरणार्थी को और न मालिक को।

गवर्नमेंट अगर चाहती तो बड़ी आसानी से दिल्ली प्रांत में साझे की खेती का तरीका चालू कर सकती थी। सारे गांव को मिलाकर एक सामूहिक या पंचायती संगठन बना लिया जाता और उसमें मुस्लिम पनाहगुजीन, पंजाबी शरणार्थी, और अगर मान जाते, तो स्थानीय जमींदार सब शामिल कर लिए जाते। मेरा खयाल है न मानने की कोई वजह न थी। जब सरकार जमींदारी छीनेगी तब वे आखिर मानेंगे ही, इस वक्त क्यों न राजी हो जाते। मगर व्यवस्था करने वाले इस पर राजी न थे।

मुसलमानों की छोड़ी हुई जमीनें बजाए इसके कि किसी को एक हजार बीघा अलाट हो, किसी को दस बीघा या दो बीघा दी जाए और किसी को यों ही दुतकार दिया जाए अगर उसी सारी जमीन पर कब्जा करके सामुदायिक फार्म बन जाता तो एक नया प्रयोग भी हो जाता और यह आसानी भी रहती कि अगर मालिक वापस आए तो उसे भी समुदाय में शामिल करके उस कुल का एक अंश बना लें। मालिक भी समझता, भागते भूत की लंगोटी भली, चलो जो कुछ मिल जाए गनीमत है, भूखों तो न मरेंगे।

मैं बार-बार कहती थी कि हमारी मांग यही होनी चाहिए। लेकिन एक तरफ तो कस्टोडियन का महकमा और पुनर्वास वाले इस पर तुले हुए थे कि इसी सफाई से जमीनें अलाट होती रहेंगी और दूसरी तरफ हमारे साथी जो इस डर से कहीं यह प्रयोग सफल हो गया तो उन सबके मिल्कियत के हक पर भी चोट पड़ेगी, इस पर अड़े हुए थे कि जमीन अलग-अलग रिफ्यूजियों को अलाटमेंट भी हो और जब मालिक आ जाएं तो

---

19. कब्जा किए हुए।
20. अफसरों के सामने वे इकरार ही न करते कि कोई चीज उनके कब्जे में है और हम लोगों पर यह धौंस जमाते कि यह सब हमारा है। उनमें सब स्थानीय हिंदू जमींदार थे।

उसी तरह उनको वापस भी दी जाए। उनका नजरिया यह था कि जिसका हक हो उसे मिलना चाहिए। राज्य के इस हक को कि जमीन जिस तरह चाहे बांटे, उनका जमींदारों का-सा दिमाग मानता ही न था और अगर वे मान जाते तो भी यह कब उम्मीद थी कि हमारे प्रस्ताव पर अमल हो जाएगा और सरकार भी मान लेगी ?

मुझमें खुद न योग्यता थी, न इतनी जानकारी कि जिसके बल पर उसकी आर्थिक बारीकियों में पड़ती। इसलिए अपनी अयोग्यता देखकर यही बेहतर मालूम हुआ कि उन अनुभवी लोगों पर मामला छोड़ दूं। वे जिस तरह करा सकते हों मामलात तय करा लें। और सच्ची बात यह है कि अपने नजरिए और रूढ़िवादी सिद्धांतों पर चलकर उन्होंने बहुत कुछ करा लिया, मैं आधुनिकता को लिए बैठी ही रहती।

महरौली में एक गांव शेख सराय भी था। यहां के सब मुसलमान सितंबर में मारे गए या भाग गए थे, कुछ अब तक दिल्ली में ठहरे हुए थे। उनकी अर्जी जब हमारे पास आई तो हमने जाकर उसे देखा। उस वक्त वहां एक हजार और दो हजार के बीच शरणार्थी बस रहे थे। और सेंट्रल रिलीफ कमेटी की तरफ से कोआपरेटिव स्कीम के मुताबिक वहां पुनर्वास का काम हो रहा था। प्राविंशियल कांग्रेस कमेटी के एक मेंबर की निगरानी में यहां सरकारी खेत, बुवाई-कटाई और निर्माण कार्य और इमारती सामान की तैयारी सब कुछ हो रहा था।

गांव में कच्चे मकान अब भी खाली थे। हालांकि जैसा दूसरी जगह हुआ था छप्पर वगैरह यहां भी बाकी नहीं रह गए थे, मगर कोई तोड़फोड़ नहीं हुई थी, न आग लगाई गई थी। हमने मेंबर साहब से कहा कि बेहतर यही होगा आप मुस्लिम पनाहगुजीनों को भी सोसाइटी में शामिल कर लीजिए। अगर स्थानीय हिंदू भी मिल जाते तो क्या कहना था। लेकिन वे शायद ही अपनी मिल्कियत[21] से वंचित होना पसंद करें, इसलिए आप हिंदू और मुस्लिम पनाहगुजीनों को मिलाकर अपनी स्कीम चलाइए। मैं मुसलमानों को इस पर राजी कर लूंगी। वे तैयार हो गए और इस प्रस्ताव को पसंद किया।

लेकिन मुझे और उन्हें दोनों को अपने साथियों के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। हम कहते थे मौका है, एक प्रयोग जरूर कर लिया जाए। सवाल सख्त था लेकिन मैंने दिल मजबूत करके यहां तक कह दिया कि मुसलमानों को अगर इसमें नुकसान भी हो जाए तो मुझे अफसोस न होगा, हालांकि नुकसान होने की कोई वजह नहीं थी। काम अगर मेहनत और दियानतदारी[22] से किया जाता, प्रांतीय और धार्मिक पक्षपात न बरता जाता तो निश्चय ही यह प्रयोग दोनों के लिए फायदेमंद साबित होता।

एक पनाहगुजीं इस प्रोग्राम के कर्त्ता-धर्ता और व्यवस्थापक थे। उनसे भी हमने इस मसले पर बात की। उन्होंने लापरवाही, तिरस्कार और अनिच्छा से उस प्रस्ताव

---

21. स्वामित्व।
22. ईमानदारी।

को सुना। हमारे साथियों ने जो कारण और अंदेशे पेश किए थे वे भी गलत न थे। न रिफ्यूजी मुसलमानों को साथ लेने पर तैयार होते, न कार्यकर्ता इतने उदार थे कि दोनों को एक नजर से देखने पर तैयार होते। मेरी कुछ न चली और मुसलमान आज तक शहर में पड़े हैं। उनकी जमीनों और मकानों में लोग रहते हैं, हल चलते हैं, फसल तैयार होती हैं। उनकी जमीनों और मकानों में लोग रहते हैं, हल चलते हैं, फसल तैयार होती है और वे हसरत भरी निगाह से उन्हें कभी-कभी जाकर देख आते हैं। और अब तो वे जाना भी नहीं चाहते। उन्होंने नौकरी और कारोबार वगैरह करके अपनी गुजर-बसर का सामान भी कर लिया है। वहां उनका है भी क्या ? एक खुदा हुआ कब्रिस्तान और एक बुजुर्ग के मकबरे के खंडहर अब तक उनकी मिल्कियत हैं। बुजुर्ग की यह आरामगाह तोड़-फोड़कर गधों के रहने की जगह बनाई गई थी। हमारी पार्टी जब वहां गई तब भी वहां गधे मौजूद थे। मुझसे तो रंज के मारे कुछ कहा नहीं गया, लेकिन मेरे साथियों ने गांववालों को डांटा, लानत-मलामत की और गधे वहां से निकलवाए और आइंदा के लिए सख्त चेतावनी दी। फिर लाला मेहरचंद खन्ना गए और उन्होंने देखभालकर शायद उसकी मरम्मत भी कराई। मैंने तो फिर उधर का रुख ही न किया।

चिराग दिल्ली उससे बिल्कुल मिला हुआ था और वहां भी वही हाल हो चुका था, सिर्फ हजरत रोशन चिराग दिल्ली रहमतुल्लाह अलैह[23] का मजार सलामत था। गांव के बूढ़े हमें देखकर आ गए। वे रंजीदा थे, उनमें से एक ने कहा :

साहब यह वह दरगाह है जिससे हमेशा हमारे बाप-दादा को और फिर हमें अकीदत (श्रद्धा) रही। नई फसल, नई शादी और नया बच्चा लेकर हम इस दरगाह को नज्र-ए-अकीदत[24] पेश करने आया करते थे। वह सारा गांव इस दरगाह के लिए ही था। इस शहरपनाह[25] के अंदर सिर्फ मस्जिद थी, दरगाह थी और दूसरे मजार वगैरह थे। खुद्दाम[26] और मुजाविरों[27] के सिवा यहां की सारी आबादी अहाते से बाहर थी।

एक मरबता[28] हजरत नसीरुद्दीन चिराग दिल्ली के एक हिंदू चेले को उनकी गद्दी पर बिठाया गया था। फिर शायद 1857 ई. में या उससे पहले नादिरशाह के कत्लेआम के दिनों में बाहर की आबादी भागकर शहरपनाह के अंदर चली आई और तब से हिंदू-मुसलमान यहां बस रहे थे। अबकी जो फसाद हुआ उसमें यहां संघ का जोर बहुत बढ़ गया तो नौजवानों ने हमारी एक न सुनी। मुसलमान तो बस भाग गए और उन्होंने दरगाह और उसके पास की हर इमारत को तोड़ा-फोड़ा, तबाह किया। गुंडों ने मजार के इस वजनी

---

23. उन पर अल्लाह की रहमत हो।
24. श्रद्धांजलि।
25. शहर की चारदीवारी।
26. सेवक।
27. कब्रों की देखभाल करने वाले।
28. बार।

पत्थर को उठाने की बहुत कोशिश की। मगर वे किसी तरह इसको खिसका न सके।[29]

मजार के ऊपर वे मोटी संगमरमर की सिलें एक दूसरे से जुड़ी हुई थीं। उनको बड़ी मुश्किल से एक बालिश्त[30] एक दूसरे से जुदा किया जा सका और फिर थककर उन्होंने मकबरे के फर्श पर गुस्सा उतारा। उसके टाइल टुकड़े-टुकड़े कर दिए। नक्काशीदार छतगीरी का शीशा और खूबसूरत पेंटिंग बरबाद की। दूसरी कब्रों को हथौड़ों से चकनाचूर किया, फावड़ों से उखाड़कर मलबे के ढेर लगा दिए। मस्जिदों में इस वक्त शरणार्थी ठहरे हैं। दरगाह से सटी दूसरी इमारतों पर गांववालों का कब्जा है।

एक बूढ़े ने कान में झुककर कहा—यहां गुंडा पार्टी बहुत है, इसका तो कुछ बंदोबस्त करो। और यह सब कुछ सुनाकर उन्होंने हमें बताया कि बमुश्किल इस दरगाह का फर्श, फानूस, चादरें और झाड़ वगैरह हमने बचा ली है, जो अमानत के तौर पर रखी हैं। जिस वक्त कहो हम तुम्हारे हवाले कर दें। क्या करें साहब, कुछ नौजवान हमारे यहां ऐसे हैं जिन पर हमारा वश नहीं चलता।

हमारे ब्राह्मण साथी कहा करते थे, "मैं आपको बता दूं आपाजी, हिंदू का बच्चा कभी कब्र पर हाथ नहीं उठा सकता।" लेकिन यह हकीकत देखकर वह बिल्कुल सन्नाटे में रह गए। यहां तो बहुत ही कम रिफ्यूजी थे और वे भी चंद दिन हुए आए थे। उस वक्त तो बेचारे मीलों दूर थे। सिख तो इक्का दुक्का ही थे।

दरगाह का पांच सौ बरस पुराना बिरंजी दरवाजा, सुनहरा कलस और कीमती सामान लुट चुका था। लेकिन उन बूढ़ों ने ही हमें बताया कि कोई चीज इलाके से बाहर नहीं गई। आप कोशिश करें तो सब चोरों के घर से बरामद हो सकता है।

तकरीबन आठ माह की कोशिश के बाद पुलिस ने पास-पड़ोस के गांवों से वे चीजें बरामद कराईं और कुछ जमाने का रंग और सरकार के डर से लोगों ने खुद लाकर दरगाह में चुपके से रख दीं।

हमारे साथ पंडित सुंदरलाल थे। इस इलाके में भी उनके भरोसे पर हमने बड़े जलसे का ऐलान कर दिया और उन्होंने पूरे तीन घंटे तक सियासत, मजहब, रिवाज, इतिहास और हिंदुस्तान व पाकिस्तान के चश्मदीद वाकिआत[31] पर भाषण दिया। खूब खरी-खरी सुनाई। लोग भन्ना उठे। मगर जल्द ही उन्होंने रुख बदला—खुद भी रोए, दूसरों को भी रुलाया और जिस वक्त लोगों की आंख से आंसू गिरने लगे तो उन्होंने कोई चुटकुला छोड़ दिया कि रोने वाले बेइख्तियार[32] हंस पड़े।

---

29. मजार बिल्कुल सुरक्षित रहा, उसे कोई नुकसान नहीं पहुंचा सके। उपद्रव करने वालों में ज्यादातर स्थानीय नौजवान थे, इक्का-दुक्का शरणार्थी भी। अलबत्ता गुंबद की ओर आसपास की सारी आईनाबंदी और मीनाकारी को तोड़कर खत्म कर दिया गया।

30. बित्ता।

31. आंखों देखी घटनाएं।

32. विवश होकर।

विरोध में सवाल पूछे गए। हलकी-हलकी बेचैनी की आवाजें आईं और शुरू में थोड़ी हंगामे की-सी स्थिति भी महसूस हुई। लेकिन फिर सुकून हो गया जो आखिर तक कायम रहा।

उस जलसे में जाजू जी भी थे।[33] उन्होंने बड़ी तरकीब से कुछ ऐंडे-बैंडे सवाल किए और जब दिल में छिपा हुआ चोर निकाल लिया तो सादे लफ्जों में ठोस हकीकत समझाई। उनमें बड़ा जबरदस्त धीरज था, न घबराहट, न तेजी, न जोश। शुरू से लेकर आखिर तक एक ही मूड उन पर रहता था। बजाहिर देखने में बिल्कुल उदासीन से बैठे हैं मगर कान और आंखें ऐसी खुली रखते थे कि श्रोताओं की कोई हरकत, यहां तक कि चेहरे का उतार-चढ़ाव तक भांप लेते थे।

देहातों और कस्बों के बड़े जलसों में हमें उन दोनों से जो कीमती इमदाद मिली, हम उसे भूल नहीं सकते। कुल मिलाकर उन दोनों बुजुर्गों ने सूबे के देहातों पर बड़ा गहरा असर डाला और राष्ट्रीयता की संकल्पना को उजागर करने में उनकी मदद अगर हमें हासिल न होती तो शायद हमें उसकी आधी कामयाबी भी न मिल पाती।

आखिरकार ऐसे हालात पैदा हो गए कि बूढ़ा खादिम नियाज अली अकेला दरगाह में रहने लगा और फिर उर्स के दिन दिल्ली से लारियां भर-भरकर लोग आए मगर किसी को न एतराज हुआ, न बुरा लगा। हमारे अनुरोध पर कुछ स्थानीय लोगों ने मकान खाली कर दिए और हम यू. पी. और दिल्ली से चिराग दिल्ली के रहने वालों को इकट्ठा करके दरगाह के करीब बसा देने का इंतजाम कर ही रहे थे कि एक दिन मालूम हुआ कि शरणार्थी वहां जा रहे हैं और दो-तीन दिन के अंदर मस्जिद से लेकर उन मकानों तक एक आदमी की भी जगह खाली न छोड़ी गई जो खादिम के अलावा दो-चार आदमी भी हम भेज सकते।

मुझे बिल्कुल अफसोस न होता अगर शहर के दरवाजों, फुटपाथ या टूटी कब्रों में जिंदगी के दिन काटने वाले शरणार्थियों को भी सर छिपाने का ठिकाना मिल गया होता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वे बेचारे तो पड़े हैं और पता नहीं कब तक यों ही पड़े रहेंगे। प्रांतीय पक्षपात और तरफदारी, रिश्तेदारी या दोस्ती का लिहाज किए बगैर तो हमारे मुल्क में कोई एक कदम भी नहीं उठा सकता।

अगर अधिकारी इस मामले में हमें थोड़ा-सा मौका दे देते और हमारी नेक-नीयती पर भरोसा करते तो स्थानीय हिंदुओं से सारे मकान वापस लेने के बाद वे चार-पांच खानदान जो दिल्ली में मौजूद थे हम जरूर बसा देते। लेकिन उन चंद मुस्लिम खानदानों के पड़ोसी सब शरणार्थी ही होते क्योंकि मुसलमान इतने बाकी ही कहां थे जो सब मकानों पर कब्जा करते। बाकी जितने मकान थे वे वहीं के लोगों के कब्जे से निकाल

33. हमारे साथ चिराग दिल्ली जाने वालों में उस दिन 'मिलाप' के एडीटर खुशहाल चंद 'खुरसंद' भी थे जो बाद में संन्यास लेकर महात्मा आनंद स्वामी बने।

कर हम खुद रिफ्यूजियों को देना चाहते थे। और इस तरह कच्चे मकान भी आबाद हो जाते। लेकिन उन्हें हम पर भरोसा कब था, और न हमें इन पर था।

ऐसा मालूम होता था जैसे हम किसी और मुल्क और किसी दूसरी सरकार के लिए काम कर रहे हैं और वे किसी दूसरी के लिए। हमारा मकसद भी इसके सिवा और क्या था कि देश में शांति-चैन कायम करके अपनी नई सरकार को मजबूत बनाएं। वे चीजें और वे बातें जिनसे सरकार की बदनामी और बेहज्जती होती है, उसे नुकसान पहुंचता है, उनको मिटाने की कोशिश करें और मुल्क की आपाधापी का किसी ढंग से इलाज सोचें, दुखियारों की मदद करें।

और जहां तक मेरा खयाल है कि अफसरान भी यही सब सोचते होंगे। उनके फर्ज में भी यही सब शामिल होगा और वे भी मुसीबतजदों की मदद करना चाहते होंगे। लेकिन वे हमें अपना हरीफ[34] और दुश्मन समझते थे और हम उन्हें। न हम अपनी बात का पता उनको लगने देते, न वे कभी हमसे सलाह लेते। खुद कांग्रेसियों को शिकायत थी कि उनकी अपनी पार्टी की सरकार है और उनसे ऐसा बर्ताव किया जाता है जैसे वे फिफ्थ कालमिस्ट हैं।

हम चाहते थे कि इमदाद और बहाली के महकमे के साथ मिलकर शांति का प्रचार करें। और उनके फायदेमंद कामों में मदद दें या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तालीमी प्रोपेगंडा हमसे कराएं तो ये स्कूल और मदरसे फिर से जारी हो जाएं या स्वास्थ्य विभाग को देहातों की सही रिपोर्ट दें और वह उन पर ध्यान दे ताकि समाज सुधार भी साथ-साथ जारी रहे। लेकिन न उनको तवज्जो करने की फुरसत थी, न हमें इतना मौका था कि उस प्रोग्राम पर अमल कर सकें और यह सब सिर्फ कल्पना और प्रस्ताव की हद तक ही रहा।

रमजान करीब आ रहा था। हमारे मुसलमान कार्यकर्ता फिक्र में थे कि वे इतनी दौड़-धूप उस महीने में भी जारी रख सकेंगे या नहीं। जो जलसे कांस्टीट्यूशन हाउस में होते थे उनमें कभी-कभी मृदुला अफसरों को भी बुला लिया करती थीं। उन्होंने स्थिति को देखकर और सारे कार्यकर्ताओं की रिपोर्ट सुनकर यह तय किया था कि अफसरों से मिलकर मामलात का तसफिया[35] करना जरूरी है। अगर हम जनता को सही रास्ते पर लाना चाहते हैं तो उसके लिए लाजिमी[36] है कि पहले नौकरशाही को अपनी निष्ठा का विश्वास दिलाकर उनका भी सहयोग हासिल कर लें। ये सभी मुलाकातें दोस्ताना वातावरण में होती थीं। खुले दिल से शिकायतें उनके सामने रखी जातीं, उनके खराब असर और नतीजे बताए जाते और यह उम्मीद पड़ती कि अब इनका तोड़ हो जाएगा। लेकिन हमें अभी कोई खास कामयाबी न हुई थी। अलबत्ता तकरीबन हर महकमे में

---

34. विरोधी।
35. सुलझाना।
36. आवश्यक।

से हमने भले लोगों और दियानतदार अफसरों की नैतिक सहायता हासिल कर ली थी। उनकी नेकियां और इंसानी अच्छाइयां भी हमारे बार-बार उकसाने पर उभर आई थीं। लेकिन इनकी तादाद इतनी थोड़ी थी और इंतजामी मामलों में उनका हाथ इतना कम था कि हमें कोई फायदा न पहुंच सका।

हमें अंदेशा हो रहा था कि शोर-शराबा कम होने और शांति कायम हो जाने के बाद अब जो ये मजारों और मस्जिदों को ढहाने का सिलसिला दुबारा शुरू हुआ है, उसकी तह में वही साजिश काम कर रही है जो हमारी गतिविधियों और सरकार की तैयारियों की वजह से 15 जून को नाकाम हो चुकी है। और यह शुब्हा सही साबित हुआ।

हम महसूस कर रहे थे कि केंद्रीय सरकार और स्थानीय प्रशासन में जरा तालमेल वाजबी[37] ही वाजबी है और इसलिए हमारी पार्टी ने यह तय कर लिया कि हमको जनता और सरकार दोनों के लिए काम करना है। जनता और अधिकारियों दोनों की कानून विरोधी कार्रवाइयों का रिकार्ड हमें रखना चाहिए ताकि अपनी गवर्नमेंट को सही हालत बता सकें और उसे मजबूत, आजाद और लोकतंत्री बनाने में हम भी राष्ट्रवादियों का हाथ बटाएं।

मैं भला उन कामों में क्या हिस्सा ले सकती थी ? न इतनी योग्यता न अनुभव। हलका-फुलका काम मैंने भी अपने सर लिया। यों समझिए दुम पकड़कर पांचवें सवार में शामिल हो गई और देहातों की दौड़-धूप में जो कुछ देखा वह आप सबको सुना रही हूं। बहुत से राज थे, बहुत सी कोशिशें थीं और बहुत सी खुफिया कार्रवाइयां थीं। जिनकी जानकारी मुझे थी क्योंकि हर कार्रवाई में तकरीबन शरीक रहती थी। लेकिन उनका ब्योरा न उस वक्त मुझे याद है, न मेरे पास सारे कागजात मौजूद हैं। यह तो जब कभी इतिहासकार तलाश करेगा तो 'शांतिदल' का रिकार्ड बताएगा कि इस छोटी-सी कमजोर संस्था ने दिल्ली की अंदरूनी दुरुस्ती और सरकार को मजबूत बनाने के लिए अपनी बिसात भी क्या कुछ कर डाला। किसी तरह धीरे-धीरे सरकार के हर विभाग में घुसकर कूड़े-कबाड़ में से उसने मोती चुने और किस तरह तोड़फोड़ करने वाली ताकतों को हार मानने पर मजबूर कर दिया।

कोई शक नहीं कि इसमें मृदुला की दीवानगी और सरफरोशी का बड़ा हाथ था, बल्कि वहीं एक दिमाग था जो उस वक्त पार्टी पर छाया हुआ था। उसका एक पैर हिंदुस्तान में था, एक पाकिस्तान में। एक ही बार में न मालूम कितने झगड़ों में अपने आपको मृदुला ने फंसा रखा था ? एक क्षण के लिए भी मैंने पक्षपात, प्रांतीयता, तरफदारी या औरत और मर्द के फर्क का गुजर मृदुला के पास से न था। और कभी-कभार जब औरतों को तस्कीन देने के लिए वह कहतीं, "मैं भी तो औरत हूं, हमें तो औरतों में काम करना ही चाहिए" तो हम एक दूसरे का मुंह देखने लगते। ऐसा लगता जैसे यह अजनबी आवाज है।

---

37. उचित।

16. मजार और मस्जिदें

जुलाई में हमारे पास बस्ती निजामुद्दीन के एक कार्यकर्ता आए[1]। और उन्होंने बताया कि तीन-चार दिन से बस्ती की दीवार से बाहर मैदान में खुदाई हो रही है जो शहरपनाह से मिला हुआ है। वहीं कब्रिस्तान भी है और दो-तीन कब्रें तोड़ी जा चुकी हैं। सुना है उस जगह टेक्निकल इंस्टीट्यूट बन रहा है इसलिए जमीन बराबर की जा रही है।

उन्होंने यह भी बताया कि जिस वक्त सरकार के एक मंत्री मौके पर आए तो स्थानीय शांतिदल कमेटी के इंचार्ज ने उस ओर ध्यान दिलाया और उन्होंने उसी समय लाल झंडियां कब्रों के निशानों पर लगवा दी हैं लेकिन आसार ऐसे नजर आ रहे हैं कि यह शरारत बंद न होगी। पी. डब्ल्यू. डी. के मजदूर और वालंटियर फावड़ा चला रहे हैं।

दूसरे दिन मैं देखने गई तो पाया कि वाकई कई जगहों पर लाल झंडियां लगी हुई थीं। कई ट्रक खड़े हुए थे, एक बड़ा दल जमीन बराबर कर रहा था। कोई फावड़ा चला रहा था, कोई मिट्टी उठा रहा था, कुछ इधर-उधर फिर रहे थे। सहायता और पुनर्वास विभाग और पी. डब्ल्यू. डी. के अफसर और स्टाफ वहां मौजूद थे और खुद सूबे की गवर्नमेंट का एक जिम्मेदार अधिकारी[2] भी उस काम में हिस्सा ले रहे थे। मालूम नहीं क्यों वे मेरे आने की खबर सुनकर खेमे में चले गए। मैंने उनको देखा भी नहीं लेकिन मेरे साथी ने बताया, शायद वे मिलना नहीं चाहते। उस समय खुदाई एक कब्र के ऊंचे ढेर की भी हो रही थी। निजामुद्दीन के एक जिम्मेदार साहब[3] मेरे साथ थे। उन्होंने दिखाया और कहा कि हमारे विरोध पर अफसरों ने इस जगह काम बंद करवा दिया था। इंजीनियर साहब को बुलाकर उन्होंने मुझे वह नक्शा भी दिखाया जिसमें 17 जगहों पर मिनिस्टर साहब झंडियां लगवा गए थे, लेकिन झंडियां जब गिनी गईं तो उस वक्त कुल 13 निकलीं। खैर, हमारे कहने से उस वक्त फिर उन्होंने दुबारा चार और लगवा दीं और मैं कह-सुनकर वापस चली आई।

---

1. हकीम सैयद हसन।
2. डिप्टी कमिश्नर।
3. सैयद मुहम्मद मियां निजामी।

बस्ती के लोगों को हमने इत्मीनान दिलाया कि कोई हर्ज नहीं, अगर टेक्निकल इंस्टीट्यूट बन रहा है, उससे तुम्हारा नुकसान नहीं, फायदा होगा। एक साहब बोले कि अरब सराय खाली पड़ी है, उसमें तो कोठरियां भी हैं। अगर ये लोग चाहें तो उसको ठीक करके रिहायश के लायक बन सकते हैं। इन कब्रों में क्या रखा है जो इस तरफ इतनी तवज्जो कर रहे हैं ? कब्रिस्तान की हद छोड़कर जो चाहें सो करें, हमें कोई एतराज न होगा।

बाहर यह किस्सा हो रहा था, अंदर बस्ती के मुसलमानों ने बिस्तर-बोरिया लपेटना शुरू कर दिया क्योंकि कस्टोडियन को भी सर्वे करने की उसी वक्त सूझी। दरगाह के सबसे बड़े जिम्मेदार बुजुर्ग ने थैले में कपड़े डाले और दूसरे दिन मेरे पास दौड़े आए कि मुझे हवाई जहाज का टिकट दिलवा दीजिए या फिर इस हालत को खत्म कराइए। जब दरगाह के सारे अहाते पर कब्जा हो जाएगा तो हम रहकर क्या करेंगे ?

मैंने चीफ कस्टोडियन[4] साहब से पूछा। ये साहब अभी नए आए थे और पिछले जमाने की कानून के खिलाफ कार्रवाइयों के बाद उनके आने से कुछ उम्मीद बंधी थी कि शायद हालात सुधरे। बहरहाल मैंने उनको बताना चाहा कि देहातों के भागे हुए मुस्लिम पनाहगुजीं दरगाह से सटे हुए खाली मकानों में आबाद हैं, बाकी में मुजाविर[5] रह रहे हैं, कुछ हिस्सा मेहमानों और फकीरों के लिए रखा गया है। दरगाह में सारी इमारतें वक्फ हैं और वक्फ की जायदाद आपके इख्तियार से बाहर है। बुजुर्ग[6] खुद हिज्रत[7] नहीं कर सकते और इसलिए यह हिज्रत करने वालों की जायदाद नहीं हो सकती। सर्वे गलत हो रहा है।

उन्होंने जाहिर किया कि उन्हें इसकी कोई जानकारी नहीं और कहा कि मैंने ऐसा कोई हुक्म नहीं दिया है। इस सिलसिले में नामुनासिब होगा अगर मैं एक साहबजादे का जिक्र न करूं जो पाकिस्तान जाने वाले गुडविल मिशन में शिरकत के लिए तशरीफ लाए और बदकिस्मती से यहां आते ही बीमार पड़ गए। गुडविल मिशन तो शायद फिर नहीं जा सका, अलगढ़ यूनिवर्सिटी के कुछ छात्र यह मिशन लेकर पाकिस्तान जा रहे थे, वे क्यों रुक गए यह मुझे मालूम न हो सका। लेकिन उसके एक बीमार मेंबर तकरीबन[8] एक माह हमारे यहां रहे और जब तंदुरुस्त हो गए तो उसको बार-बार फोन करते देखकर मैंने सवाल किया कि भई तुम यहां बैठकर कोई नया प्रोग्राम बना रहे हो क्या ? कहने लगे बिजनेस की सोच रहा हूं।

चंद दिन बाद वह हमारे यहां से चले गए और कांस्टीट्यूशन हाउस में कमरा

---

4. शंकर शरण जी जो उत्तर प्रदेश से बुलाए गए थे।
5. दरगाह के खिदमत गुजार।
6. यानी हजरत निजामुद्दीन औलिया।
7. देश त्याग।
8. बाद में मुझे मालूम हुआ वे मुस्लिम नेशनल गार्ड के मेंबर थे। नाम याद नहीं, उस्मानी कहे जाते थे।

लेकर रहने लगे। बहुत से लड़के-लड़कियां उनके पास इकट्ठे थे और उनमें से चंद आदमी कभी-कभी शांति दल के दफ्तर में भी आ जाया करते थे। पता नहीं क्यों मुझे उनसे सख्त उलझन होती थी। मैंने दफ्तर वालों पर एतराज किया कि अजीब-अजीब सी चीजें तुम्हारे दफ्तर में आती हैं और तुम ऐसे लोगों को जिन पर शुब्हा हो सकता है देर तक यहां ठहरने की इजाजत भी दे देते हो। मैं इस दल से मुतमइन नहीं हूं, इसलिए बेहतर होगा अगर आम उसूल बना लो कि उन लोगों को, जिनसे हमारा कोई वास्ता नहीं, यहां न बैठने दो।

एक रोज बहुत भारी भीड़ देखकर मुझे जिज्ञासा हुई और उस तरफ चली गई। बंबई की एक नौजवान ईसाई लड़की जिससे साहबजादे ने राह चलते मेरा परिचय कराया था उस समय मौजूद थी। जूतों का बहुत बड़ा ढेर कमरे के दरवाजे पर देखकर माथा ठनका कि जरूर आज कोई बात है। लड़की ने बताया :

''आज हमारे यहां इंटरव्यू हो रहा है। और सारा पार्टी का लोग जमा है। लड़का लोग चुना जाएगा, वालंटियर का काम करने के लिए।''

मैं सोच में पड़ गई कि यह किस किस्म का लड़का होगा जिसे चुनने के लिए अलीगढ़ यूनिवर्सिटी का सबसे बड़ा ऊधमबाजी लीगी लड़का बुलाया गया है और इसका कर्त्ता-धर्ता कौन है ?

साहबजादे से मुलाकात हुई तो वे अकड़ रहे थे कि गवर्नमेंट को काम करने के लिए नौजवान नहीं मिल रहे थे, मैंने तार दे-देकर तो बुलाया है और यहां रिफ्यूजियों में से एक हजार लड़का तैयार कर दिया है जो गवर्नमेंट की मदद करेगा।

मैं खामोश हो रही, लेकिन दिल में खटक बाकी रही कि देखो, ''यह लड़का लोग का पार्टी'' किस घर में आग लगाता है। 4 और 5 को ऊपर बताई गई घटना के बाद मुझे वह साहबजादे फिर मिल गए। मैंने कहा तुम कौन-सी जमाअत तैयार कर रहे हो ? यहां तो सारे कब्रिस्तान साफ होते जा रहे हैं और तुम्हारे नौजवान मुझे कहीं दिखाई न दिए। वे किसकी मदद करेंगे ?

उसने कहा, जी नहीं। आपको बिल्कुल गलत खबर मिली है। वे हमारे ही लोग तो हैं जो बस्ती में खुदाई करने जाते हैं। गवर्नमेंट का कितना रुपया खर्च होता ? हमारे वालंटियर सौ-डेढ़ सौ जाते हैं और दो-ढाई घंटे में इतना काम कर देते हैं जो मजदूर आधा दिन में करते। कब्रें नहीं तोड़ी जा रही हैं, मैं तो खुद वहां मौजूद था। सिर्फ जमीन बराबर की जा रही है।

मैं चौंक पड़ी। अच्छा ! तो यह सब आप लोगों की कारस्तानी है। वे दोस्त जो बंबाई और गोंडा वगैरह से तर दे-देकर बुलाए गए थे वे सिर्फ आपकी मदद के लिए आए ताकि हमारे खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा कायम किया जाए और शांति दल का तोड़ करने के लिए सोशल सर्विस लीग आर्गनाइज हो। शुक्रिया, तुमसे इसके अलावां उम्मीद भी क्या हो सकती थी ?

दूसरे दिन जाकर मैंने तहकीक की। साहबजादे और उनके दूसरे दोस्तों के साथ रिफ्यूजी नौजवानों की पार्टियां आकर यह सारे काम कर रही थीं और हमारी चीख-पुकार की कोई सुनवाई न थी।

बहरहाल तीन दिन मैं कोशिश करती रही। झंडियां लगवाई जातीं और मेरे पीठ मोड़ते ही फिर उखाड़ दी जातीं। लुत्फ यह है कि जब कभी एकदम से पहुंच जाती थी तो कुछ न कुछ अपनी आंख से देख लेती थी। लेकिन फौरन ही सारे के सारे मुकर जाते। हमें मालूम नहीं ऐसा क्यों हुआ, किसने किया। यह तो कल की बात है, परसों की बात है।

अंदर की गड़बड़ और बाहर का हंगामा देखकर ऐसा मालूम होता था कि बस अब यह इलाका भी चंद रोज का मेहमान है। सारे पापड़ बेलकर जिस बस्ती को बचाया गया था अब वह जरूर उजड़ जाएगी। जामा मस्जिद के बाद यही एक ऐसा टुकड़ा था जहां मुहब्बत थी, शांति थी। निजामुद्दीन औलिया के दामन से लिपटे रहने वाले लोग अब रो रहे थे कि कहां जाएं, क्या करें। पनाहगुजीं अमन-चैन की जगह छोड़कर कहीं हटने का खयाल भी दिल में न ला सकते थे और शरणार्थियों ने अपनी देखभाल का काम भी बढ़ा दिया था। जब देखो झुंड के झुंड देखने चले आ रहे हैं कि यहां कोई मकान है।

उधर अरब सराय का प्रस्ताव पेश करने वाले साहब[9] शर्मिंदा होकर रह गए। वे हाथ मल रहे थे कि उन्होंने ऐसा क्यों कह दिया। तीन दिन बाद उनके मूरिस-ए-आला[10] का मकबरा तोड़कर उसमें से पानी का नल गुजार दिया गया और मालूम हुआ गुंबद के करीब ही पाखाना बनाने की भी स्कीम है।

शायद 6 को उन्होंने इस बात की इत्तिला दी। उस वक्त इत्तिफाक से एक मिनिस्टर साहब भी आ गए थे। मैंने उन्हें सारा हाल सुनाया और दरख्वास्त की कि जरा चलकर आप सब चीजें एक नजर देख लें। उन्होंने कहा आप चलिए, मैं अभी आता हूं। इधर कई दिनों से हमने दो लड़कों[11] की ड्यूटी भी बस्ती में लगा दी थी कि हमें सही हालात की रिपोर्ट करते रहें।

जरा खयाल कीजिए कि आफिसर की मौजूदगी में मिनिस्टिर के हुक्म के खिलाफ यह सारी कार्रवाई हो रही थी। आखिर कहां तक ? हर पल अंदेशा था कि किसी न किसी वक्त हिंदू-मुसलमानों में टकराव हो जाएगा। मुसलमान उस वक्त ऐसे बेदम पड़े थे कि वे तीन दिन टालते रहे। दूसरे, उन्हें मुझ पर और मेरे दोस्तों पर भरोसा था कि हम कोई न कोई फैसला करा देंगे। हमने सख्ती के साथ उनको रोका था कि तुम बिल्कुल दखल न देना। खैर, शुक्र है :

रसीदा बूद बलाए, वले बखैर गुजश्त[12]

---

9. हकीम सैयद हसन।
10. खानदान या वंश का प्रवर्तक।
11. लड़कों में एक हिंदू था, एक मुसलमान ताकि कोई अपनी बात बढ़ा-चढ़ाकर न पेश कर सके।
12. एक मुसीबत आई थी जो खैरियत के साथ गुजर गई।

मामले ने बहुत तूल खींचा। मुझे इस सिलसिले में जवाहरलालजी से भी मिलकर सारे हालात उन्हें बताने पड़े और मैंने बिस्तार के साथ घटनाओं, मौजूदा हालात और इस सिलसिले में राष्ट्रवादियों की कोशिशों वगैरह, सभी का हवाला दिया। पंडितजी ने पूछा और यह सब कर कौन रहा है ? मैंने जवाब दिया मृदुला। कुछ हैरत के साथ बोले, अच्छा तो मृदुला बहुत काम कर रही है ! और जब मैंने बताया कि हम सबकी लीडर उस वक्त वही हैं तो वे खामोशी से सुनते रहे। मुझे ताज्जुब भी हुआ और खुशी भी, कि देखो इस तरह काम करने वाले पीछे रहा करते हैं। न कोई नुमूद[13], न नुमाइश, रोज का आना-जाना मगर इशारे से भी मृदुला ने अपनी कारगुजारी[14] का जिक्र न किया था।

तमाम अफसरों से काफी झगड़ा रहा। शांति दल के आफिस की तरफ से भी सख्त विरोध किया गया लेकिन अब यह सिलसिला इतने बड़े पैमाने पर शुरू कर दिया गया था कि हमारे लिए हर जगह पहुंचना और सबकी खबर लेना मुश्किल था। निजामुद्दीन से पलटी तो अहरार पार्टी के एक मेंबर[15] मुझे 'शाहमर्दां' जिसे पुरानी कर्बला भी कहते हैं, वहां ले गए। फाटक में शरणार्थी ठहरे हुए थे। पुराने जमाने के इस आलीशान फाटक के इर्दगिर्द कोठरियां भी थीं, उनमें भी वही लोग बस रहे थे। कुछ लोगों ने इमारत का थोड़ा-थोड़ा हिस्सा लेकर अपने रहने के लिए अलग-अलग मकान भी बना लिए थे। मकानों के सहन में बैठने और नहाने के लिए कब्रों के मर्मरी तावीज[16] इस्तेमाल होते थे। किसी-किसी जगह संगमर्मर के टुकड़े फर्श में लगा लिए थे।

कब्रिस्तान सदियों का पुराना सफेद पत्थर की नक्काशी की गई सिलों से भरा पड़ा था और वे सब उखाड़कर अलग कर दी गई थीं। हजरत अली करम अल्लाह वजह[17] का कदम-ए-मुबारक[18] भी यहीं संगमरमर की हसीन इमारत के सहन में लगाया गया था। इमारत पुराने वक्तों की नक्काशी और पच्चीकारी का बढ़िया नमूना थी और दर-दीवार सब तोड़कर सफेद चूरा बिखेर दिया गया था। लाखों रुपए का कीमती पत्थर[19] टुकड़ों की शक्ल में ढेर था। ऐसा मालूम होता था कि हफ्तों की मेहनत और सैकड़ों आदमियों की मदद से इसे तबाह किया गया है। एक-दो आदमी तो इतना कर नहीं सकते थे।

लोगों ने बताया कि इमारत शिआ संप्रदाय का सबसे मुकद्दस[20] मकाम है। हर साल मुहर्रम और दूसरे मौकों पर ईरान-इराक वगैरह तक से लोग इसकी जियारत[21]

---

13. दिखावा।
14. कार्य।
15. चौधरी अब्दुल सत्तार साहब।
16. कब्रों पर बना हुआ पत्थर या ईंट का निशान (समाधि-लेख)
17. उन पर अल्लाह का करम हो।
18. मुबारक कदम का नक्शे संगमरमर की एक सिल पर था।
19. संगमरमर।
20. पवित्र।
21. तीर्थ।

के लिए आया करते हैं। एक छोटे-से टुकड़े पर सियाह पत्थर की लिखाई देखकर मैंने उसे उठा लिया। यह किसी सुलतान की कब्र का तावीज था। नाम और सन् अब आगे होगा। यह पत्थर का जरा-सा टुकड़ा और इस तरह के बहुत से टुकड़े इमाम, आलिम[22], शहजादों और फकीरों की दास्तानें सुना रहे थे। वे बता रहे थे कि कभी इस दुनिया में इसी तरह के जीते-जागते इंसान चलते फिरते थे। इसी दिल्ली में उनकी शोहरत का डंका बजता था। यहीं उन्होंने इल्म-ओ-अखलाक[23] की बुनियादें पक्की की थीं। इसी शहर में उन्होंने जवानी की सरमस्तियों में ऐश-ओ-इशरत[24] की जिंदगी गुजारी थी और यही स्थल कभी जिक्र-ओ-फिक्र के भी मरकज रहे थे। कभी इनके सामने भी लोग दीन-दुनिया की दौलतें मांगने आया करते थे और अपने विरोधियों को वे भी जोर-ताकत के घमंड में जुल्म-जब्र का शिकार बनाया करते थे। और इसी सरजमीन में भी कभी अल्लाह और अल्लाह की मखलूक[25] से मुहब्बत करने वाले बहके, भटके हुए लोगों को नेकी और सचाई की तरफ बुलाया करते थे। आज उन सबकी हड्डियों से फावड़े और हथौड़े टकरा रहे हैं और अलीगंज में उस पर ट्रैक्टर चल रहे हैं। ये खूबसूरत नकशीन[26] तावीज क्या किसी ऐशपसंद नौजवान शहजादे की यादगार हैं ? या किसी आलिम-ए-दीन[27] की ? या दुनिया को त्याग देने वाले फकीर की ? आज उनमें से कोई अगर वापस आ जाए तो उसे यकीन न आया कि उसकी कब्र खोदने वाले जानवर नहीं अच्छे पढ़े-लिखे बीसवीं सदी के मुहज्जब[28] इंसान भी हो सकते हैं।

इस दुनिया में हमेशा यही होता रहा है। कभी जिंदा को मारकर कब्रें बनाई जाती हैं और कभी कब्रों को खोदकर जिंदे लोगों के लिए इमारतें बनाई जाती हैं। कायनात[29] इस शानदार चक्र में ऐसी घटनाएं एक क्षण की अहमियत रखती हैं। लेकिन इंसान यह सब कहां सोचता है ? 'सफी' लखनवी ने क्या खूब कहा है :

आज दीवाना उड़ाता है जो वीराने की खाक
कल उड़ाएगा यूं ही वीराना दीवाने की खाक

चलती चाकी देख के दिया कबीरा रोय,
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय

फाटक में दाखिल होते ही हम परेशानी में पड़ गए। एक हादसा पेश आ गया। गाड़ी

---

22. विद्वान।
23. ज्ञान और नैतिकता।
24. सम्पन्नता।
25. बंदे।
26. नक्काशी किए हुए।
27. धर्म-ज्ञानी।
28. सभ्य।
29. सृष्टि।

दोनों किनारों पर खड़ी हुई चारपाइयों से टकरा गई और एक चारपाई टायर में उलझ कर साथ-साथ चल दी। खुद घिसटते हुए उसने दो-तीन और को भी ढेर कर लिया। एक तो खैर बिल्कुल ही खत्म हो गई। दूसरी और तीसरी को हलका-सा नुकसान पहुंचा। लेकिन यह घटना भले दिन होते तो सिर्फ अफसोस के काबिल होती और गरीबों को मुआवजा देकर खत्म हो जाती, अब तो हम पागलपन के दौर से गुजर रहे थे इसलिए चीखते-चिल्लाते, गालियां देते हुए लोगों ने गाड़ी घेर ली। ड्राइवर को डांटकर मैंने गाड़ी रुकवाई वरना शायद और कोई हादसा हो रहता। वह घबराहट में आगे बढ़ा ले जाना चाहता था।

गुस्से में बिफरे हुए मर्द-औरत, हमें, पंडित नेहरू को और कांग्रेस राज को कोस रहे थे। वे क्यों न कोसते ? हममें से कौन उनकी मुसीबत में काम आया था ? और इस बरबादी के आने में किसका हाथ नहीं था ? उन्हें देखकर मुझे खुद ही अपने हाथ खून में लिथड़े दिखाई देने लगते थे।

उस वक्त उनकी इकलौती चारपाई जिस पर वे रात में कुछ क्षण गाफिल[30] सोकर और यहां की सारी दुनिया भूल जाया करते थे, आंखों के सामने टूटी पड़ी थी। उनसे मुंह छिपाकर चले जाना मेरे अंतःकरण ने गवारा न किया। मैंने माफी मांगी, अफसोस जाहिर किया और मरम्मत के लिए कुछ रकम पेश की जिसे कम महसूस करके उन्होंने लेने से इंकार कर दिया। इतनी बड़ी रकम मांगी जो उस वक्त मैं दे न सकती थी। मैं पहली रकम पर आग्रह करती रही। मामला तो तय न हुआ लेकिन बातचीत से वे जरा ठंडे पड़े।

जब सारी इमारत देखकर हम वापस लौटे तो फिर सहन में उत्तेजित जनसमूह ने हमें घेरा। औरतों ने आगे बढ़कर मेरे कदमों में बच्चे डाल दिए कि ये मर रहे हैं और तुम इनकी कोई परवाह नहीं करती हो। हमको मकान दिलवाओ, हम कई महीनों से यहां पड़े हैं। कुछ औरतों ने चिल्लाकर कहा, "ये मुसलमान हमको बहुत सताते हैं।" मैंने कहा, बीवियो, यहां मुसलमान तो मीलों, कोसों तक इर्द-गिर्द में बाकी नहीं हैं। तुमको सताने कहां से आते हैं ?

कहने लगी हाथ-हाथ भर के लंबे सांप निकल-निकलकर डस रहे हैं, कितना बूढ़ा-बच्चा हमारा मर चुका है।

मैंने हैरान होकर पूछा, "तो क्या मुसलमान सांप हैं ?" और फिर मैंने काफी देर तक उनको समझाया। उनकी गलती बताई कि इस सैकड़ों साल की पुरानी इमारत और कब्रों को छेड़कर तुमने खुद सांपों को दावत दी है। इन्हीं में सांपों के घर होंगे। उनके मकान खुदे, वे तुमसे बदला ले रहे हैं। मैंने उनको आफिस का पता दिया और कहा कि 'शांति दल को अर्जी दो, वह तुम्हारी मुश्किलों में मदद करेगा। मकान भी

---

30. बेखबर।

उनकी मदद से मिल सकेंगे। लेकिन किसी वक्त फिर सोचना कि तुम सबने कितना बुरा काम किया। इमारत न बरबाद करते, उसी में रहते तो कब्रें तुम्हारा क्या बिगाड़ लेतीं ? इतना हिस्सा अलग रहता बाकी ठिकाने तुम ठहर सकते थे।''

सब एक साथ बोले यह सब हमने नहीं किया। इसको खोदने के लिए तो ट्रक में भरकर लोग शहर से और अलीगंज के क्वार्टरों से आते थे। हम लोग तो बाद में यहां आए हैं। तब यह सब टूट चुका था। मेरे अहरारी साथी ने बताया कि अप्रैल तक यह तमाम इमारत और मकबरा सही-सालिम थे। सब कुछ मई-48 से जून-48 तक हुआ है।

मैंने दुबारा चारपाई के मालिक को वही रकम पेश की। अबकी बार उसका गुस्सा कम हो चुका था और उसने ले ली। वापसी में रास्ते ही में एक कब्रिस्तान और मस्जिद के आसार भी थे। वहां जमीन हमवार[31] करने के लिए ट्रैक्टर इस्तेमाल हो रहा था। कुछ टूटी-फूटी कब्रें अभी बाकी थीं। और मस्जिद की मेहराब और बुनियादों के आसार मौजूद थे।

ये तमाम हालात देखकर मैंने खन्ना जी से खुद मिलना जरूरी समझा और दूसरे दिन खन्नाजी और आर्कियोलॉजिकल डिपार्टमेंट का मुंशी एक बड़े नक्शे समेत हमारे साथ वहां गए। पुराने नक्शे में जो मैंने सेक्रेटेरियट से हासिल किया था एक मस्जिद का निशान साफ था। मगर आज नींव भी साफ हो चुकी थी सिर्फ पुख्ता फर्श के आसार बाकी थे। कब्रें खत्म हो चुकी थीं।

पी. डब्ल्यू. डी. वालों से देर तक बहसा-बहसी होती रही। खन्नाजी को सबूत मिल चुका था। पुरातत्त्व विभाग वाले का इसरार था कि हमारे यहां सबूत मौजूद है। लेकिन वे लोग बिना किसी वजह के अपनी बात ऊपर रखने की कोशिश कर रहे थे। सब कुछ मिट चुका था, अब क्या चीज बचानी थी जो हम लड़ते। अहरारी साहब उसी तरह से इसरार करके हमें खूनी दरवाजे के पास जेल के सहन वाली मस्जिद दिखाने ले चले। मेरी तबीयत खट्टी हो चुकी थी, इसीलिए मैं शुरू से इस मामले में दखल देने या दिलचस्पी लेने से कतराती थी, पता नहीं क्यों ? किसी गैबी हाथ में घेर-घेरकर मुझे यहां पहुंचा दिया। मैं तो कभी अपने खानदानी कब्रिस्तान में भी जाना पसंद न करती थी। हमेशा यही कहती थी बस अब एक ही बार जाऊंगी, रोज-रोज जाकर क्या करूं ? और अब कई दिन से कब्रों के ही बीच चक्कर लगाते गुजर रही थी। मैंने लोगों से कहा सब खोद डालो, बरबाद कर डालो। ये तो पुरानी हो चुकी थीं, हम अब नई-नई बनवाएंगे—ऐसी कि जिनके आगे तुम सब भी अपनी अकड़ी हुई गर्दनें झुका दो और जिनका तुम भी अदब करो।[32]

---

31. समतल।
32. और फिर रफी भाई और मौलाना आजाद के लिए लोगों की गर्दनें झुकते देखीं।

क्या खबर थी कि ये बोल दो ही चार दिन में हकीकत बन जाएंगे और शहीद उस्मान[33] दुश्मनों से भी खिराज-ए-अकीदत[34] हासिल करेगा। वह शाही जलूस जब शहर से ओखला पहुंचा है तो पैदल चलने वालों का भारी जनसमूह साथ था और सबके दिल इज्जत और एहतराम के जज्बात से भरे हुए थे।

उस मस्जिद को चंद दिन पहले देख चुकी थी। उस वक्त दीवारें सिर्फ दो-दो बालिश्त बाकी थीं और मस्जिद का अंदरूनी लाल पत्थर का जानमाजों वाला फर्श ही बाकी रह गया था। सफेद पत्थर से बनी नाजुक-नाजुक जानमाजें[35] बता रही थीं कि हम पर कितने पुरखुलूस[36] सजदों की मुहरें लग चुकी हैं। लेकिन नहीं, अगर सजदे पुरखुलूस होते तो वे मिटते कैसे :

सब्त अस्त बर जरीदः-ए-आलम दवाम-ए-मा[37]

बहरहाल आज वह सब मिट चुका था और मामूली पत्थर का चबूतरा बाकी था जो सिपाहियों के बैठने के काम आ रहा था। जेल के सहन में चारदीवारी के अंदर मस्जिद, फाटक ही से पुलिस का सख्त पहरा, हर वक्त बीसों आदमी उस जगह रहते थे और बेचारों ने देखा ही नहीं कि अच्छी बनी-बनाई मस्जिद कौन बदमाश खोदकर चला गया। हाय उन आंखों वालों का अंधापन ! खन्ना जी ने नक्शे में पुरानी मस्जिद के निशान देखे। मेहराब, जानमाज, खंभे सबके आसान घूम-फिरकर तलाश किए और फातिहा[38] पढ़कर हम लोग पलट आए।

इन हालात से पाठकों को अंदाजा होगा कि दंगाई जो सरकार के डर से अब जिंदा लोगों पर हाथ नहीं उठा सकते थे बड़ी तेजी से पुराने आसार ढहाकर ऐसी फजा पैदा करना चाहते थे जिससे फिर गड़बड़ी फैले। अब मुर्दों से बदला लेने में बेहद व्यस्त थे और यह सब जून-जुलाई में हो रहा था।

पुरातत्त्व विभाग के सेक्रेटरी वगैरह हमसे मिले और कहा कि हम सब चीजों को बचा नहीं सकते। पी. डब्ल्यू. डी. के लोग बरबादी करते हैं लेकिन मुझे शक है कि यह बात जो उन्होंने हमसे की, हुकूमत के कानों तक भी पहुंचाई कि नहीं। मेरा खयाल है खुद उनका दामन भी इलजाम से दागदार[39] था कि उन्होंने हिफाजत करने की पूरी कोशिश नहीं की।

किसी मस्जिद या मजार की बरबादी की खबर हमें मिलती, हम मस्जिदें खाली

---

33. ब्रिगेडियर उस्मान जो कश्मीर में पाकिस्तानी आक्रमण में शहीद हुए थे।
34. श्रद्धांजलि।
35. नमाज पढ़ने की जगह।
36. निष्ठा से किए गए।
37. संसार रूपी पुस्तक के पन्नों पर उसका अमिट चिह्न अंकित होता है।
38. कब्र पर दुआ मांगना।
39. धब्बा लगना।

कराने वाली कमेटी के सदर खन्ना जी को इत्तिला करते, वह चीफ कमिश्नर को लिखते और चीफ कमिश्नर पी. डब्ल्यू. डी. को मरम्मत के लिए लिख देता। यह चक्कर बराबर चल रहा था। उसी रफ्तार से तोड़फोड़, खाली करने की कार्रवाई और मरम्मत हो रही थी।

यह महकमा जिस तरह इमारतें बनाने और उनकी मरम्मत का जिम्मेदार था उसी तरह तबाही और बरबादी का भी ठेकेदार था। उस वक्त उसमें बहुत से ऐसे लोग शामिल थे जो तोड़फोड़ वाले संगठनों के मेंबर थे। पुरानी कर्बला, शाह-ए-मर्दां, अरब सराय और बहुत-से दूसरे आसार, मस्जिदें और मकबरे अपनी वीरानी के लिए ज्यादातर पी. डब्ल्यू. डी. के आभारी हैं।

अफसरों की मौजूदगी में मस्जिदें तोड़ी गईं, यहां तक कि सितंबर में जिले के सबसे बड़े अफसर[40] के मकान के सामने एक चबूतरे पर जो कब्रिस्तान था उसकी सतह बराबर की गई और जब रिपोर्ट की जाती तो पुलिस सुनना भी पसंद न करती। सेवक दल, सोशल सर्विस लीग बहुतेरे नामों से बिगड़े दिल नौजवानों के संगठन उनके सहयोगी थे। बड़े-बड़े हाथ उनकी मदद पर थे, हमारे कहने सुनने की वे क्यों परवाह करते ? नतीजा यह हुआ कि जब बात हम ऊपर तक पहुंचाते तो सरकार मरम्मत का हुक्म देती। ये आर्डर हमेशा चोटी पर से उतरते थे। कितनी बेहतरीन पालिसी थी ! किसी का जी मैला न होने पाए, खोदने वालों को भी न रोको, क्यों उनके जी की उमंग बाकी रह जाए ? और जब बनाने का हुक्म आया तो इतनी मुसतैदी से तामील[41] हो कि उनसे ज्यादा किसी को लगन लगी ही नहीं है।

गवर्नमेंट अपनी होशियार नौकरशाही के शिकंजे में कसी हुई खुदाई और बनवाई के दुहरे खर्चों को झेल रही थी और लुत्फ यह है कि इस हिमाकत का उस वक्त तक उसे अहसास न हुआ। वह समझती है, खर्चे बढ़ाने के जिम्मेदार हैं ये गुंडे। लफ्ज गुंडा सुनकर दिमाग फौरन एक ऐसे नौजवान की तरफ चला जाता है जो बालों में खूब तेल डाले सलीके से कंघी किए, बेफिक्री से पान चबाता हुआ सड़क पर टहल रहा हो। पार्क में औरतों पर आवाजें कस रहा हो। सिनेमा के दरवाजे पर खड़ा लड़कियों को घूर रहा हो।

लेकिन जमाना बदलता रहता है। अब गुंडा घरों में रहता है, दफ्तरों में काम करता है, अदालत की कुर्सी पर बैठता है, यूनिवर्सिटी यूनियन का प्रेजिडेंट हो सकता है, पब्लिक का लीडर बनता है और जलसों में धुआंधार भाषण देता है। बीसवीं सदी का गुंडा कितना सभ्य इंसान होता है !

बहरहाल कोई भी उस तोड़-फोड़ का जिम्मेदार हो लेकिन मैं खुद औरतों को

---

40. डिप्टी कमिश्नर।

41. क्रियान्वयन।

मांओं-बहनों को भी इस सूरत-ए-हाल[42] का जिम्मेदार करार[43] देती हूं। उन्होंने उसे रोकने और खत्म करने की कोई कोशिश नहीं की। मकानों को जलाने और बरबाद करने का सिलसिला भी खत्म नहीं हो रहा था। देहातों को पहले ही काफी उजाड़ा जा चुका था। लेकिन अब भी शराब बनाने और खाना पकाने के लिए ज्यादातर घरों के छप्पर, दरवाजे और गांव के दरख्त इस्तेमाल हो रहे थे। देहातों में कहीं छांव बाकी न रह गई थी। सब जमीनें तप रही थीं, जिस तरह आदमियों के दिल-दिमाग तप रहे थे।

हम लोगों को सबसे बड़ी मुश्किल तो यह पेश आई थी कि जब किसी मामले पर अफसरों से बातचीत करके सब कुछ तय करा लेते और खुश-खुश नीचे के स्टाफ तक पहुंचते कि भई, अब फलां काम होना चाहिए तो वे जवाब देते :

"हमारे पास तो कोई ऐसा आर्डर आया नहीं कि आपकी मदद की जाए।"

कितनी बड़ी शर्मिंदगी और जिल्लत[44] का सामना था ! लेकिन उसे छोड़कर हम पीछे कैसे हट सकते थे।

वाकिआ यह था कि अंग्रेज अभी गया था और इस काली सरकार को अभी उन्होंने सरकार समझा न था। उधर अफसरों के सर पर भी विदेशी डंडा बाकी न था। वे आज-कल आज-कल करते-करते मामले को खत्म कर देना चाहते थे। हिंदुस्तान की रवायती[45] सुस्ती और आलस अपनी जड़ें मजबूत कर रहा था।

मजारों और मस्जिदों के सिलसिले में जब मैं प्रधानमंत्री से मिली हूं और मेरी रिपोर्ट को शांति दल ने एक जोरदार नोट के साथ उनकी खिदमत में पहुंचाया है तब जाकर यह ढर्रा खत्म हुआ। स्थानीय अधिकारियों ने हमारी कोई बात न सुनी। अगर पंडितजी को सही हालात से बाखबर न किया जाता तो कोई अजब न था कि 15 जून के बजाए 15 जुलाई को हम सर पकड़कर रोते।

---

42. स्थिति।
43. ठहराना।
44. निरादर।
45. परंपरागत।

17. चिराग तले अंधेरा

लोकल एडमिनिस्ट्रेशन से इस पुराने झगड़े ने हम सबको परेशान कर दिया। आखिर हमारे साथ दुश्मनों और विरोधियों का-सा बर्ताव क्यों हो रहा है ? हम सिर्फ अमन ही तो कायम करना चाहते हैं और ऐसा अमन जो हुकूमत की बुनियादों को मजबूत करे। हमने तो राष्ट्रवादी वर्गों से अपील की है कि हमारे साथ मिलकर काम करें। अधिकारीगण हम पर भरोसा क्यों नहीं करते ? हममें से बहुतों के दिमाग में ऐसे सवालात आते थे और जब भी इकट्ठे होते, तो इसी विषय पर बहस होती। सबसे ज्यादा दुखी कांग्रेसी थे। वे समझते थे उनकी गवर्नमेंट है, उनसे ज्यादा हमदर्द कौन हो सकता है ? और उस समय यह रंग था कि उनकी बात भी न पूछी जाती थी। दिल्ली वाले कहते थे हम तो अछूतों से बदतर हो गए हैं। किसी दफ्तर में जाओ, शर्मिंदा होकर लौट जाओ।

देहातों से जो रिपोर्ट हमारी पार्टी लाई उससे साबित हो गया कि खबरें सच थीं। वाकई तैयारियां थीं, पोस्टर, खुफिया जलसे और छोटे बच्चों तक के जरिए प्रोपेगंडा हो रहा था। पिछले दंगों में तीन गिरोह संगठित किए गए थे।

एक तो नजफगढ़ के इलाके में जाटों का गुट बनाया गया था। उनमें जाटिस्तान की मांग का प्रचार किया गया। मुझसे खुद जाट जमींदारों ने कहा :

"उन दिनों तो बस जाटराज की बात चल रही थी। इस मारे सब बड़े लोगों की सलाह हुई कि हिंदू, मुसलमान, जाट भाई एक हो जाओ। कोई पाकिस्तान ले रहा है, कोई हिंदुस्तान। सिख अपना हिस्सा अलग मांग रहे हैं। हमारा भी तो आखिर राज होना चाहिए।"

दूसरी तरफ महरौली में तगे, राजपूत और चौहान संगठित हुए और उनमें खालिस हिंदुओं का प्रचार हुआ। शाहदरा के इलाके में गूजर और हरिजन संघ[1] के नाम पर इकट्ठे हुए। उन सबको हथियार सप्लाई किए गए।

बाकायदा जत्थे बना-बनाकर ये लोग पास-पड़ोस के देहातों पर हमले करते थे। उनके हमदर्द तकरीबन हर महकमें में थे और उन तीनों ग्रुपों को उनसे मदद मिलती थी। नजफगढ़ के जाटों की इमदाद भरतपुर की फौजों तक ने की। बल्कि दो-एक जगह

---

1. राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ।

हमें बताया गया कि फौज उन बेकायदा सिपाहियों को साथ लेकर सूबों के सरहदी देहातों पर हमला करती थी।

सिर्फ एक इलाका नरेला हमें ऐसा मिला जहां कांग्रेस का आज भी असर था। जहां सब कुछ हो गया मगर इंसान खत्म नहीं हुए; जहां आदमीयत का गढ़ स्वामीजी का आश्रम था। पास-पड़ोस का जितना हिस्सा उनके असर में था बहुत कुछ उस मुसीबत से बचा रहा। जो गलतियां हुईं, जो जुल्म हुए उसकी तलाफी[2] की कोशिश भी हुई और यहां जाटों के सिवा और दंगाइयों का कोई गिरोह भी न बन सका। दो माह के अंदर-अंदर हालात पर काबू होने लगा। आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के दो मेंबर उस इलाके में अपनी सच्ची कोशिशें जारी रखे हुए थे।

हरिजनों की नैतिक स्थिति पहले ही क्या थी ? उन दिनों वे किसी खुफिया आंदोलन के असर से गैर-मामूली तौर पर बागी लड़ाकू और जरायमपेशा हो रहे थे। बहुतों को दाढ़ी बढ़वाकर एक कृपाण थमा दी गई थी और उनकी गलतफहमी देखिए कि वे सिख बन गए थे।[3]

जब चिराग दिल्ली की दरगाह की मरम्मत होने लगी तो कई दिन बाद हम उसे देखने गए। फर्श की सीमेंट अभी पक्की नहीं हुई थी, गली थी और दीवारों का चूना सूखने न पाया था। पी. डब्ल्यू. डी. के एक इंस्पेक्टर ने शिकायत की कि साहब इन चमारों को मना कीजिए, जूते पहनकर फर्श पर चलते हैं और बना-बनाया फर्श गारत[4] कर रहे हैं। मना करो तो लड़ने पर तुल जाते हैं।

एक चौधरी ने चुपके से कहा, 'इनकी तो जल्दी फिक्र कीजिए। बहुत सताते हैं। बात-बात पर अब हमसे लड़ने-मरने लगते हैं।' दूसरे ने कहा, "यहां जवान लोगों में संघ का बड़ा जोर है, उसका तो कुछ करो।" मगर जब पकड़-धकड़ शुरू हुई और खुद उसका बेटा संघ का मेंबर होने के इलजाम में पकड़ा गया तो सब कुछ जानते हुए भी बाप की मुहब्बत ने मजबूर कर दिया कि वह छुड़ाने की कोशिश करे। और जब रिहा होकर आ गया तो उसने कहा वैसे ही शुब्हे[5] में पुलिस उसको पकड़ ले गई थी।

मेरे सामने ही जब एक शख्स बरामदे से गुजरा, ओवरसियर ने बढ़कर टोका। इस पर वह बिगड़ा, बात बढ़ी। मामला गाली-गलौज तक जा पहुंचा। मैं हैरान खड़ी इस तू-तड़ाक को सुन रही थी और सोच रही थी कि कैसे यह नाव पार लगेगी। इनको तो इन बेचारे रईसों और चौधरियों ने मुसलमानों के लिए उभारा था। यहां तो उलटी आंतें गले पड़ रही हैं। चौधरी कैसे, अब तो ये सरकारी कर्मचारियों तक के मुंह आ रहे हैं।

एक बार पंडित सुंदरलालजी को लेकर हमारी पार्टी पालम गई। वहां पहुंचकर

---

2. भरपाई।
3. अमन-चैन के बाद अंदाजा हुआ कि हरिजन आज भी हरिजन हैं।
4. नष्ट।
5. संदेह।

सुना कि तीन दिन से एक भैंस मरी पड़ी है और हरिजन उठाने से इंकार कर रहे हैं। हरिजनों को बुलवाकर पूछा तो उन्होंने साफ इंकार कर दिया कि हम न उठाएंगे। आपस में बहस-मुबाहिसा बढ़ता देखकर पं. सुंदरलाल उठ पड़े और कहा :

"भई लड़ने की क्या बात है ? वे न करें हम सब मिलकर कर लें। आओ भइया, मदद करो। मैं खुद उठाता हूं।"

लेकिन मुर्दा भैंस को हाथ लगाना कोई ब्राह्मण कैसे गवारा कर सकता था ? खुद अपने संगठन के ब्राह्मण भी घबरा उठे। उधर सुंदरलाल जी हैं कि खुश-खुश बुला रहे हैं। हाथ लगाए दे रहे हैं। और यहां सब एक दूसरे का मुंह देख रहे हैं।

खैर यहां भी 'नीति'[6] 'काम आ गई और हरिजनों को यह ताना देकर उभार दिया गया कि इतने बड़े आचार्य, महाब्राह्मण और फिर मेहमान, उनसे गंदी चीज उठवा रहे हो, शर्म नहीं आती ! पंडितजी ने भैंस उठाकर फेंकी नहीं और तुम्हारी नाक कटी।

हरिजन ऐसे तो गिरे हुए न थे कि वे मेहमान की बेइज्जती करते। वे भी हां-हां करते हुए दौड़ पड़े, हटिए पंडितजी हमारा झगड़ा तो गांव वालों से है, हम आपको हाथ न लगाने देंगे। लेकिन पंडितजी मदद से बाज न आए। लूट-मार और गुंडागर्दी के उन चंद दिनों में उनको कुछ आदत-सी पड़ गई थी और अब उनसे बेकार बैठा नहीं जाता था। उधर इमदाद व बहाली के काम की रफ्तार इतनी सुस्त थी कि शरणार्थियों में जबरदस्त बेचैनी फैली हुई थी। इसमें शक नहीं कि गवर्नमेंट कोई कमी नहीं करती थी, उसका हर मेंबर चाहता था कि जल्द से जल्द उनकी मुश्किल हल करे, फिर भी देर तो लग ही रही थी।

हुकूमत रुपया भी बेझिझक खर्च कर रही थी लेकिन ऊपर से लेकर नीचे तक सारे कार्यकर्ता अपने ढीलेपन का सबूत दे रहे थे। अगर सेंट्रल रिलीफ कमेटी की गैर-सरकारी इमदाद शामिल न होती, तो शायद अभी दो साल तक यही बेचैनी बनी रहती और जितना काम हुआ है उसका आधा भी न हो पाता।

असलियत यह है कि हमारे दिलों में अभी कौम का सच्चा दर्द, काम की लगन और बिगड़ी को बनाने का सलीका पैदा ही न हुआ था। नौकरशाही कहीं बाहर से नहीं आई थी, वह हमीं में से सुस्त, काहिल और लापरवाह व्यक्ति थे। जिस तरह हम अपनी पब्लिक जिंदगी में फूहड़ थे, हुकूमत की व्यवस्था में शामिल होकर भी अपने बेढंगेपन का सबूत दे रहे थे, अभी तो सारा आवे-का-आवा बिगड़ा हुआ था। लापरवाही से कदम उठाते वक्त हम सब यह भूल जाया करते थे कि लोग गरमी से भुन रहे हैं। उनका दिमाग भला कै दिन ठीक रह सकता है और वे कब तक हमारा इंतजार करेंगे ?

और भई ईमान की बात तो यह है कि राजकाज की सदियों से आदत भी तो

---

6. पं. जयदेव नीति, टैक्ट, राजनीति का अक्सर जिक्र किया करते थे और बड़े मजे में अपने ब्राह्मणत्व की धौंस जमाते थे।

छूट गई थी। करते-करते कहीं थोड़े दिन में आदत पड़ेगी और जैसे-जैसे तजुर्बा होगा, फुरती आएगी, सलीका आएगा। हर छोटा कदम बड़े कदम का सूचक होता है और हमेशा पहली ईंट से दूसरी ईंट राजगीर अच्छी बनाता है। मुसीबत तो यह हुई कि जरा सांस लेने की मुहलत भी न मिली। सर मुंड़ाते ही ओले पड़ गए।

हद हो गई, खाली टुकड़े पड़े थे। रिफ्यूजियों ने हमसे कहा, अधिकारियों से कहा, सबसे फरियाद की कि अगर ये प्लाट हमें दिला दिए जाएं तो अपना पैसा लगाकर हम मकान बनवा लेंगे। ऐसे-ऐसे न जाने कितने प्लाट इंप्रूवमेंट ट्रस्ट के पास तैयार पड़े थे। और कोई बड़ी बात न होती अगर जल्दी से उनका अलाटमेंट कर दिया जाता। मगर सोच-विचार में पूरा साल बीत गया और दूसरे जाड़े सिर पर आ गए तब कहीं जाकर कुछ आदमियों को वे प्लाट मिल सके।

सारी खाली जमीन, इंजीनियर और इमारती सामान की खरीदारी में जरूरी सहूलियतें अगर उनको मिल गई होतीं तो हजारों न सही सैकड़ों खानदान तो जरूर सरकार की मदद के बिना बस चुके होते।

लेकिन यह मेरा खयाल है और मैं हुकूमत की मशीनरी का नन्हा-सा पुरजा भी नहीं थी इसलिए सिर्फ अंदाज और अटकल ही लगा सकती हूं। क्या पता उस रास्ते में कितनी मुश्किलें थीं, क्या दिक्कतें थीं, यह तो मैकेनिक ही बता सकता है कि मशीन के चलने में कौन-सी अड़चन और क्या मुश्किलें थीं। शायद इसीलिए वे ऐसा न कर सके हों, हालांकि मेरी तरह पब्लिक का हर आदमी यही सोचता था और हुकूमत की दुश्वारियों से बहुत कम लोगों की हमदर्दी थी। गुस्सा सबको आता था।

18. शांति दल

13 जुलाई को शांति दल की मीटिंग राजेंद्र बाबू[1] के यहां हुई। शांति दल के एक माह के काम की रिपोर्ट उनके सामने पेश करने के बाद मृदुला ने सारी दिक्कतों का जिक्र किया और यह तय हुआ कि काम का दायरा बढ़ा दिया जाए। काम करने वालों के लिए भी एक निश्चित और स्पष्ट कार्यक्रम बना। औरतों और बच्चों का सेक्शन खोलने का प्रस्ताव भी रखा गया और दरगाहों और मस्जिदों की वापसी का सवाल भी सामने आया। मुसलमानों के खाली मकानों को सील करने और खाली मकानों का सर्वे कराने का मंसूबा[2] भी बांधा गया। साथ ही बजट की मंजूरी भी ली गई। सेंट्रल पीस कमेटी ने बजट कमोबेश[3] मंजूर कर लिया।

और फिर जुलाई ही में सारे अधिकारियों, पार्टियों के नुमाइंदों और सोशल वर्कर्स का एक सम्मेलन सेक्रेटेरियट में प्राइम मिनिस्टर के कमरे में हुआ।[4] अधिकारियों को शिकायत थी हमारी ज्यादतियों की और हमें उनकी कानून विरोधी कार्रवाई और लापरवाही की। बीसियों मामलों पर बहस हुई और दुश्वारियों पर सबने मिलकर खुले दिल से बहस-मुबाहिसा किया उस वक्त तो हमारी सबसे बड़ी दिक्कत स्थानीय शासन से मतभेद था। प्रांतीय कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी ने विस्तार और सफाई के साथ घटनाओं का हवाला किया, असहयोग की शिकायत की और कुछ दोष भी लगाए। पुलिस अफसरों ने सफाई देनी चाही मगर इतने मुंह कहने वाले थे कि वे सबका खंडन भी न कर सके। सूबे के सबसे बड़े अफसर जो न खुद दुखी होते थे न किसी दूसरे को दुखी करते थे शुरू से आखिर तक मौजूद रहे। वे न किसी के विरोधी थे न प्रशंसक और न उन्हें किसी से शिकायत थी। न वे कोई वादा करते थे, न किसी वादे पर अमल करना उनके बस में था।

सूबे के एक जिम्मेदार मेंबर ने कहा कि मेरा खयाल है कि मस्जिदें खाली कराने

---

1. राष्ट्रपति।
2. योजना।
3. थोड़ा-बहुत।
4. पं. जवाहरलाल नेहरू।

में जल्दी की गई और इसीलिए शरणार्थियों में बेचैनी है। जब तक नए मकान न बन जाएं, वे जहां बैठे हैं उन्हें वहां से उठाया न जाए।

सोशलिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी बोले—मैं भी यही कहता हूं, इसीलिए विरोध करता रहा हूं।

मैंने कहा—लेकिन आप तो यह सोचिए कि इबादत की जगह के लिए तो आपको एक उसूल बनाना ही पड़ेगा, वह रहने का ठिकाना तो नहीं है। दूसरे, शरणार्थियों के ठहरने के बाद तबाही और बेहुरमती[5] की जो घटनाएं होती रहती हैं उनको रोकने का सिर्फ यही एक तरीका है कि उन्हें ऐसी जगह ठहरने न दिया जाए। मुसलमानों में भी तो यह सब हाल देखकर बेचैनी पैदा हो रही है।

अधिकारियों ने कहा वह तो तब होता है जब उन्हें रोका जाता है।

मैंने चश्मदीद वाकिआत का हवाला दिया कि किस तरह रहने के बाद उन्होंने बरबादी की है।

इस पर सोशलिस्ट पार्टी के सक्रिय सेक्रेटरी कहने लगे, ''मैं जिंदों में काम करता हूं, आप मुर्दों में काम करती हैं।

बात अच्छी थी। कोई और वक्त होता तो शायद मुझे भी लुत्फ आता लेकिन उस समय बहुत बुरा लगा। जी चाहा कि कुछ कहूं, लेकिन कुछ कहना मुनासिब न मालूम हुआ। पी गई। और फिर उन दिनों तो यह हकीकत भी थी, झुठलाती कैसे ? बहुत कुछ होता रहा। पंडितजी तो उठकर चले गए, मगर उनके सेक्रेटरी काफी देर तक अध्यक्षता करते रहे। मृदुला ने अपनी स्वाभाविक स्पष्टवादिता के साथ सब कुछ कह डाला और हम सब खुश होते रहे।

मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।

वह हम सबकी तरफ से कह रही थीं। बीच-बीच में हम अपने अनुभव भी सुना रहे थे। आखिर हम यह तय करके उठे कि अब से यह शिकायत न होने दी जाएगी। सोशल वर्कर्स को कानून के दायरे में रहकर काम करना होगा और कानून के बहाने हमको सताने वाले अफसर अब हमारी इमदाद करेंगे। लोकल गवर्नमेंट हमें अपना सलाहकार समझेगी, विरोधी नहीं।

शांति दल ने तोड़फोड़ करने वाली ताकतों को नाकाम बनाने का प्रोग्राम भी नेहरूजी के सामने रखा और उनकी पसंदगी ने सारे अधिकारियों को मजबूर कर दिया कि अमनपसंदों से सहयोग करें। शांतिदल पहले ही हर उस शख्स से मेंबर बनने की दरख्वास्त कर चुका था जो शांति को पंसद करता हो।

मैंने महसूस किया कि मुसलमानों में निडर होकर बोलने, बेधड़क और बेलाग

---

5. अपमान।

बात कहने वाले मौलाना हिफ्जुर्रहमान[6] की तरह इक्का-दुक्का लोग थे। ऐसी तमाम महफिलों में उनकी जुरअत[7] देखकर मैं तारीफ कर उठती थी। उन दिनों वही जमीअत-उल-उलमा के नाजिम[8] थे। उनकी एक राय होती थी और उस पर वे आखिर तक कायम रहना भी जानते थे।

और फिर कांस्टीट्यूशन हाउस में भी एक सम्मेलन हुआ और मृदुला ने साथियों को बताया कि बाहर के इस्लामी मुल्कों में हिंदुस्तान की मजारों और मस्जिदों के लिए कैसा विरोधी प्रचार हो रहा है और मिस्र व ईरान तक से कदमशरीफ[9] की दरगाह के बारे में सवालात हुए हैं। उस पार्टी के एक मेंबर को उन्होंने कदमशरीफ की बहाली और दुरुस्ती पर तैनात किया और रमजान से पहले-पहले मुसलमानों के निडर होकर आने-जाने के लायक बना देने का काम उनको सौंपा गया।

कांस्टीट्यूशन हाउस का कमरा नं. 61 तमाम प्रगतिशील संगठनों का केंद्र बन गया था और अक्सर बेकार नौजवान वहां आकर एक-दो महीने हमारे साथ काम करने के बाद अपने लिए तरक्की का रास्ता सोचा करते थे।

अब उन इलाकों में जहां जहर फैलाया गया था। जबरदस्त प्रचार शुरू कर दिया गया। वर्कर्स को ट्रेनिंग देने के लिए डॉक्टर हर्डीकर से दरख्वास्त की गई और दिल्ली के खाली मकान अलाट कराने और सील कराने के आंदोलन में भी शांति दल की सबकमेटियों के इंचार्ज और वालंटियर अधिकारियों की मदद कर रहे थे।

सील लगना और फिर मकान अलाट होना कोई आसान काम न था। यह मुश्किल काम आखिर तक आसान न हो सका और बदनामी ही शांति दल के सिर रही।

वैसे, पिछली सलाह और वादों के बाद अब हमें विरोध का सामना पहले की बनिस्बत कम ही करना पड़ता था, कम से कम किसी में हिम्मत न थी कि खुलकर विरोध करे। छिपे-चोरी जो चाहते करते। लेकिन बाज वक्त तो पब्लिक का हित सरकार के हित से टकरा जाता था और ऐसे मौके पर हम मजबूर होकर जनता का साथ देते थे। क्या किया जाता ? हालात ही कुछ ऐसे हो रहे थे कि सोचो कुछ और हो जाए कुछ।

मुसलमानों की भी अजीब हालत थी। उनके अंदर भी अभी मलिनता, नफरत और इंतकाम का जज्बा भरा हुआ था। वे पगड़ियां लेकर बयनामा करके हमें और भी

---

6. मौलाना हिफ्जुर्रहमान से मुलाकात पहले भी हुई थी मगर फिर 47 ई. से तकरीबन रोज का साथ रहा। फसाद के दिनों में मौलाना हिफ्जुर्रहमान अपने तीन साथी आलिमों के साथ गलियों से लेकर गवर्नमेंट हाउस और बिड़ला हाउस तक व्यस्त नजर आते थे। उनकी दिलेरी, दृढ़ता और ईमान की पुख्तगी ने मुझे बहुत प्रभावित किया।
7. हिम्मत।
8. प्रबंध करने वाले।
9. दिल्ली की एक दरगाह का नाम।

मुश्किल में डाल दिया करते थे।

एक बहुत बड़े मुस्लिम मुहल्ले के अमीर चुपके-चुपके गरीबों के मकान शरणार्थियों को पगड़ियां लेकर दे रहे थे और अपना बड़ा मकान उनको पेश कर देते थे कि जाओ, इसमें आ जाओ। बेवकूफ, गरीबी के मारे हुए अपना मकान छोड़कर उनके दिए हुए कमरे में उठ आए और फिर जल्द ही वे अपने मकान का बयनामा करके गरीबों को शरणार्थियों के रहम-करम पर छोड़कर पाकिस्तान चल देते थे। जब सीलें लगने लगीं तब भी उन्होंने यही चालाकी की कि गरीबों के मुहल्ले और गली को कस्टोडियन के हवाले करा दिया। मैंने देखा कि मुसलमानों की उस वक्त कही गई बात या किया गया अमल कोई भी विश्वास के योग्य नहीं रह गया था। पहली बार जब मुझसे एक शख्स ने आकर कहा कि अदालत कहती है तुम्हारी अपनी गवाही ही काफी नहीं है, या तो एक हिंदू लाओ या दो मुसलमान। तो मुझे बड़ा गुस्सा आया और जिल्लत महसूस हुई कि खुदा की शान है, अब दो मुसलमानों का एक हिंदू के बराबर वजन तौला जाएगा। मगर चंद ही दिन बाद असलियत जाहिर हो गई। एक क्या, चार मुसलमान भी मिलकर उस वक्त अपने झूठ की बदौलत हिंदू से हलके थे क्योंकि पता न था कि वे किस वक्त देश छोड़कर चल दें।

लीग के कुछ सक्रिय मेंबर भी अभी हिंदुस्तान में मौजूद थे और उनमें के कुछ सुशील और यारबाश[10] लोग जब दिल्ली आते थे तो सारी कैबिनेट, गवर्नर जनरल और असेंबली के मेंबर, यहां तक कि कांग्रेस लीडर तक, मिलना जरूरी समझते थे। लेकिन कभी उन्होंने मुस्लिम पनाहगुजीनों को देखने, मुसीबतजदों का दुख सुनने और मुश्किलों में मदद करने की जहमत न उठाई।

वे लोग अब इस वक्त मजबूर हो रहे थे कि कांग्रेस से सहयोग करें और अपने मामलों को कांग्रेसी दृष्टिकोण से हल करें। जाहिर है, वे कहां तक अपने जज्बात पर काबू हासिल करते ? अपने मामलात को तय कराने में वे आज भी वही परंपरागत विमूढ़ता और पक्षपात से काम लेते थे। उनमें से किसी को एक दूसरे की ज्यादा परवाह न थी।

यहां मुहल्लों के अंदर हर पैसे वाला मुसलमान यह चाहता था कि किसी तरह बेच-बाचकर पाकिस्तान निकल जाए। उधर शांति दल वाले और नेशनलिस्ट मुस्लिम उनको रोकते थे कि गरीब पड़ोसियों पर रहम करो। तुम जाना चाहते हो तो जाओ, मकान न बेचो। तुमने या तुम्हारे साथियों ने उनके अपने मकान पहले ही छिनवा दिए हैं या रिफ्यूजी जबरदस्ती उन पर कब्जा कर चुके हैं। अब अगर अपने बड़े मकान के किसी कोने में उनको पनाह दे चुके हो तो उससे उन्हें महरूम न करो। जब अमन हो

---

10. मित्रगण।

जाएगा तो आकर बेच डालना। हम तुम्हारे घरों में बेघरों को लाकर बसा देंगे, किराया न मांगना, मिल्कियत तुम्हारी महफूज रहेगी।

लेकिन वे क्यों सुनते ? वे रातोंरात पगड़ी के हजारों रुपए लेकर रफूचक्कर हो जाते थे। वालंटियर भूखे-प्यासे पहरा देते रह जाते। और वे अपने रास्ते में उन्हें रुकावट समझकर उल्टे अधिकारियों से उनकी शिकायतें कर देते। पुलिस वैसे ही खार खाए बैठी थी, उसे एक बहाना मिल जाता। फौरन शांति दल के खिलाफ एक केस बन जाता।

जुलाई की चर्चा का एक नतीजा यह जरूर हुआ कि ऐसे केस और विरोध छिपे-चोरी होने लगे, खुल्लम खुल्ला न होते थे। मुलाकातें, बातचीत सब दोस्तों की तरह होती थी और फिर कस्टोडियन का महकमा, उसे भी गरीबों से कोई हमदर्दी न थी। उधर वही सक्रिय लीगी जमीअत में घुस रहे थे। उनको देखकर नेशनलिस्ट मुसलमान अलग चिढ़ते, कांग्रेसी जुदा मुंह बनाते। मकानों के मामले में भी वे आगे-आगे थे। उनसे समझौता करने पर हमारे कार्यकर्ता किसी तरह तैयार न थे लेकिन उलमा के दामन में पनाह लेने वाले लीगी अब हुकूमत में अपना असर-रसूख बढ़ाने के लिए हाथ-पैर मार रहे थे। उनमें कुछ अपना व्यापार बढ़ाना चाहते थे, कुछ अच्छे दामों पर अपनी जायदाद बेचने के इच्छुक थे और कुछ हिंदुस्तान व पाकिस्तान दोनों के शहरी बनने के सच्चे दिल से इच्छुक थे।

एक साहब ने तो एक कांग्रेसी मुसलमान के जरिए मुझे मुहल्ले में मरकज-ए-तालीम-ओ-तरक्की और शांति दल का आफिस खोलने के लिए कई हजार की पेशकश की बशर्ते कि मैं उनको हिंदुस्तान का ट्रेड कमिश्नर बनवाकर पाकिस्तान भिजवाने की कोशिश करूं। लुत्फ यह है कि हमारे सीधे-सादे नेशनलिस्ट भाई बड़े जोरों में उनकी वकालत कर रहे थे। उनका खयाल था, सरमायादार से रुपया हासिल करने में कोई हर्ज नहीं। मकान और रुपया दोनों चीजें हासिल हो रही हैं इस मुहल्ले में हमारा मिशन इसी सूरत में कामयाब हो सकता है, जब यहां के अमीरों को हम मुट्ठी में रखें। मेरे इंकार पर उन्हें सख्त मायूसी हुई, वे बेचारे इसको दियानतदारी या उसूल के खिलाफ समझते ही न थे।

उधर जिन देहातों में लोग वापस आ रहे थे, उनकी बुरी हालत थी। वे तो बस गए मगर गरीबी और बदहाली की हद न थी। देहात का असली काम खेती-बाड़ी था, मगर उनकी जमीनें अब तक कस्टोडियन के पास थीं जिसके सबूत और फैसले में महीनों की देर थी। वे लोग, जिनके खेत स्थानीय हिंदुओं के कब्जे में थे, हम लोगों के समझाने-बुझाने से फिर अपने खेत वापस लेने में कामयाब हो गए या फसल कटते ही उन्होंने खुद जबरदस्ती कब्जा जमा लिया और इस तरह अपनी मिल्कियत हासिल कर ली। वे भी तो नई जुताई से मजबूर थे। न उनके पास हल, न कुदाल, न फावड़ा।

कुछ लोगों ने कर्ज लेकर हल-बैल खरीद लिए लेकिन इस खबर ने हमें और ज्यादा फिक्रमंद कर दिया कि जल्द कोई सूरत निकालें। अगर सरकार ने तकाबी[11] न दी तो यह कर्ज कैसे अदा होगा और एक दो फसलों के बाद असल व सूद मिलाकर जमीन महाजन की भेंट चढ़ जाएगी। ये फिर वैसे के वैसे ही रह जाएंगे। महाजन उस वक्त बड़ी मुहब्बत और उदारता से कर्ज देने पर तैयार थे। खूब लंबी सूद की दर पर अपने पुराने साथियों की आवभगत करते हुए वे रकम पेश कर दिया करते थे।

11. मदद।

19. अगस्त से सितंबर तक

जिन मुसलमानों की शुद्धि हो चुकी थी, उन्होंने भी उन दिनों बहुत हैरान कर रखा था। जमीअत और पाकिस्तान आफिस को बराबर अर्जियां दे रहे थे। मैंने जमीअत वालों से कहा कि अपना एक आदमी मेरे साथ कर दीजिए तो मैं जाकर उन लोगों से बात करूं। अपने साथियों को तो उस वक्त मुस्लिम जायदाद की फेहरिस्त बनाने, दुबारा बसाने और उनके खेतों में नई फसल बोने के लिए कार्रवाई करने की जल्दी थी वरना हमने जो किया था वह सब बेकार जाता। कुछ जमीन कस्टोडियन के कब्जे में थी। मगर उन तमाम हालात की तहकीक की जरूरत थी और यह काम मेरे बस का तो था नहीं, इसे तो वही लोग कर सकते जो अदालत और जमींदारी की मुकद्दमेबाजी का तजुर्बा रखते हों।

बहरहाल हमारी पार्टी दो टुकड़ियों में बंट गई। किसी-किसी दिन हमारा काम एक ही होता, किसी दिन अलग और स्वामीजी हमारे सहयोगी हो गए। उन्होंने बहुत सारे गांव हमें दिखाए। जमीअत के एक साहब को लेकर जब मैं उन दो गांवों में गई जहां के ग्यारह सौ मुसलमान, जिनकी शुद्धि की गई थी, पाकिस्तान को अपनी रिहाई की दरख्वास्त भेज चुके थे। इससे पहले भी मैं एक बार यहां आ चुकी थी और उनसे हालात पूछने के बाद यह सवाल किया था, "यह मस्जिद किसने तोड़ी ?" तो उन्होंने लापरवाही से जवाब दिया था कि यह तो तब की बात है जब हमारी शुद्धि हुई थी। हमने अपने आप इसको भी तोड़ा था।

मैंने कहा इससे क्या फायदा हुआ ? तुमको नहीं जरूरत थी तो यों ही रहने देते, शायद किसी और को जरूरत पड़े। जवाब मिला अब यहां कौन मुसलमान है जो नमाज पढ़ेगा ? न कोई आएगा।"

यह सब सुनकर मुझे भी उनका कहना ठीक मालूम हुआ था "हम राजी-खुशी हिंदू बन गए हैं हम तो जाट हैं, पहले भी हिंदू थे, अब फिर एक हो गए।" लेकिन ऐसा न था। वे धोखा दे रहे थे और पाकिस्तान को खुफिया दरख्वास्तें भी भेज रहे थे।

ये दो सालिम गांव थे जिनकी ज्यादातर आबादी मुस्लिम थी। ऊंचे, तगड़े, उजड्ड और जाहिल किस्म के लोग इसमें बसते थे। एक दिन जब हम पहुंचे तो यह खबर सुन कर आए थे कि यहां से दस-बारह आदमी पाकिस्तान भाग गए हैं और कुछ उलमा

के पास आए थे कि हमारी मदद करो।

हमें नजफगढ़ में कई कांग्रेसी भी नजर आए। यहां कांग्रेस आफिस भी खुल गया था। दो आदमियों को साथ लेकर स्वामीजी की मौजूदगी में हमने बातचीत शुरू की। पता नहीं डर गए या क्या वजह हुई साफ मुकर गए।

"ना साहब, हममें से तो कोई गया नहीं। हम तो गांव में से नहीं निकलना मांगते। हमने तो कोई दरख्वास्त नहीं दी। हम तो अपनी मर्जी से शुद्ध हुए हैं। होगा कोई जिसने हममें से खबर पहुंचाई।"

इतनी सफाई से वे सब यह कहते रहे कि मुझे भी यकीन आ गया। जरूर किसी ने उलमा को गलत खबर कर दी है।

वापस आई तो मौलाना हिफ्जुर्रहमान ने कहा आप मुकामी कांग्रेसियों को लेकर गई थीं, इसलिए वे डर गए। अबकी तन्हा[1] जाइए और आपके साथ दफ्तर के एक साहब जाएंगे, वे उन आदमियों को पहचानकर पूछेंगे जो हमारे यहां आए थे।

दूसरे दिन जमीअत के एक साहब को लेकर फिर पहुंची। यह तीसरा चक्कर था और आज उनका रंग भी बदला हुआ था। उन्होंने इकरार किया कि हां हम गए थे।

मौलवी साहब ने पहचानकर पूछा, "कल तुमने क्यों इंकार किया ?"

जवाब मिला, "हम डरे। कहीं पता लग जाए और आफत हो जाए।"

लेकिन वे सब आखिरी वक्त तक यही इसरार करते रहे कि हमें पाकिस्तान पहुंचा दो। यहां हम खुल्लम-खुल्ला मुसलमान होकर नहीं रह सकते। ग्यारह सौ आदमियों को गांव से ले जाकर पाकिस्तान भिजवाना या कहीं और रखना नामुमकिन था। उनको दुबारा बसाना भी एक मुश्किल मसला था और फिर थोड़े से आदमी थे जो पाकिस्तान जाना चाहते थे, बाकी तो इस पर भी तैयार नहीं थे। गांव से भागने पर राजी थे।

हमने समझाया कि तुम्हारे इत्मीनान और हिफाजत का सब बंदोबस्त हम करा देंगे। विनोबाजी को यहां लाकर प्रार्थना सभा कराएंगे और भाई-बिरादरी के सामने ऐलान करा देंगे। फिर कोई तुमसे न बोल सकेगा। भागने का इरादा न करो, ठीक से रहो जिस तरह पहले रहते थे, उसी तरह।

एक बड़े मियां बोले—साहब, वह तो चालीस गांव की पंचायत करके एक तहसीलदार साहब के सामने हम हिंदू बने थे और उनसे भी बड़े अफसर से पूछताछ कर, इजाजत लेकर यह सब किया गया था। अब कौल[2] दे चुके हैं। बात बदल कर फिर यहां रहें तो उन पंचों को क्या मुंह दिखाएंगे ?

मेरा जी जल गया। मैंने कहा—बड़े मियां, यह तुम्हारी उम्र और ये बातें ? साठ

---

1. अकेला।
2. वचन।

बरस तक तुम मुसलमान रहे और एक साल से हिंदू हुए हो। साठ बरस का कौल तोड़कर तो मुझे और मौलवी अनीस[3] को मुंह दिखा रहे हो और एक साल का कौल तोड़कर उनको न दिखा सकोगे ?"

उनमें से एक आदमी, जो पढ़ा-लिखा नौजवान था और उस हालत से बेहद तंग मालूम हो रहा था बोल उठा, "जनाब सच्ची बात तो यह है कि मैं जाना चाहता हूं और भी कुछ आदमी हैं जो जाना चाहते हैं। कुछ यहां रहना चाहते हैं। ये लोग तो जाटों के साथ मिलकर धार[4] भी चढ़ते थे। जब सारे जाट इकट्ठे होकर मुसलमानों के गांव पर धावा बोलते थे तो ये भी जाया करते थे।"

यह सुनकर लोग उनसे लड़ने लगे। हम लड़ते कहां थे, हां साथ होते थे। वह तो जाना ही था, क्या बिरादरी का कहा न मानते ?

वह बोला, "यही सही, बहरहाल तुम हिंदू हो चुके हो तो रहो। दरख्वास्त देने तो हम लोग गए थे। जो नहीं रहना चाहते उनको तो निकलवा दीजिए।"

लेकिन मैं उनको छोड़कर चली आई। मैंने कहा, तुम जाट हो और तुममें इतनी हिम्मत भी नहीं कि अपने मजहबी अकीदों[5] का ऐलान दिलेरी से कर सको तो फिर ऐसे मुसलमानों की इस्लाम को जरूरत भी नहीं है। इस दुमुंही जिंदगी से मैं तुमको नहीं बचा सकती। दो-तीन घंटे के अंदर भी तुम किसी फैसले पर नहीं पहुंच सके। तीन बार आकर मैंने हुज्जत पूरी कर दी। अब तुम अपने लिए खुद ही कोई रास्ता ढूंढो। मैं पाकिस्तान भेजने का बंदोबस्त न करूंगी। यहां ठहरो तो तुम्हारे लिए हर मुमकिन इंतजाम करा दूंगी। गवर्नमेंट को इससे कोई मतलब नहीं हिंदू रहो या मुसलमान लेकिन आदमी बनो। मुझे नहीं मालूम फिर इन सबका क्या हश्र हुआ। पूछने को जी न चाहा।

सुनती हूं एक पाकिस्तानी ट्रक कई दिन तक गश्त करता रहा और जितने जाने वाले थे उसमें चले गए। यह ट्रक अपने आप तो चला न गया होगा ? पाकिस्तान गवर्नमेंट ने जबरदस्ती तो दिल्ली सूबे में गश्त न कराया होगा। किसकी मर्जी से ऐसा हुआ ? किसने इजाजत दी, मैंने यह भी जानने की जहमत न उठाई।

अलबत्ता उन्हीं दिनों एक और गांव में उस ट्रक के पहुंचने की खबर सुनकर और यह मालूम करके कि वहां से भी दस-बारह आदमी जा चुके हैं हमारे साथी गरम हो गए। वहां गए, उन सबको डांटा, धमकियां दीं, समझाया और फिर दूसरे दिन मुझे साथ लेकर पहुंचे कि उनको तसल्ली दूं। काफी देर तक मैंने उन सबसे बातचीत की। बड़ी खूबी से तकरीबन हर विषय पर उनके खयालात पूछे और फिर राष्ट्रीयता के नजरिए और लोकतंत्री सरकार का अर्थ बताकर उनको समझाया कि यह दो-अमली, यह दुमुंहा

3. मौलवी अनीसुल हसन मौलाना हिफ्जुर्रहमान के खास विश्वासपात्र, बेहतरीन अरबी ज्ञाता और अनथक काम करने वाले जमीअत-उल-उलमा के आफिस सेक्रेटरी भी थे।

4. धार का अर्थ है हमला या धावा।

5. धार्मिक विश्वास।

व्यवहार न तुम्हारे लिए अच्छा है, न हुकूमत को इससे फायदा है। लोग ध्यान से सुन रहे थे, प्रभावित हो रहे थे और बारिश का तूफान पूरी शिद्दत से आ रहा था। मेरे साथियों को परेशानी थी कि अब चलना चाहिए। कुछ लोग चाहते थे कि किसी तरह हम रुख्सत हों लेकिन मैं बात पूरी करके उठी और तब उनमें से बहुत से यह कह रहे थे कि जान के डर से हमने यह किया था और जब यहां मुसलमान बनकर ठहर सकते हैं तो फिर हम पाकिस्तान क्यों जाने लगे ?

लेकिन मुझे अफसोस है बहुत ही कम जगह मैं पहुंच सकी। बहुत कम मौका मुझे मिल सका कि उस बेचैनी को दूर कर सकूं। खुद अपने साथियों में भी कुछ लोग ऐसे थे जो ऐसे काम में अपने मजहबी विश्वास के कारण मेरा साथ न दे सके। मैं उन पर दोष नहीं लगातीं। शायद मैं भी पाकिस्तान में होती और मुझसे कहा जाता कि जाओ उन हिंदुओं को जो मुसलमान बन गए हैं फिर हिंदू बनकर रहने की इजाजत दे दो तो मैं नहीं कह सकती हूं ऐसा कर सकती या नहीं। मजहब का ख्याल क्या मुझे इतना होने देता कि हिंदुओं के दिलों की बेचैनी दूर कर सकूं। बिल्कुल यही हाल यहां के हिंदू भाइयों का था। वे भले लोग सब काम कर लेते थे लेकिन जिनकी शुद्धि हो चुकी थी उन लोगों को फिर मुसलमान बनने पर मजबूर करना उनके वश में न था। मजहब, धर्म लोगों को कितना प्यार होता है ?

उसी गांव में तीन आदमी हमें मिले। उन्होंने बहुत ही दिलचस्प अंदाज में किस्सा सुनाया कि हमारी और गांव के मुसलमानों की एक ब्याह के मौके पर लड़ाई हो गई। तब हमसे मुसलमानों ने कहा कि जब तुम ऐसा बर्ताव हमसे करते हो तो हम भी हिंदू बन जाते हैं और हमने उसी वक्त नाई के आगे अपना मुंडा रख दिया कि ले चुटिया बना दे। बस उस दिन से आज की घड़ी तक हम तो हिंदू हैं। भला उनसे मैं क्या कह सकती थी ? क्या पता अब फिर किसी दिन वे चुटिया के बजाए दाढ़ी और केस बढ़ा लें ?

गतिविधियां

जुलाई से अगस्त तक देहातों में जमीनों के मामले तय होते रहे। हैदराबाद में रजाकारों का जोर था। इसलिए अक्सर गांवों में हमसे सवाल होता था कि आखिर हमारी सरकार हैदराबाद को ढील क्यों दे रही है ?

एक जगह दो-तीन नौजवान मुझसे कहने लगे कि माताजी एक बात बताइए, हम दो भाई आपस में जमीन और घर का बंटवारा करते हैं तो अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग हो जाते हैं। फिर कोई एक दूसरे पर अपना हक नहीं जताता। और यह हिंदू-मुसलमान का मामला भी ऐसा ही है। जब आपने अपना चौथाई हिस्सा ले लिया तो फिर हिंदुस्तान पर आपका क्या हक ? और मुसलमान यहां क्यों डटे हुए हैं ? उसने कहा, जब तक भाई भाई एक घर में रहे, सब चीज एक में ही रही, सबका दावा रहा। जब बंटवारा हो गया तो फिर हक का दावा कैसा ?

कितना सीधा-साधा सवाल था ? यही सवाल हर हिंदू की जबान पर था और गांव के सयाने लोग बच्चे-बच्चे को बताते थे कि यही सवाल करो और मुसलमान ! उनके पास जवाब ही क्या था ? लेकिन मेरे पास जवाब था। मैंने देर तक उनके सवालात सुने और जवाब दिए और आखिरकार उनमें से दो को अपना हमखयाल बना लिया। बाकी झगड़ते रहे। हमारे मुस्तैद हमराही किसी को सवाल करने और सोचने का मौका नहीं देते, न देना चाहते थे। वे इसको हमारी नासमझी समझते थे और वाकई यह चीज थी भी जमींदारों और हाकिमों के उसूल के खिलाफ। लेकिन हमारे दिमागों में तो खुद की हलचल थी, हम दूसरों की उथल-पुथल कैसे न देखते। कांग्रेस के बुनियादी उसूलों से बचना और लोकतंत्र के जमाने में डिक्टेटरों का-सा जुल्म और जब्र का रवैया भला मैं कैसे इख्तियार कर सकती थी ? इसलिए मुझे तो खोद-खोदकर पूछने में लुत्फ आता था। मैं तो उनके दिलों में झांकना चाहती थी।

आम मुसलमानों में हैदराबाद के लिए न कोई बेचैनी थी न जोश-खरोश मगर पढ़ा-लिखा तबका और धनिक लोग चिंतित थे और ऐसा मालूम होता था कि अगर लड़ाई छिड़ी तो घमासान लड़ाई छिड़ जाएगी लेकिन जब वक्त आया तो "खुद गलत बूद आंचे पंद आश्तेम" ।[6] तीन दिन में किस्सा खत्म हो गया। उससे पहले बार-बार लोग सवाल करते थे कि आखिर सरकार डरती क्यों है ? हैदराबाद में लड़ाई क्यों नहीं छेड़ देती ? किस्सा तो खत्म हो गया मगर इस सिलसिले में भी गरीबों के सर जासूसी का कागजी बबाल डाला गया। गिरफ्तारियां हुईं, घरों में फाके हुए, निर्धन औरतें बिलबिला कर रोईं, बच्चे तड़पे और सचमुच के जासूस जहाज के टिकट लेकर खैर से पाकिस्तान सिधार गए।

उधर कश्मीर बच्चे-बच्चे की जबान पर था। न जाने क्यों देहातों में कश्मीर के इतने तजकिरे थे, इतनी फिक्र थी और इतना जोश था ? अब एक मसला और पैदा हो गया। ज्यादातर मुसलमानों के काश्तकार हरिजन थे। और जब मुसलमानों की छोड़ी हुई जमीन चूंकि शरणार्थियों को अलाट हो रही थी जो खुद काश्तकार[7] थे इसलिए हरिजन तेजी से काश्तकारी के हक से महरूम हो रहे थे। हर गांव में उनके ताल्लुकात शरणार्थियों से खराब हो रहे थे। मुसलमानों की लूटमार करने के बाद उनकी हिम्मत बढ़ गई थी। नैतिक गिरावट जब चरम सीमा को पहुंच जाती है तो अपना-अपराया कुछ नहीं सूझता। वही हाथ जो मुसलमानों को नोच-खसोट चुके थे अब शरणार्थियों की तरफ बढ़ रहे थे। जाट और हरिजन धीरे-धीरे जरायमपेशा कौम बनते जा रहे थे।

हमने अपनी रिपोर्ट[8] में इस खतरे का भी इजहार[9] किया कि अगर फौरन नैतिक

---

6. जो खुद मस्त है वह किसी को क्या उपेदश देगा।
7. इसी सिलसिले में मुझे एक और बात मालूम हुई कि दिल्ली प्रांत में हरिजन पट्टे पर जमीन ले सकते थे मगर जमीन के मालिक नहीं बन सकते थे, यानी जमींदार नहीं बन सकते थे।
8. हर रोज की हमारी रिपोर्ट का अंग्रेजी में अनुवाद होकर ऊपर भेजा जाता था, ज्यादातर पंडितजी को।
9. व्यक्त।

सुधार का बंदोबस्त न हुआ तो दिल्ली प्रांत जरायमपेशा[10] कौमों की बस्ती बन जाएगी।

ऐसे भी गांव हमने देखे जिनमें फसाद से पहले मुस्लिम आबादी का बहुमत था। जब गांव उजड़ा तो संख्या की कमी की वजह से हरिजनों या दूसरी हिंदू जातियों ने भी दूसरा ठिकाना ढूंढ़ा। लेकिन जब हमने उन्हें फिर नए सिरे से आबाद करने की कोशिश की तो मुसलमानों के आते ही हिंदू भी वापस आ गए और चूंकि मुसलमान कम तादाद में वापस आए थे, इसलिए रिफ्यूजी भी लाकर बसाए गए। गांव तो भर गया लेकिन तीन किस्म के शरणार्थियों में से जो सबके सब मुसीबतजदा थे, सब मुहताज थे और सभी को मदद दरकार[11] थी। मुसलमानों की इमदाद शांतिदल कर रहा था, रिफ्यूजियों की इमदाद और बहाली महकमा। रह गए स्थानीय हिंदू आखिर वे किसके पास जाएं ? उसके लिए कोई महकमा न खोला गया था। हमें खुशी हुई जब इस तीन तरह की आबादी में मेल-मिलाप कराने और इमदाद करने के लिए हमने अपनी सेवाएं पेश कीं और उन सबके लिए सस्ते राशन की दुकानें खुलवाने में हमारी कोशिश कामयाब हुई।

पंद्रह अगस्त के लिए भी तो पहले से पेशबंदी करनी थी। शांति दल का समूचा विभाग खासा जोरदार था। उसने बड़ी प्रशंसनीय सेवाएं[12] पेश की।

हमने देखा कि स्थानीय लोग अजीब-सी कशमकश में मुब्तला थे। वे देख रहे थे कि जो दल नया आया है यह इल्म, सेहत, सूरत और मेहनत में उनसे ऊंचा है। उनमें से एक संगठन हथियारबंद भी है इसलिए उन्हें अंदेशा पैदा हो गया था कि अगर ये हिंदुस्तान पर छा गए तो बहुत जल्द हर क्षेत्र पर कब्जा कर लेंगे। व्यापार तो पहले ही हाथों से निकला जा रहा है, अगर रोक-थाम न हुई तो व्यापार और सरकार दोनों पर उनका राज हो जाएगा। यह सब सोचकर उन्होंने प्रांतीय भेद-भाव बढ़ाना शुरू कर दिया और शांति दल को उनसे भी झगड़ने की जरूरत पड़ गई।

इत्तिफाक देखिए, चूंकि उस वक्त गवर्नमेंट के तकरीबन हर महकमे में पंजाब से आए हुए लोग ज्यादा थे, इसलिए जब मुसलमानों के छोड़े हुए मकान और नई बनी दुकानों और क्वार्टरों का अलाटमेंट होने लगा तो सबसे पहले पंजाबियों का हिस्सा लगा। इस पर फ्रंटियर वाले बिगड़े कि आखिर हमारे साथ सौतेली औलाद का बर्ताव क्यों हो रहा है ? सिंधी चिल्लाते थे हमारा भी हक है, आखिर हमें क्यों पीछे ढकेला जा रहा है ?

हालात के तमाम पहलू और घटनाओं की अंधाधुंध रफ्तार देखकर तो कहना पड़ता है कि वाकई बड़ी सख्त जान थी हमारी सरकार, जो तूफान के इतने थपेड़े खाकर भी जीती बच गई। किश्ती उलटी-पुलटी भी नहीं, धीरे-धीरे रफ्तार बढ़ा ही रही थी।

---

10. गुंडे-बदमाश।

11. अपेक्षा।

12. मि. हरि कृष्ण लाल भगत उस महकमे के इंचार्ज थे, जो बाद में दिल्ली कांग्रेस के अध्यक्ष भी बने।

तकरीबन तीन हजार मकान मुस्लिम जोन में शरणार्थियों को दिए गए। ये वे मकान थे जिनको बड़बड़ी के खयाल से वालंटियरों ने लड़-भिड़कर रोक[13] लिया था और इस तरह मुस्लिम जोन खत्म हो गए। आबादी अब कुछ मुहल्लों को छोड़कर लगभग मिली-जुली हो गई। मेरी तो पहले ही इच्छा थी कि हालात नार्मल होते ही आबादी को मिला दिया जाए। मगर इस शर्त के साथ कि कोई किसी को मकान से न निकाल सके, छीन न सके, खरीद न सके। तभी यह नफरत और दूरी कम होगी। रहा मेलजोल कराना, तो वह हमारा काम है। हमें कोशिश करनी चाहिए कि मुस्लिम बिरादरी और हिंदू बिरादरी नहीं, इंसानी बिरादरी कायम हो सके।

लेकिन मुस्लिम लीडर डरते थे और अंदेशा बेजा भी न था। वे जरा मुश्किल से इस पर राजी हुई। मगर जब यह काम हो गया तो पता चला कि अधिकारियों का अंदाजा कितना गलत था। 24 हजार किंग्सवे कैंप के, हजारों कुरुक्षेत्र कैंप के और हजारों दूसरे कैंपों के शरणार्थी बदस्तूर बेघर रहे। फिर सरकार ने और रिलीफ कमेटी ने और मकान बनवाने शुरू किए और हजारों मकान बनने के बाद भी हजारों खानदान जाड़े में ठिठुरने के लिए बच रहे।

पुराने आसार[14], खंडहर, इमारतें, हुमायूं का मकबरा, सफदरजंग का मकबरा, अरब सराय, सब में पनाहगुजीं भरे पड़े थे और मझे यकीन है अगर उनको आसानी और सहूलियत के साथ वहां ठहराकर यह वादा ले लिया जाता, समझा-बुझा दिया जाता कि इन आसा रात को हिंदुस्तान के ऐतिहासिक भग्नावशेष समझकर बरबाद न करें तो शायद वे मान जाते। लेकिन इतना मौका ही कहां मिला ? न किसी को खयाल आया, न पुरातत्व विभाग ने इस तरफ ध्यान दिया कि उनकी हिफाजत का कोई बंदोबस्त कराएं।

हम सब कुछ कर रहे थे और आम हालात ठीक भी हो रहे थे। अकसर अफसरों से भी हमें इमदाद मिल रही थी, लेकिन वे नेकदिल अफसर जो मेरा हाथ बंटाते उनको अकसर झिड़कियां सुननी पड़ती थीं। जैसे लोकल गवर्नमेंट को शांतिदल से ख्वाहमख्वाह का बैर हो गया था या वह उन्हें चाहती ही नहीं थी। हालांकि असलियत यह है कि उन दिनों किसी पार्टी, यहां तक कि कांग्रेस तक की पूछ न थी। आखिरकार हममें से उग्रवादी वर्ग इस पर तुल गया कि अब इसके सिवा कोई सूरत नहीं है कि सरकार को मजबूर किया जाए कि वह लोकल प्रशासन में तब्दीली करे। अवाम की आवाज शांति दल के साथ थी, सभी पार्टियों की सहयाता और समर्थन शांतिदल को मिला हुआ था। तमाम शिकायतें, अंदेशे और प्रस्ताव ऊपर तक पहुंचाए गए और अपने जांचे-परखे जनरलों को हर पहलू से बाखबर कर दिया गया। आपस में खूब बहस-मुबाहिसा हुआ। एक को छोड़ सबकी एक राय हुई कि जब तक दिल्ली की हुकूमत न बदले सब

13. और अब उनको रोकने की जरूरत न थी। वक्त आ गया था कि आबादी मिली-जुली हो जाए।
14. नींव।

करना-धरना बेकार है। अगर ऐसा न किया गया तो दिल्ली की शांति सुनहरा ख्वाब बनकर रह जाएगी और हम उपद्रवियों का खिलौना बन जाएंगे। हम कुछ तय करके आते हैं, यहां अपनी मनमानी हो चुकती है। शांति दल को नुकसान पहुंचाने और उसे तोड़ने के लिए अलग-अलग नामों से वालंटियर कार बनाई जा रही हैं। इसका बस एक ही इलाज है।

खुदा खुदा करके हमें कामयाबी नसीब हुई। सबने मिलकर खुशी मनाई और इस घटना को साल की दूसरी और बड़ी जीत करार दिया। ऐसा लगा जैसे फसाद की जड़ उखड़ गई।

अगस्त में मैंने बहुत कम देहातों का दौरा किया क्योंकि अब जो काम था वह ज्यादातर अदालती और कारोबारी था और उसमें मेरी अयोग्यता सर्वमान्य थी। कस्टोडियन के महकमे से झगड़ा तो रोज ही होता था। काम करने वाले दूसरे थे। झगड़ने वाली सुभद्रा और मृदुला थीं और हम सब उनका साथ दिया करते थे। इन दोनों की तो बराबर लड़ते ही गुजरती थी। एक दिन तो बहुत ही दिलचस्प घटना घटी।

कुछ लोगों ने जाकर सरकार के एक मंत्री को खबर दी कि फलां मुहल्ले में मकान खाली हैं। मुसलमानों ने बेईमानी यह की है कि बोगस और फर्जी लोगों को लाकर उसमें बिठा दिया है और सील नहीं लगाने देते हैं। इमदाद व बहाली और कस्टोडियन दोनों महकमों ने सलाह करके पुलिस भेज दी कि 12 बजे रात को जाकर मकान सीलबंद कर आएं।

मुहल्ले के लोग बेफिक्र बैठे थे कि पुलिस पहुंच गई और मकानों से जबरदस्ती लोगों को निकालकर ताले डालने शुरू कर दिए। मकान के मालिक जो भी हों लेकिन उसमें बसने वाले देहातों और फसाद वाले मुहल्लों से भागकर आने वाले गरीब मुसलमान थे। बाल-बच्चों समेत वे सब गली में निकाल दिए गए। शांति दल के वालंटियर रोकते रहे, किसी ने उनकी न सुनी। तब उन्होंने हेड आफिस फोन किया। फौरन मृदुलाजी आ पहुंचीं, सुभद्राजी आ गईं, उधर से अधिकारी पहुंचे। गरमा-गरमी और झगड़ा शुरू हो गया। तीन बजे रात तक हंगामा रहा। आखिरकार हुकूमत के एक मेंबर ने घटनास्थल की जांच की और उस गलती को इतनी शिद्दत से महसूस किया कि खुद ताले खोले, हाथ पकड़-पकड़कर बच्चों और गरीबों को मकानों में पहुंचाया और खुले दिल से उस सूरत पर अफसोस जाहिर किया।

सुबह होते लोग अपने घरों में, पुलिस अपने थाने में, लीडर अपने मकानों में पहुंचे और मामला बखूबी निपट गया। गलती सब चंद खुदगरजों की थी या सरकार के करप्ट मुलाजिमों की।

दिल्ली के हालात और हुकूमत क्या बदली अवाम और कार्यकर्ता दोनों के लिए दुनिया बदल गई। गतिविधियां तेज हो गईं। देहातों में तकावी और इमदाद भी गवर्नमेंट से मिल जाने की उम्मीद बंधी। पुलिस ने चोरी का माल ढूंढ़-ढूंढ़कर निकालना और

मुजरिमों को सजा देना भी शुरू कर दिया। चंद दिन पहले नए अफसरों और पनाहगुजीनों में चांदनी चौक की पटरियों से स्टाल हटा देने पर जरा टकराव हो गया था और सत्याग्रह भी चल पड़ा था। चांदनी चौक में पुरानी दुकानों के आगे दो-तीन कतारें लकड़ी और टाट वगैरह से बनी हुई दुकानों की हो गई थीं और पटरियों पर इस तरह दुकान लगाकर बैठने वाले दूसरों की बनिस्बत सस्ता बेचते थे। नतीजा यह हुआ कि पुराने व्यापारी सुबह से शाम तक मक्खियां मारते रहते। ग्राहक की शक्ल बहुत ही कम दिखाई पड़ती। जो आता पहली कतारवाला फिर दूसरा, फिर तीसरा रोक लेता और स्थानीय दुकानदार देखता रह जाता।

दुकानों की बड़ी तादाद ने ग्राहकों की तादाद भी बढ़ा दी थी और आलू, छोले, भल्ले खा-खाकर बीसियों दोने और केले-संत्तरे के छिलके सड़क पर बिखरे रहते थे। कनाट सर्कस की गंदगी भी आबादी बढ़ने से बढ़ गई थी। ऐसा क्यों था ? ये लाहौर से आने वाले जिन्होंने उसे दूसरा पेरिस बना रखा था, इतने खूबसूरत शहर के बसने वाले दर्दमंद, इज्जतदार इंसान आखिर इतने आलसी और असभ्य कैसे हो गए थे ? मैं अक्सर इस बात को सोचा करती थी लेकिन जल्दी ही उसकी असल वजह मालूम हो गई।

क्या वे बेगैरत[15] लड़कियां थीं ?

सितंबर में एक झगड़ा चुकाने के लिए सुभद्रा ने मुझे बाड़ा हिंदू राव जाने के लिए कहा कि आप जाकर एक पनाहगुजी मां और दो जवान बेटियों को समझाइए जो सारे मुहल्ले के लिए मुसीबत बनकर रह गई हैं। लोग उनसे परेशान हैं और वे किसी का कहना सुनती ही नहीं हैं।

सुबह मैं नवाबगंज पहुंची और मुहल्ले वालों की सारी शिकायतें सुनने के बाद मां और बेटियों को बुला भेजा। पड़ोसियों ने बताया कि वे दोनों जवान लड़कियां इतनी बेहया हैं कि बिना झिझक नाली पर बैठकर पेशाब कर लेती हैं। राह चलतों के सामने लेटी रहती हैं। बाहर के नल पर नहाती हैं और लोगों से हंसी-मजाक करती हैं। मां और बाप दोनों मौजूद हैं लेकिन वे उनको किसी बात से नहीं रोकते।

बूढ़ी औरत अपनी बेटी को लेकर आई और मैंने उससे सवाल किया कि ताज्जुब है आपकी मौजूदगी में आपकी लड़कियां इतनी भटकी हुई हैं। आखिर आप उन्हें मना क्यों नहीं करतीं ?

मेरा इतना कहना था कि लड़की फूट पड़ी। आंखों से आंसुओं का सैलाब[16] जारी हो गया। मां तो सफाई देने लगी, नहीं यह सब झूठ है, सब गलत है। हमें निकालने

15. निर्लज्ज।

16. बाढ़।

के लिए बहाना तराशा गया है। मेरी लड़कियां ऐसा कुछ भी नहीं करतीं, मुहल्ले वाले यों ही खार खाते हैं।

मगर लड़की ने रोका, "यह कुछ नहीं, पहले आप चलकर एक नजर हमारे रहने का ठिकाना देख लीजिए। फिर जो कहिएगा हमें मंजूर है।"

वह मुझे अपने घर ले गई। (अगर उसे घर कहना मुनासिब हो तो)। मुहल्ले के दुहरे पुराने फाटक का छत्ता काफी लंबा था जिसमें दोनों तरफ चार-चार कोठरियों के आगे बैठने के लिए दो बालिश्त चौड़ा लकड़ी का तख्ता लगा हुआ था। पुराने वक्तों में ये कोठरियां चौकीदारों के बैठने के लिए बनाई गई होंगी और अब उनमें पूरे-पूरे खानदान आबाद किए जा रहे थे।

यह कोठरी अंदर से दो-सवा दो गज लंबी और मुश्किल से चार फुट चौड़ी होगी। उस एक कोठरी की लंबाई-चौड़ाई देखिए और उसमें दो जवान लड़कियों और दो मां-बाप चार आदमियों के रहन-सहन पर गौर कीजिए। वे उसी में सोते थे, बैठते थे और दिन रात का बेशतर हिस्सा उसी में गुजारते थे। आगे निकले हुए तख्ते पर अंगीठी रखकर खाने की कोई चीज पका लिया करते थे। यह इतनी सी पटरी उनकी रसोई भी थी और बैठने की जगह भी।

दूसरी कोठरी में चाय की दुकान थी। सामने वाली कोठरी में दरजी मशीन रखे हुए कपड़े सी रहा था। गरज, सब कोठरियां अलग-अलग लोगों से आबाद थीं और उन सबके बीच में सड़क चल रही थी। मुहल्ले के अंदर आने और बाहर जाने वाले लोगों का तांता बंधा रहता था।[17]

लड़की ने रोते हुए कहा :

"आपने मेरा घर देख लिया, सब हाल देख लिया। अब बताइए इस कोठरी में तो हम चार आदमी लेट भी नहीं सकते। हममें से जब दो पटरी पर बैठते हैं तब दो आदमी आराम करते हैं। बाहर न बैठें तो सोएं कैसे ? नहाना-धोना सब उस सामने वाले नल पर न करें तो पूरा साल होने का आया है, बदन अब तक सड़ न चुका होता ? आखिर नहाने के लिए हम कहां जाएं ? सुबह होने से पहले जरूरतों से फारिग हो लेते हैं, लेकिन फिर भी बंदा-बशर[18] हैं। दिन में जब कभी हाजत होती है तो मजबूरन इसी नाली पर बैठना पड़ता है। यह देखिए, मैं इस तख्ते पर बैठती हूं तो क्या दुकान पर लोग मेरी खातिर से चाय पीना छोड़ देंगे ? वे तो जरूर ही आएंगे और मेरे उनके दरम्यान दो कदम का भी फासला न होगा। लोग कपड़े लेने या सिलवाने दरजी के पास जरूर ही आते हैं। अब अगर कोई यह समझता है कि वे मेरी वजह से आते हैं तो इसमें मेरा क्या कसूर ?

---

17. मुहल्ले में आने-जाने का सिर्फ यही एक रास्ता था।

18. मानव।

मैं हैरान खड़ी सारी कथा सुन रही थी और सोच रही थी कि अब क्या कहूं ?

मैंने कहा बेटी, जब दिन में जरूरत हुआ करे, किसी के घर में चली जाया करो। यों रास्ते में नाली पर न बैठा करो, यह तो शरम की बात है। इस पर वह और ज्यादा बिलबिलाकर रोई।

"भला कोई मुझे अपने घर में घुसने देगा ? कहने को तो सब बुरा कहते हैं लेकिन एक बार से दूसरी बार किसी के घर पानी लेने भी चली जाती हूं तो लोग दुतकार देते हैं।"

बेचारी शरणार्थी औरत ठंडी सांस भरकर कह रही थी :

हमारा भी पंजाब में एक घर था और इज्जत थी। यहां आकर ऐसे जलील बन गए हैं। कोठरी में सारे दिन भला कौन बैठ सकता है ? सब काम अंदर ही अंदर कैसे हो सकते हैं ? लोगों का जो दिल चाहे कहते रहें, बात तो जब थी कि दुखी समझकर कोई सहायता करता। हमदर्दी तो खाक, उलटे पांव टिकाने की जगह भी छीन लेना चाहते हैं।

लड़की ने कहा, यह रास्ता देखिए। इस पर सैकड़ों आदमी गुजरते रहते हैं अब वे चाहें अपने काम से आते हों या हमें देखने। हम उनको बुलाते नहीं हैं और उनको रोक भी नहीं सकते। हे भगवान !

भला मैं उनसे क्या कह सकती थी ? निश्चल खड़ी हुई रामकहानी सुनती रही। मुहल्ले के इज्जतदार लोग भला उस आह को क्यों सुनते ? उन्होंने इतना भी महसूस न किया कि मां की आंखों के सामने, बाप की जिंदगी में किसी मुसीबतजदा की इज्जत सरे-बाजार रुसवा[19] हो रही है। किसी की भरपूर जवानी सरेराह लुट रही है। बाग के दो खिले हुए फूल राहगीरों के जूते तले मसले जा रहे हैं। दो खानदानों की बुनियादें ढहाई जा रही हैं और सिर्फ उन मां-बाप की नहीं, अवाम की इज्जत, कौम की आबरू उस फाटक में मिट रही है। हाय, अफसोस !

दुखा हुआ दिल और परेशान दिमाग लेकर मैं वापस आई और सुभद्रा से कहा कि अगर तुमने इनको मकान न दिलवाया तो समझ लो गुनाह किया।

उन्होंने बताया दरख्वास्त जा चुकी है। मैं खुद कह चुकी हूं मगर किसी तरह कस्टोडियन उनको मकान नहीं दे रहा है। इतने मकानों का अलाटमेंट दूसरे लोगों को हो चुका है और इनका नंबर ही नहीं आता। पंद्रह दिन आज-कल करते गुजर गए हैं—और यह सुनकर मेरा जी चाहा कि इन कानूनी हस्तियों का दिल चीरकर उसमें एक इंसान का धड़कता हुआ दिल रख दूं। तब शायद इन गरीबों की आह उससे टकरा सके।

कोशिश होती रही और कहीं एक महीने के करीब लग गया तब जाकर उन

---

19. बदनाम।

मां-बेटियों को मकान मिल सका।

फाटक खाली हो गया। चाय की दुकान बदस्तूर चलती रही। दरजी कपड़े सीता रहा। अलबत्ता मुहल्ले वालों को यह इत्मीनान नसीब हो गया कि अब आवारा[20] लड़कियां यहां नहीं हैं। मगर ऐसी लड़कियों की तलाश में आवारा नौजवान बदस्तूर मुहल्ले और मुहल्ले से बाहर गश्त करते रहे।

अलबत्ता जिस बात पर मैं इतने दिनों से गौर करती रही थी वह उन औरतों का और फिर किंग्सवे कैंप का हाल देखकर मेरी समझ में आ गई।

किंग्सवे कैंप

सितंबर के आखिर में जब मैं सेवाओं[21] के इंचार्ज के साथ किंग्सवे कैंप गई तो शाम हो चुकी थी। हम इधर-उधर देखते हुए जहां कपड़ा बंट रहा था उस जगह पहुंच गए। लट्ठा, मलमल और धारीदार कपड़ों के थान शरणार्थियों में बांटे जा रहे थे। किसी के हिस्से में 16 गज, किसी को 30 गज, किसी को 5 गज बाल-बच्चों समेत दिया जा रहा था।

मैं इस चीज को छिपाना नहीं चाहती कि उस वक्त कपड़ों का इतना ढेर और बंटवारा देखकर मुझे पुरानी तहसील में पड़े हुए पनाहगुजीं मुस्लिम और मुहल्लों में बिखरे हुए चिथड़े लगे मुस्लिम महाजिर याद आ गए और खयाल आया कि इतनी कोशिश के बावजूद इस एक साल के अर्से में एक जोड़ा भी गवर्नमेंट से हासिल न कर सकी कि उनके तन ढांप सकूं। उनकी दरख्वास्तें हमारे पास आई थीं, लेकिन हम उन्हें लेकर किसी अफसर के पास या किसी कमेटी के पास न जा सकते थे। खुद जितना भी चंदा कर सकते थे किया। रिलीफ कमेटी से हमें कोई मदद न मिली क्योंकि वे सिर्फ हिंदू शरणार्थियों के लिए थी[22]।

लोकतंत्री सरकार मुसीबत के मारे हुओं में यह फर्क कर रही थी। सिर्फ एक प्रधानमंत्री ऐसे थे कि जब भी उनके आगे हाथ फैलाया खाली न पलटे। और उन्हीं की बदौलत हम कार्यकर्ताओं का मुंह इस लायक रहा कि दुबारा लोगों को दिखा सकें और दुनिया के सामने धड़ल्ले से खम ठोंककर ऐलान कर सकें हमारी सरकार जनता की है, उसके यहां भेदभाव नहीं है, यहां दया और न्याय सबके लिए है। उन्हीं की मदद थी कि मुसलमान सड़कों पर मरने के बजाए घरों में जिंदा रहने की कोशिश कर रहे हैं।

लेकिन यह खयाल तो सिर्फ एक पल के लिए आया। हमें तो अभी कैंप देखना

---

20. बेचारी शरीफ मुसीबतजदा लड़कियां।

21. शाह जी।

22. देहात से आए हुए दिल्ली वाले और पंजाबी देहाती भारी तादाद में शहर के कोने-खुदरे में सबमें पड़े हुए थे उनमें से कोई न पाकिस्तान गया था, न जाने को सोचता था।

था और शाम हुई जा रही थी। कैंप कमांडर ने हमें अपने साथ लेकर अलग-अलग हिस्से दिखाए। हमने सोचा अंधेरा हो जाने से पहले उन नए क्वार्टरों को देख लें जो बनवाए जा रहे हैं। आठ-आठ सौ की लागत में खासो भले मकान जिनमें एक किचन, दो कमरे, एक बरामदा था, तैयार हो रहे थे। चार सौ की लागत से कच्चे क्वार्टर भी बन रहे थे, वह सिर्फ एक कमरा व बरामदा था, बिजली-पानी लाने की भी स्कीम थी।

देखते-भालते हम खेमों के पास से भी गुजरे। तेल न मिलने की वजह से चिराग न जल सके थे और सब तरफ अंधेरा घुप्प[23] था। लोगों ने राशन, बच्चों को दूध और खेमों की शिकायत की और कहा कि यहां के इंचार्ज अफसर अपने रिश्तेदारों और दोस्तों को खेमे देते हैं और हम दो-दो खानदान एक खेमे में गुजारा कर रहे हैं। कैंप के एक कर्त्ता-धर्ता ने अपनी फैमिली के लिए दो खेमें छोड़े हैं। किसी ने धूप से बचने के लिए दुहरा खेमा लगा रखा है और हमें बारिश में मरने के लिए छोड़ दिया है। चूंकि रात हो गई थी इसलिए दूसरे दिन का वादा करके हम कैंप कमांडर के क्वार्टर में आ गए और उससे जरूरी बातें पूछीं, हालात मालूम किए। करीब ही ग्रंथ साहब का पाठ हो रहा था और बहुत से लोग एक शामियाने के नीचे बैठे सुन रहे थे।

चलते वक्त मैं पहले कार में बैठ गई। साथियों के आने में जरा देर लगी। वे कैंप कमांडर और दूसरे लोगों से कुछ बात कर रहे थे। इतने में पीछे की तरफ से कुछ खुसर-पुसर की आवाज आई। मुड़ के देखती हूं तो तीन-चार सिख चोरों की तरह मोटर के पीछे खड़े हैं। मुझे शक हुआ कि क्या बात है, कुछ बदनीयती है जो इस तरह छिपे खड़े हैं। लेकिन कुछ भी न था। शायद वे सिर्फ बात करना चाहते थे। धीरे-धीरे उनमें से एक आगे बढ़ा, अंदर झांका और कहा आपकी तारीफ ?

लहजे में व्यंग्य था, मुझे हंसी आ गई। मैंने कहा, "अब मैं क्या अपनी तारीफ करूं ?"

इतने में दो-तीन और आगे बढ़ आए। उन्होंने फिर पूछा, "आपका शुभ नाम ?"

मैं जवाब भी न दे पाई थी कि कैंप कमांडर और सेवाओं के इंचार्ज तेजी से आकर दरम्यान में खड़े हो गए। उन्होंने गुस्से से कहा :

"आप क्यों पूछते हैं ? हटिए रास्ता छोड़िए।" और जल्दी से दोनों दाएं-बाएं होकर उन लोगों के इधर-उधर हो गए।

मैंने खयाल किया रोकने से हुज्जत होगी और बात बढ़ेगी, इसलिए शाहजी से कहा कि नहीं, उनको आने दीजिए। जो कुछ ये लोग पूछना चाहते हैं पूछ लें। आप क्या कहना चाहते हैं ?

उसने फिर नाम पूछा। उन्होंने कहा, इनको मिसेज किदवई कहते हैं। क्या कहोगे ?

मैं देख रही थी कि वे लोग परेशान होकर जल्द रवाना होना चाहते थे। लेकिन

---

23. हालांकि तेल की उन दिनों मुश्किल न थी।

अब कई सिख मोटर के पास आ चुके हैं और कोई फायदा न होगा अगर बात सुने बगैर हम चले जाएंगे।

रोष बढ़ रहा था। वह बहुत कुछ कहता रहा जो सब मुझे याद नहीं। रात का वक्त, रोशनी नदारद और बिगड़े-दिल लोग। हमारे साथी ठहरने की बजाए फौरन रवाना हो जाना चाहते थे और अंदर ही अंदर कुछ डर तो मुझे भी लग रहा था, लेकिन फिर भी उनको जवाब तो देना ही था। मैंने नरमी के साथ कहा कि मैं आई तो थी इसी इरादे से कि आपका हाल देखूंगी, परेशानी और दुख आपके मुंह से सुनूंगी। लेकिन शाम हो गई है, परसों फिर आऊंगी। मेरा तो यहां आने का मकसद ही यह है कि जो कुछ हो सके आपकी मदद करूं, खिदमत करूं।

मेरे जवाब ने उनको कुछ ठंडा किया। कुछ देर और बातचीत करके हम लोग रवाना हो गए। रास्ते में शाह ने पूछा :

"आपा जी, उस वक्त जब ये लोग छिपकर खड़े हुए थे, आपके जी में क्या खयाल आया था ?"

मैंने कहा, कोई खास खयाल नहीं आया। मगर जरा अंदेशा हुआ था कि कोई झगड़ा न होने लगे।

कहने लगे, नहीं, अब किसी में यह हिम्मत नहीं है। खतरे की कोई बात न थी। कहने को तो उन्होंने यह कहा, लेकिन सच यह है कि डरे वे भी थे और इसीलिए कैंप कमांडर और खुद उनके दाहिने-बाएं हो लिए थे। चलते वक्त कैंप कमांडर ने कुछ कान में झुककर कहा। मुझे खयाल हुआ कि शायद मना कर रहे हैं। परसों मैं न आऊं इसलिए मैंने कह दिया परसों जरूर आऊंगी और उस आदमी से भी जरूरी मिलूंगी जो मुझसे कुछ कहना चाहता है। मैं वादा कर चुकी हूं।

तीसरे दिन गई और कई घंटे ठहरी। सारे वक्त कहती रही कि उधर चलो जिधर उस सिख ने बताया कि सिखों के खेमे लगे हैं मगर हमराहियों में से कोई न माना। टालते रहे और इधर-उधर घुमाते रहे। खुद रास्ता न जानती थी जो चली जाती। उस बेचारे बिगड़े-दिल से मुलाकात न हो सकी। पता नहीं वह क्या कहता ? क्या कहना चाहता था ?

फटी हुई आंखें, परेशान बाल और दुबला जिस्म लिए हुए एक बूढ़ा जोड़ा खेमें में लेटा हुआ था। औरत की उम्र पैंसठ की होगी, तो मर्द की सत्तर बरस की। दोनों बूढ़े कमजोर, बीमार जोर-जोर से खांस रहे थे। अपनी मायूस, चुंधियाई हुई आंखें खोल कर उन्होंने हमें देखा। ये बूढ़े मियां-बीवी जिन्होंने अपनी जवानी पंजाबी के हरे-भरे खेतों में गुजारी होगी, बुढ़ापा चंद चीथड़े ओढ़कर ऐसे खेमें में गुजार रहे थे जिसे मैंने छुआ तो टुकड़ा हाथ में चला आया। इनके बच्चे क्या हुए ? इन्हें कौन पकाता-खिलाता होगा ? किस चीज को देखकर इनकी आंखें ठंडी होती होंगी ? आह, शायद सुकून की मौत भी अब इनकी किस्मत में नहीं है। मैं यह सब सोचती हुई आगे बढ़ गई।

दूसरे खेमें में बहुत से बच्चे थे और शायद उनमें दो-तीन खानदान भी रह रहे थे। मांएं हमें देखकर कहने लगीं :

इन बच्चों को दूध भी तो नहीं मिलता। सरकार से टिन आते हैं, मगर वे न जाने किसके पेट में चले जाते हैं। इन्हें दूध के नाम से जो चीज मिल रही है वह हम अभी तुम्हें दिखाते हैं। यह कहकर वह मैला-सा आटा उठा लाई। उसे एक कटोरे में घोलकर मेरे हाथ में दे दिया। पाउडर की तह नीचे जम गई थी और पानी ऊपर था। किसी ऐसी चीज का पाउडर था जो पानी में घुल न सकी। मैंने एक लिफाफे में थोड़ा-सा खुश्क पाउडर नमून के तौर पर ले लिया।

यह नमूना लेकर आगे बढ़ी तो दूसरे सिरे पर एक औरत रोटी लेकर दौड़ी। समझ में नहीं आता था कि रोटी मिट्टी की है या किस चीज की। शायद हर किस्म का अनाज मिलाकर दिया गया था। लेकिन हकीकत थी कि अनाज के वजन के बराबर मिट्टी भी मिली हुई थी।

मुझे याद आया कि मार्च में जब मैं गुड़गांव में अलवर के आठ हजार पनाहगुजीनों का कैंप देखने गई, जो पाकिस्तान जाने वाली गाड़ी के इंतजार में पड़े हुए थे और जरा-जरा सी छतगीरी[24] उनमें से बहुत-से को दे दी गई थी तो वहां भी औरतों ने मुझे ऐसी ही रोटी दिखाई थी और मुस्लिम कार्य-कर्त्ताओं ने कहा था कि मुसलमानों को रोटी तक अनाज की नहीं दी जा रही है। लेकिन वही रोटियां यहां हिंदू रिफ्यूजी भी खा रहे थे।

लेकिन यह कैंप तो हिंदुओं से भरा हुआ था। उसके कार्यकर्त्ता हिंदू थे। इमदाद करने वाले हिंदू थे। वहां का हाल देखकर यकीन हो गया कि हवस और खुदगरजी अपना पराया नहीं देखती। वह निजी फायदे के लिए अपनों का भी गला घोंट सकती है।

बेवाओं का एक झुंड हमारे पीछे लग गया कि आखिर गुजारे की कोई सूरत कराओ। मशीन हमें दिलाओ। मैंने कहा भई, लिखकर दे दो। लेकिन शाहजी ने टोका। नहीं, यह अर्जी सेंट्रल रिलीफ कमेटी को जाकर दो। वे लोग मशीन दे रहे हैं और बेवाओं की इमदाद कर रहे हैं। हम इसमें कुछ नहीं कर सकते।[25]

एक मैदान में स्काउट मास्टर बच्चों को ड्रिल करा रहे थे। सबने फौजी सलाम किए। मैंने कहा :

"जरा ख्याल रखना, कहीं संघ की हवा न लग जाए।"

शाह जी हंसे, नहीं इससे तो इत्मीनान रखिए। ये तो स्कूल के बच्चे हैं और यहां बाल निकेतन के नाम से भी एक बेहतरीन स्कूल चल रहा है। वह देखने लायक है।

दूसरी लाइन में फिर हमें दूध का एक नमूना मिला और उस पाउडर से पानी में दूध जैसी सफेदी आई मगर नीचे मिट्टी की तह-सी जम गई। आटे और दूध के नमूने

---

24. परछती।

25. अर्जियां बाद में पेश की गईं और उन्हें मशीनें मिलने लगीं।

लेकर हमने खेमों की जांच की और वाकई दो खेमे एक खानदान के पास देखे और बीस आदमी एक खेमे में देखने को मिले और ऐसे लोग भी देखे जिनके पास कोई खेमा नहीं था। अपनी जांच-पड़ताल पूरी करने के बाद हमें बाल-निकेतन देखना था लेकिन आज फिर शाम हो गई और वापस आना पड़ा।

सारी रिपोर्ट हमने शांति दल को दे दी। दूध के नमूने भी दिए कि किसी केमिस्ट को दिखा लिए जाएं ताकि पता चले क्या-क्या चीजें उसमें मिली हुई हैं। बच्चे बड़ी तादाद में बीमार हो रहे थे और यह दूध पीकर तकरीबन हरेक को दस्त आने शुरू हो जाते थे। मेरा अपना अंदाजा था कि एक पाउडर में तो सिंघाड़े का आटा और दूध का पाउडर था, दूसरे में सोडा, आटा और किसी दूसरी चीज की मिलावट थी।

उस कैंप के बेशुमार[26] लोग चांदनी चौक वगैरा में फुटपाथ पर दुकान लगाते थे। बहुत से सरकारी कर्मचारी थे, पुलिस के महकमे में थे, ठेकेदारी करते थे, बढ़ई वगैरह थे और अब ये सब थोड़ा-बहुत कमा लेते थे। इसके अलावा बेशुमार बेवा औरतें थीं। बूढ़े लावारिस बच्चे और गरीब किसान लोग थे जिनका एक मात्र सहारा सरकार द्वारा दिया जाने वाला राशन था। राशन सबको मुफ्त मिलता था। बहुत ही कम लोग थे जो राशन नहीं लेते थे। लेकिन यहां भी हमेशा की तरह गरीब भूखे मर रहे थे और बड़े या अमीर लोग मजे उड़ाते थे। कोई बीस गज कपड़ा पा जाता और किसी की नंगे फिरने की नौबत थी।

मुल्क भर में दौलत का सही बंटवारा करने और पैसे को जनता की भलाई के लिए खर्च करने का सपना देखने वाले एक कैंप तक में गलतियां कर रहे थे।

मैंने अपने ऊपर लानत की कि अभी परसों मेरे दिल में खयाल आया था कि हिंदू शरणार्थियों की फिक्र है और मुसलमानों के लिए कुछ नहीं है : हालांकि सचाई यह है कि अमीरों के लिए सब कुछ है, गरीबों के लिए कुछ नहीं है। कैंप के गरीब लोग उसी सतह पर थे जिस सतह पर गलियों और मुस्लिम कैंप के पनाहगुजीं गरीब थे।

आज मैंने कुछ गंदे, भयानक चेहरे भी देखे थे जिनकी बेनींद आंखों की सुर्खी खौफनाक अपराधों, घायल आत्मा और मानसिक अशांति का पता दे रही थी। उनमें कुछ मायूस चेहरे भी थे जिनकी आंसुओं से भरी हुई आंखें अतीत की कहानियां दुहरा रही थीं। कुछ नीम मुर्दा[27] बच्चे भी मुझे मिले थे जिनकी मासूमियत, भूख और इंसानी बर्बरता का शिकार बन रही थीं।

आज मैंने पश्चिमी पंजाब की इस्लामी शिष्टता और वीरता और पंजाबियों की बहादुर कौम दोनों का नमूना देखा था। वह बहादुर कौम जिसे जमाने का बेरहम हाथ

---

26. अनंत।

27. अधमरे से।

आहिस्ता-आहिस्ता गढ़े में गिरा रहा था।

"अतीत की शृंखला छिन्न-भिन्न हो गई है। बुरा हो भाग्य की विडंबना का जिसने मुझे इसे समेटने के लिए पैदा किया।"

(शेक्सपियर : हेमलेट)

लोगों ने अपनी गुमशुदा लड़कियों का जिक्र किया। अपने बिछुड़े रिश्तेदारों की कहानी सुनाई। अपनी दौलत और जायदाद का रोना रोया और सबसे बढ़कर कैंप की जिंदगी से तंग आने का माजरा बयान किया।

ये खेमे बजाहिर तो पास-पास लगे हुए थे और देखने में तो सारा कैंप सिर्फ शरणार्थियों का था, आनेवाले सिर्फ पाकिस्तान के बाशिंदे थे मगर जरा गौर कीजिए क्या उसके अंदर बसने वाले उतने ही एक थे ? ऐसा न था। आप किसी मुलतानी खेमे में पड़े हुए हैं, उससे मिला हुआ दूसरा खेमा रावलपिंडी का है और वह सामने वाले ख़ेमे में खानदान बन्नू से लुट-पिटकर आया है। चौथा खेमा सिंधी का है। लेकिन सिंधी के पड़ोस में सरगोधा या बहावलपुर का खानदान आबाद है। पीछे की तरफ क्वेटा वाला कपड़े धो रहा है। उन सबकी शक्लें, रहन-सहन, आदतें, तौर-तरीके और ज्यादातर जिंदगी की जरूरतों में समानता नहीं है। वे एक दूसरे के रिश्तेदार, पड़ोसी, दोस्त कुछ भी तो नहीं हैं। उनमें ज्यादातर एक दूसरे की बोली भी समझ नहीं पाते। और फिर कार्यकर्ता हैं जो और भी फूट बढ़ा रहे हैं। पंजाबी काम करने वाले अपने देश वाले का खयाल करते हैं, सिंधी अपने सिंधी भाइयों के साथी है, फ्रंटियर वाला पंजाबी को गिरी नजर से देखता है और बलूचिस्तानी सिंधी को।

जब ये सब अपने घरों में होंगे तो बहुत से गुनाह, जुर्म, बुराइयां, समाज, बिरादरी या मजहब के डर से न करते होंगे। उसमें सब अपने कानून का पालन करते होंगे। लेकिन आज वे कटी हुई पतंग की तरह हवा में उड़ रहे हैं।

सिंधी क्यों उस पंजाबी पड़ोसी की शर्म करे जिसे वह जानता-पहचानता तक नहीं और पंजाबी किसलिए फ्रंटियर वाले का लिहाज करे, कुछ उसका रिश्तेदार तो है नहीं। रावलपिंडी की लड़की के कौन-से रिश्तेदार यहां बैठे हैं जिनसे तानों और बिरादरी में नक्कू[28] बनने के डर से वह बलूचिस्तानी नौजवान से आंखें न लड़ाए ? आखिर चालीस-पचास साल का सिख कब तक औरत का इंतजार करे ? वह उन नौजवान लड़कियों में से क्यों न एक छांट ले जो अपने अजीजों से बिछुड़कर शाख से टपके हुए फल की तरह जमीन पर गिरी पड़ी हैं।

जरूरत से मजबूर होकर मुलतानी ने अगर मालदार सिंधी की जेब कतरी या ख़ेमे की डोरी काटकर एक संदूक उड़ा लिया तो शरणार्थियों पर शक करने कौन आएगा और इस मुसीबत में चंद दिन आराम से कट जाएंगे। वह अपने सिवा किसी दूसरे को

---

28. निशाना।

उस तकलीफ के वक्त सोच भी नहीं सकते थे और इसीलिए उनमें मुरौवत[29], शर्म और रवादारी[30] बाकी नहीं रह गई थी। उस वक्त तो उन्हें सिर्फ अपनी और अपने बाल-बच्चों की फिक्र थी।

यह समाज, यह मजहब, यह बिरादरी और यह कानून, जिसे हम हमेशा कोसते रहते हैं, जिससे अपना पीछा छुड़ाने की जवानी में बड़ी हसरत हुआ करती है और जिसे नफरत से देखने, मजाक उड़ाने और तोड़ने में हमें बहुत लुत्फ आता है, बुढ़ापे में भी उसके बंधन से घबराकर हम अक्सर रो देते हैं। बजाहिर यह हमें कितना ही बुरा क्यों न नजर आता हो मगर चंद दिन उसके शिकंजे से छूटकर हम सब हैवानियत की सतह पर पहुंच गए थे।

तीनों जातियां जब इस भारी बोझ के नीचे दबी हुई थीं तो वे पढ़ी-लिखी, इज्जतदार, दौलतमंद और बहादुर थीं। आज वही तीनों इज्जतदार कौमें बेहया, जरायमपेशा और वहशी बन गई हैं। मैं पाकिस्तान नहीं गई लेकिन चार माह बाद मकबरे में मुस्लिम पनाहगुजीनों का नैतिक पतन होते देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए थे और आज इन लोगों की यह गिरावट देखकर मैं लरज उठी। और फिर ये लुटी हुई इस्मतें,[31] बेघर-बेदर खानदान, कुछ मुसलमान भाइयों की नैतिकता और बहादुरी का नमूना तो न था। यहां तो हर खेमे में मुस्लिम पंजाबियों की बर्बरता नाच रही थी। हर जगह इंसानियत सिसक रही थी और इंसान मर रहा था हिंदुस्तान, पाकिस्तान दोनों में।

और यह सब देखकर मानना पड़ता है कि इंसान अपने सामुदायिक जीवन में ही इंसान रह सकता है। उसके कंधे पर अगर यह जुआ नहीं तो दर-दीवार से सींग टकराता फिरे और जिंदगी में जानवरों को भी मात कर दे।

अभी तक यही तय न हो सका था कि उनको किस तरह बसाया जाए ? कुछ लोगों का खयाल था कि जिले-जिले के बाशिंदे अलग-अलग रखे जाएं। कुछ कहते थे, नहीं सूबे और रियासत का हिसाब रखा जाए। किसी का खयाल था ऐसा करने से सूबाई भेदभाव बढ़ेगा और नई-नई जातियां पैदा हो जाएंगी। इसलिए सबको बिखेर देना ठीक होगा।

लोग डरते थे कि सिखों या फ्रंटियर वालों की आबादियां अलग-अलग बसें तो फिर सिर-फुटव्वल होगी। लेकिन अगर वे छितरा दिए जाते थे तो यह हाल था जो आप ऊपर देख चुके हैं। इकट्ठे होते थे तो मिल जुलकर अपने हक के लिए आवाज बुलंद करते थे, और, हक भी ऐसे जिनका अभी निश्चय भी न हो सका था।

मैं तो अंदरूनी तौर पर यह हाल देखकर सूबे और जिले के लोगों को इकट्ठा रखने की इतनी ज्यादा कायल हो गई थी कि आज उसके सिवा दूसरी बात सोचने को

29. लिहाज।
30. लिहाज।
31. लाज।

भी जी नहीं चाहता। जब मुझे मालूम हुआ कि हजारा के एक जगह और फ्रंटियर के फरीदाबाद में और बहावलपुर के राजपुरा में बसाए जा रहे हैं तो मुझे बहुत ही खुशी हुई कि चलो उस तंग दिली जिंदगी की आदत तो इनको न पड़ेगी। अब फिर वे इंसान बन जाएंगे। और मुझे यकीन है चंद साल बाद ये हिंदुस्तान के मजबूत बाजू बनकर रहेंगे चाहे उसमें जितने बरस लग जाएं। अलबत्ता नैतिक सुधार जरूरी है। इसकी तरफ पहले ध्यान देने की जरूरत है।

मेरा अपना खयाल है पंजाब की सोसायटी का रंग ही यह था। शायद वहां कोई नैतिक मानदंड था ही नहीं, अगर था तो नाममात्र का, ऐसा कि आम जनता तक वह पहुंचता न था। इस चीज में हिंदू मुसलमान को न सोचिए। सोसायटी हर धर्म और जाति के लोगों से मिलकर बनती है। वे सब एक जैसे होंगे और एक जैसा बर्ताव एक-दूसरे के साथ करते होंगे। वे चीजें जो हमारी सोसायटी में असभ्यता समझी जाती हैं, उनके यहां मामूली बातें थीं और यह जो कुछ हुआ है बहुत कुछ उसी का नतीजा है। अवाम का करेक्टर गिरता ही गया और आखिरी सतह पर पहुंच गया। इस एक साल में तो हालत इतनी बदतर नहीं हो सकती थी। वे और उनके पड़ोसी, दोनों अगर सोचें तो महसूस होगा कि वह दोस्ती, जिसका वे गर्व से जिक्र किया करते थे, वह शिक्षा जिसे उन्होंने सूबे भर में आम कर दिया था, क्या उसकी बुनियादें ठोस थीं, गहरी थी, इंसानियत के मानदंडों पर पूरी उतरती थीं ? आखिर क्यों आपस में उनकी इतने दिन पटी, दोस्ती हुई और फिर आनन-फानन उसकी यह दुर्गति हुई कि न मजहब का खयाल बाकी रह गया, न इंसानियत की लाज। जरूर कहीं से इस इमारत में कोई ईंट लगने से रह गई होगी, कोई खामी[32] तो जरूर रही होगी। ढूंढ़ा जाए तो पता चले। जरूरत है कि दूसरे की आंख का तिनका देखने से पहले अपनी आंख का शहतीर देख लिया जाए।

---

32. कमी।

20. वहशत और बर्बरता

मैंने गुड़गांव का मुस्लिम रिफ्यूजी कैंप देखा था। उसमें अलवर के आठ हजार पनाहगुजीं पड़े हुए थे और जामा मस्जिद के सामने पटियाला, नाभा वगैरह के लोगों को भी देखा था। उनके पास सिर्फ भयानक कहानियां थीं। उन सबकी उस समय यह हालत थी जैसे शिकारियों ने जंगल में हांका कराया हो और सब जानवर घेरकर मार लिए गए हों; बमुश्किल ये चंद निकल भागे हों। शिकारी महाराज, उनके दरिंदे फौजी और पागल अवाम[1] ने मांओं की गोद से बच्चे छीनकर भालों पर उठा लिए। मां-बाप के सामने बेटियों की इज्जत उतारी, पत्नी के सामने उसके पति को कत्ल किया और बर्बरता में कोई कसर उठा न रखी। शाही खानदान के आदमी, वजीर, पुलिस अफसर और फौज की जिम्मेदार हस्तियां इनमें से बहुतों के दामन दागदार हैं और न जाने किस-किस की पुश्त[2] पर महाराजाओं का हाथ है :

रही न तर्ज-ए-सितम कोई आसमां के लिए[3]

लेकिन यह सब दास्तानें सुनाने वालों के पास कोई ऐसी कहानी न थी, एक भी ऐसा काम न था जो आदमी ने आदमीयता के लिए किया हो। सिर्फ एक बूढ़े के चार बच्चों की चिट्ठी मैंने देखी तो उसके ब्राह्मण दोस्त के पास अमानत थे और दोस्त बच्चों से लिखवा रहा था :

"आप किसी तरह आकर ले जाओ। यहां सारा गांव पीछे पड़ा है। मार डालने की धमकियां दे रहे हैं और लड़कियां सयानी हो रही हैं, इसलिए उनकी शादियों की जबरदस्ती है।"

रिलीफ एंड वेलफेयर की कोशिशों से बूढ़ा संगरूर जाकर अपने बच्चों को ला सका और सुकून हासिल कर सका।....स्टेट से आने वाली एक लड़की ने मुझे बताया :

"हंगामे से एक रोज पहले हमारे महाराज ने खुद भाषण दिया और कहा कि तुम लोग बिल्कुल न घबराओ। हम सबकी इज्जत, जान व माल की हिफाजत करेंगे,

---

1. पागलपन।
2. पीठ।
3. आकाश अब किसी विशेष रूप में दुख नहीं देता कोई भी जुलम ढा सकता है।

बशर्ते कि अपने हथियार चुपके से हवाले कर दो और लोगों ने छुरियां तक मारे वफादारी के आगे रख दीं।"

लेकिन दूसरे दिन जब फौजियों और जनता के गिरोह कत्ले-आम करते घूम रहे थे तो महाराज राजधानी से बाहर जा चुके थे। लोग घरों में छिपे बैठे थे और हथियारबंद जत्था अंदर घुसकर बिना झिझके चुन-चुनकर लोगों का सफाया कर रहा था। रोकने वाला कोई सिरे से मौजूद ही न था, इसलिए कई दिन कत्ल और लूटमार का सिलसिला जारी रहा।

पाकिस्तान ने इंडियन गवर्नमेंट पर नस्लकुशी की कोशिश का इलजाम लगाया है लेकिन जहां तक दिल्ली या हिंदुस्तान के दूसरे प्रांतों का सवाल है यह बिल्कुल गलत है। यहां तो खुद बापू थे और दिल्ली की सड़कों पर तो खुद जवाहरलालजी दुखियारों की मदद को निकल पड़ते थे। उनके बहुत से साथी और राष्ट्रवादी दल, यहां तक कि प्रधानमंत्री की इकलौटी बेटी[4] तक मुसीबत में पड़े लोगों की इमदाद और उनको सुरक्षित जगह पहुंचाने या खतरे से निकालने का बंदोबस्त कर रहे थे। यहां रोकने वाले थे, बुरा कहने वाले थे और बापू ? उनकी पुकार तो दुनिया सुन रही थी।

मगर जहां तक रियासतों का सवाल है, इसमें कोई शक नहीं, वहां जरूर नर-हत्या की कोशिश हुई। परिवार के तमाम मर्दों को कत्ल करने के बाद अगर चंद माह का लड़का नजर आया तो जहां तक मुमकिन हुआ उसे भी जिंदा नहीं छोड़ा। अलबत्ता लड़कियां जरूर जिंदा रखी जाती थीं। अगर ऐसा न किया जाता तो साठ-साठ बरस के रंडवे से बदनर कंवारे आखिर ब्याहे कैसे जाते और बुर्दाफरोशी[5] की पुरानी रस्म फिर से कैसे जिंदा की जाती ?

यह सब कुछ अपने-आप हो रहा था या परदे के पीछे कोई हाथ न था, कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन एक दूसरे पर भरोसा इस हद तक उठ चुका था कि गवर्नमेंट आफ इंडिया के एक सदस्य[6] ने खुद बापू से कहा :

"मुझे मुसलमानों पर बिल्कुल विश्वास नहीं रह गया है।" और एक रोज जब दिल्ली की जिम्मेदार हस्तियां बापू के सामने सांप्रदायिक दंगों और शांति कायम करने के प्रस्तावों पर विचार-विमर्श करके निपटीं और बापू के असर और रौब ने उनसे मनवा लिया कि शांति बनाए रखने की जरूरत है तो उनमें से एक जर्नलिस्ट और कांग्रेसी ने बाहर निकलकर कहा :

"तुम लोग बेकार अमन कायम करने के लिए जान दे रहे हो। यह भी तो देखा कि पाकिस्तान में हिंदुओं के साथ क्या हो रहा है ? वहां का हाल नहीं देख रहे हो ?

---

4. इंदिरा गांधी।
5. युवतियों का व्यापार।
6. सरदार पटेल।

उनके लिए भी तो कुछ कर लो। यहां की बड़ी फिक्र है।"

और पाकिस्तान में उस समय जो हो रहा था उसका किसी को साफ पता चलता ही न था। पाकिस्तान से आने वाले मुसलमान कहते थे वहां सब अमन-चैन है, बिल्कुल ठीक है। हिंदू रह रहे हैं, कारोबार कर रहे हैं। लेकिन इसकी हकीकत एक रोज जाहिर हो गई जब मशहूर इंकलाबी नेता के ससुर अपने कुछ जरूरी कागजात और जरूरी चीजें लेने, घरवालों की सख्त मुखालिफत[7] के बावजूद, पाकिस्तान चले गए। लाहौर में उनका मकान अभी खाली था। टूटे-फूटे मकान से उन्होंने अपनी चंद जरूरी चीजें तलाश करके निकालीं लेकिन लोगों की भीड़ ने मकान घेर लिया और उनको गोली मार दी गई।

उसी हालत में दो-एक दिन हवाई जहाज से हिंदुस्तान लाए गए और यहां आपेरशन करके गोली निकाली गई। सख्त जान थे, बच गए।

शायद जून में एक रोज मैं बाड़े के स्कूल गई तो लड़कों से मिलने उनके मुसलमान दोस्त आए हुए थे। दोस्तों ने बताया कि वे अभी परसों पाकिस्तान से वापस आ गए हैं। गए तो इसी इरादे से थे कि वहीं रह जाएंगे लेकिन वहां का हाल देखकर अब उनसे नहीं रह जाता।

उन्होंने एक साहब का नाम लिया जो दिल्ली के रहने वाले थे और करांची में दूसरे मुहाजिरों (शरणार्थियों) की तरह एक मकान पर कब्जा करके बैठ गए थे। लोग अकसर उनसे कहते मकान में हमें भी हिस्सेदार बना लो, लेकिन वे भला काहे को राजी होते ! वे पहले आए थे, इसलिए उनका हक ज्यादा था।

एक दिन जो जेंटलमैन कार पर चढ़कर उनके यहां आए और बताया कि वे पाकिस्तान गवर्नमेंट के अफसर हैं। उनको भेजा गया है कि आपको दूसरा मकान दे दें और यह खाली करा लें। मुहाजिर ने कहा अगर दूसरा मिल जाए तो मुझे क्या एतराज हो सकता है। यह तय हुआ कि उसी वक्त मकान देख लिया जाए और वे अपनी दो बेटियों और बीवी को छोड़कर मकान देखने उनके साथ चले गए। थोड़ी देर बाद फिर कार वापस आई कि मकान मुहाजिर ने देख लिया है और तुम तीनों को भी बुलाया है कि आकर पसंद कर लो। औरतें सवार होकर चली गईं। मुहाजिर मकान देखभाल कर पलटे तो यहां सब गायब। बीवी तो वापस मिल गई लेकिन बेटियां न मिल सकीं।

मुहाजिर बेचारा अपनी तकदीर को रो रहा है कि क्यों हिंदुस्तान से आया, वहीं मर जाता तो अच्छा था। नैतिक गिरावट ने दोनों तरफ शहरी जिंदगी को अमन-चैन से वंचित कर दिया था। यहां रिफ्यूजी रोते थे, वहां मुहाजिर। इतना मौका नहीं है कि मैं सारी घटनाएं दुहराऊं लेकिन यह सच है कि जनता की नैतिक दशा इतनी बिगड़ गई थी कि वे अपनों के साथ भी वही कर रहे थे कि जो दूसरों के साथ कर चुके थे। और दोस्तों के साथ भी उनका वही बर्ताव था जो दुश्मनों से।

---

7. विरोध।

इसमें कोई शक नहीं उनके अंदर यह बर्बरता और निर्लज्जता और हमदर्दी की कमी सिर्फ इसलिए पैदा हो गई थी कि वे अपने दोस्त और पड़ोसियों के हाथों चोट खाए हुए थे :

मन अज बेगां हरगिज न नालम
कि बा मन हरचे कर्द आं आशनाकर्द[8]

यहां के शरणार्थियों का भी यही हाल था और वहां के मुहाजिरों का भी यही।

समाज सेवा करने वाले लड़कों में से एक लड़का कई माह से हमारे साथ काम कर रहा था। मुझे दूसरे लड़कों ने बताया था कि उसका बाप हंगामे में काम आ चुका है और पाकिस्तान में अपनी बड़ी जायदाद छोड़कर सिर्फ दो बहनों को कंधे पर बिठाकर वह गरीब भाग सका है। बड़ी मुश्किल से नदी पार की और हिंदुस्तान पहुंचकर बेसरोसामानी[9] की जिंदगी गुजार रहा है। अब इसका कोई नहीं है जो मददगार हो।

यह अठारह साल का लड़का बजाहिर बेहद मेहनती और सुलझे हुए खयालात का था। एक महीना देहात में भी बहैसियत वालंटियर सुभद्रा के साथ ठहरा। दो-एक हफ्ते स्कूल में भी मदद की। एक मुसलमान लड़के से उसकी गहरी दोस्ती थी। दोनों साथ अलग-अलग कामों में शरीक रहे।

उसने मुझे बताया कि अब आमदनी का कोई जरिया नहीं हैं और जिन रिश्तेदार के घर था उन्होंने भी निकाल दिया है। यह सुनकर हमने उसकी माली इमदाद का भी बंदोबस्त करा दिया। जब निजामुद्दीन में शांति दल का दफ्तर खोला तो तीन हफ्ते तक उन्हीं दोनों लड़कों के सुपुर्द रहा और दो जगह ट्यूशन का इंतजाम भी हो गया। रहने के लिए उसके पास मकान भी नहीं था। खाने और रहने का इंतजाम भी कर दिया गया।

लेकिन एक रोज मेरी हैरत की इंतहा न रही जब एक औरत ने आकर कहा कि मैं उसकी मां हूं। कई हफ्ते से उससे कह रही थी कि मुझे अपनी आपाजी के पास ले चल तो मैं तेरे लिए कहूं कि पक्का काम दिला दें। मगर टाल-मटोल कर रहा था। मजबूर होकर पूछती-पाछती मैं खुद चली आई।

मैंने ताज्जुब से सवाल किया, "आप मां हैं ? आखिर उस लड़के ने मुझसे जिक्र क्यों न किया ? आप किसके घर रहती हैं ?

उन्होंने जवाब दिया, "अपने भाई के साथ मैं, मेरे पति और दूसरे छोटे बच्चे सब वहीं रहते हैं। क्या करें बहन, गुजारे की कोई सूरत नहीं है। भाई नौकर है उसी के पास रह रही हूं। लायलपुर में हमारे बाग हैं, उसका भी कुछ नहीं मिलता। बस बहनजी,

---

8. मैं दूसरों से कोई शिकायत नहीं करता क्योंकि मुझ पर जो सितम किया, वह मेरे अपने दोस्तों ने ही किया।
9. जिसके पास जीवन के निर्वाह के लिए फूटी कौड़ी भी न हो।

आप लड़के को तो किसी काम से लगा ही दीजिए। मैं रोज कहती थी कि आपाजी से कह कर नौकरी दिला देंगी, मगर वह सुनता ही नहीं। अब उसका पढ़ाना मेरे बस की बात नहीं। दसवीं के बाद पढ़ाने के लिए तो बड़े पैसे की जरूरत है। आप उसको नौकरी दिलवा दो। मेरा भाई भी यही कहता है लेकिन वह गुस्सा हो जाता है।"

वह कहती रही और मैं सुनती रही और सोचती रही अठारह साल का लड़का और इतना बड़ा धोखा ! बाप दंगों में मारा गया, दो छोटी बहनों की जान बचाकर भाग, तैरकर नदी पार की और अब दोस्त के घर पड़ा है। रिश्ते के एक मामा थे, उन्होंने भी घर से निकाल दिया कि अब हम बोझ नहीं उठा सकते !

उसने मुझसे यह भी तो कहा था कि अगर इजाजत दो मैं अपनी बहनों को यहीं क्वार्टर में ले आऊं और मेरी बहन (जिनके बच्चों को वह उन दिनों पढ़ाता था) इस पर तैयार हो गई थीं कि एक क्वार्टर उसको दे दें, लेकिन मकान मालिक राजी न हुआ कि कोई पंजाबी वहां रखा जाए हालांकि वह खुद हिंदू थे। कितनी फिक्र रही थी उसकी हमें, और कितनी कोशिश से हम उन्हें काम दिलवाया करते थे। मां तो खैर थोड़ी देर बैठक रुख्सत हुई लेकिन बेटे ने फिर उस दिन से आज तक मुझे सूरत नहीं दिखाई। अपने झूठ पर शायद शर्मिंदगी हो, या जो वजह हो।

इसी तरह आत्मासिंह की बेवा को जब मैं मिसेज रामेश्वरी नेहरू के पास ले गई, इसे कोई काम दिलवा दो, तो उन्होंने तालीम की बाबत पूछा और यह सुनकर कि सिर्फ थोड़ी हिंदी पढ़ना जानती है, मिसेज नेहरू ने कहा तब मैं आपको क्या काम दे सकती हूं ? मेरा खयाल है तुम नौकरी कर लो।

उसने पूछा कैसी नौकरी ?

मिसेज नेहरू ने नरमी के साथ समझाया कि यही घरों में काम करने की, बरतन-बासन, सफाई-सुथराई, बच्चों का काम, और क्या। इतना सुनना था कि बिगड़ गई, "वाह हम ऐसे गए-गुजरे हैं कि घरों में भांड़े मांजेंगे ?"

उन्होंने कहा, "तो फिर मुहल्लों में हमारे सिलाई के सेंटर खुले हुए हैं, रोशन आरा रोड तुमसे करीब पड़ेगा। वहां जाकर काम ले लो। उससे बारह आने या एक रुपया रोज कमा लोगी।" औरत को यह भी बुरा लगा। उसने कहा :

"इतने में क्या होगा ? सौ रुपए महीने का तो हमारा खर्चा है।"

मिसेज नेहरू झल्लाकर बोलीं, फिर बीबी, मैं क्या कर सकती हूं ? गवर्नमेंट से बच्चों की पढ़ाई का इंतजाम हो जाए और तुम मेहनत-मजदूरी करके खाना-पीना चला लो। यही गुजर-बसर की सूरत हो सकती है।

लेकिन उसे कोई बात पसंद न आई। गुस्से में भरी खड़ी रही और ज्योंही कमरे से बाहर निकली उसने गालियां देनी शुरू कर दीं :

"हमसे कहती हैं भांड़े मांजो। हम खानदानी लोग इतना गिर नहीं गए हैं कि किसी के घर भांडे-बरतन करें, ब्राह्मण है ना। ब्राह्मण का तो राज है। इसी राज पर

तो बेहोश हो रही है। ईश्वर करे इसकी लड़कियां सड़कों पर रोएं। इसकी घरवालियां भांड़े मांजे।

उसने कहा मैं तुम्हारी खातिर चुप रही वरना उसी जगह सुनाती। और मैंने दिल में कहा :

रख ली खुदा ने मिरी बेकसी[10] की शर्म।

अगर कहीं ये 'मोती' उनके घर में ही बिखरने शुरू हो जाते तो मैं शायद उम्र भर मिसेज नेहरू को शर्म से मुंह न दिखा सकती।

मैंने बहुत समझाया मगर वह सारे रास्ते कोसती रही और फिर दूसरी बार इमदाद-ओ-बहाली के वजीर के घर से पलटकर भी उसने कोसनों की बौछार की। जब निटिंग सेंटर की मशीन उठाकर मैंने उसे कुछ उसे कुछ अरसे के लिए दे दी तब जाकर मुंह सीधा हुआ और गालियां बंद हुईं।

शरणार्थी अपने नुकसान का फौरन मुआवजा चाहते थे। वे कहते थे, हमने हिंदुस्तान के लिए ये सब कुरबानियां की हैं। हमें यहां उस सबका बदला मिलना चाहिए। और यहां यह हालत थी कि उनको घर तक न मिल रहा था। और सब कुछ मिलना तो बड़ी चीज है, जो कुछ मिलता था वह उनकी नजर में न आता था। दुकानें मिल गईं तो वे रोते थे कि हम वहां इतनी उम्दा सजी-सजाई छोड़कर यहां आए थे, यहां लकड़ी का स्टाल मिला है। घर मिलता तो वे अपनी दुमंजिला बिल्डिंग को रोते। खेत मिलते तो वे अपने सोना उगलने वाले बागों को याद करते। बच्चों की पढ़ाई के लिए खर्च मिलता, कालेज की शिक्षा के लिए कर्ज मिलता, मगर कोई चीज भी उनके दिल की भूख न मिटा सकती थी। सब कुछ पाकर उन्हें अपनी चीज और ज्यादा याद आती थी।

खार-ए-वतन अज सुंबुल-ओ-रेहां खुशतर[11]

बहरहाल हजारों घटनाएं देखने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंची कि ये उस समय तक संतुष्ट न होंगे जब तक फिर अपने ठिकाने न वापस जाएं। और यह भी :

ख्वाह है खयाल है और शायद जुनूं[12] भी है।

इसके अलावा इन हालात ने मुझे इस अकीदे[13] में पक्का कर दिया कि जो कुछ हुआ है वह सिर्फ मजहबी या राजनीतिक जोश ही न था उसका बड़ा कारण नैतिक पतन और शिक्षा-दीक्षा की बुराइयां थीं। स्कूल या घर कहीं भी तो हमारे देश में शिष्टाचार में सुधार और इंसानियत के प्रचार का बंदोबस्त नहीं है। मास्टर गुंडागर्दी में बच्चों की मदद करते हैं और लोग घरों में अपनी नाजायज रिश्वतखोरी को बिल्कुल नहीं छिपाते हैं। मां, बहनें और बीवियां बड़े गर्व के साथ ऊपर की आमदनी का जिक्र करती हैं।

---

10. असहाय।
11. अपने वतन के कांटे भी फूलों से ज्यादा अच्छे लगते हैं।
12. पागलपन।
13. विश्वास।

खुले खजाने एक संप्रदाय का आदमी दूसरे संप्रदाय का अपमान, निरादर या माली और जानी नुकसान पहुंचाने की कोशिश अपने घरवालों की, अपने दोस्तों की शह और इशारे पर करता है। जज्बात को भड़काने वाली अकसर औरतें भी होती हैं।

उन दिनों जब मैं शहर की गलियों में घूम रही थी तो मैंने बेशुमार हिंदू-मुस्लिम बहनें देखीं जो इस पर डटी हुई थीं कि जो कुछ हुआ अच्छा हुआ और अभी और होना चाहिए। या एक बार हथियार मिल जाएं तो लड़ाई हो जानी चाहिए। औरतों के अंदर यह दरिंदगी कैसे पैदा हो गई ?

शायद उनका उग्रवादी स्वभाव हो या बदले की आग, लेकिन यह सच है कि वे स्थिति को समाप्त करने पर कुछ देर ही से तैयार हुईं और मुझे उनकी भावुकता की प्रवृत्ति को सीधा करने में काफी मुश्किल का सामना करना पड़ा।

और फिर जब 1949 ई. के शुरू में मैंने अजमेर का हाल जाकर देखा और वहां के हालात जो कुछ सुन रखे थे उनकी तसदीक[14] की तो और भी विश्वास हो गया कि वह नैतिक पतन हिंदुस्तान में आम था।

25 दिसंबर, 1947 को जब पहली बार अजमेर में फसाद शुरू हुआ है और 1949 तक भी वहां सही मायने में आदमीयत नहीं आ सकी। दिल्ली से चलकर पूर्वी पंजाब और अलवर के जले हुए गांव, वीरान हिस्से देखते हुए जब जयपुर[15] पहुंची तो ऐसा लगता था आंखें ठंडी हो गईं। यहां खुशी थी, रौनक थी, सबके चेहरों पर नरमी और सुकून था और लोग इस तरह घूम-फिर रहे थे जैसे अभी-अभी किसी शादी महफिल से उठकर आए हों। लेकिन जयपुर खत्म होते ही किशनगढ़ से अजमेर तक फिर वही सन्नाटा था, फिर वही बेचैनी, वही वीरानी थी। अजमेर का कोना-कोना आदमियों से भरा हुआ था लेकिन खुदे कब्रिस्तान, टूटी हुई मस्जिदें, मकानों का मलबा और बुद्धू जैसे, बदहवास और सहमे हुए मुसलमान। पहली ही नजर में देखने वाले के लिए बेचैनी का कारण बन जाते थे।

अजमेर के रहने वालों में 5 दिसंबर को ग्रामोफोन पर झगड़े की शुरुआत, किशनगढ़ में अजमेर के धनी और पढ़े-लिखे उपद्रवियों का सम्मेलन, राशनिंग[16] डिपार्टमेंट

14. पुष्टि।
15. जयपुर की सरहद पर गंगानगर तक फसादों के थपेड़े आए, मगर लोगों ने मुझे बताया कि हमारी राजमाता ने हवाई जहाज पर बेठकर उड़ान की और हमें हुक्म दिया कि रियासत के अंदर आ जाओ। यों पूरी रियासत सुरक्षित रही। जयपुर की रियासत में कोई बलवा नहीं हुआ। हिंदू-मुसलमान अब अमन-चैन से रहते रहे। महाराज और राजमाता दोनों ने पूरी तरह मदद की।
16. राशनिंग डिपार्टमेंट ने जिस तरह 1947 में बलवाइयों के हाथ मजबूत किए थे यह एक लंबी दास्तान है। शहर का सही नक्शा, मुहल्ले-गलियां, मुसलमानों के नाम और उनकी सही तादाद, लड़के-लड़कियों का ब्यौरा सब कुछ गुंडों की राशनिंग आफिसर की मदद से मालूम हुआ और इसीलिए वह ज्यादा व्यापक स्तर पर अपनी गतिविधियां जारी रख सके। हर जगह दंगे से पहले इसी महकमे से जानकारी लेकर गुंडों ने कार्रवाई शुरू की।

और दूसरे अफसरों का पक्षपात और फिर 14 को सात आदमियों का जिंदा जलना, कत्ल और लूटमार 5 हजार इंसानों का मौत के घाट उतारना सब कुछ उन्हें याद था। वे कहते थे :

सात-सात गांवों के बाशिंदे इकट्ठे होकर हमला करने आए—देहातों को लूटा। वहां भी एक तोप की कहानी थी जो बलवाई अपने साथ लाए थे। मुगलों और मिरजाइयों के गांव पर बहादुर राजपूतों ने इस तरह चढ़ाई की जैसे पुराने वक्तों मुकाबले हुआ करते थे। वे कहते थे :

एक बड़ी जागीरदार ने पतलवार उठाकर दो बड़ी कौमों को शुद्धि हो जाने पर मजबूर कर दिया और उससे पहले अक्तूबर में अजमेर से 20 मील की दूरी पर नारनौल और जयपुर के तबाह हाल मुसलमानों से भी एक पूरी रेल में कत्लेआम अब उन्हें याद आ जाता है तो वे कांप उठते हैं। ऊंटों पर सवार हमलावर वीरों और सूरमा राजपूतों की फौजें एक बड़े जागीरदार के नेतृत्व में निहत्थे, बंदी मुसलमानों को कत्ल कर रही थीं।

और उसके बाद यह हालत हुई कि मुसलमानों ने दाढ़ियां मुंड़वा दीं, शेरवानियां छोड़ दीं। पुलिस वाला जब चाहे उनकी टोपी उतरवा सकता था और दरगाह के लिए भी बहुत ही कम चीजें सही-सालिम जाती हैं।

मैंने उनसे कहा :

हद है बुजदिली की ! तुम यह सब करके अब तक जी रहे हो ? दिल्ली वाले तो दाढ़ी भी रखते हैं और शेरवानी भी पहनते हैं और टोपी भी अपनी मर्जी और वक्त पर पहनते हैं। तुमने क्यों अपने को इतना बुद्धू बना रखा है ? जवान आदमी और मुझसे इतनी बेबसी का इजहार कर रहा था। लेकिन मेरी नजर में वह हमदर्दी का हक़दार न ठहरा। मैं किसी इंसान को इस हद तक बेबस भी नहीं मान सकती। न उस बंदगी की कायल हूं। इसमें कोई शक नहीं :

बंदगी[17] में घुट के रह जाती है इक जू-ए-कम आब[18]
और आजादी में बहर-ए-बेकारां[19] है जिंदगी

लेकिन उस बहर-ए-बेकारां को तलाश करने बल्कि पैदा करने वाले हम खुद ही होते हैं। ऐसे हजारों हादसे इंसान की जिंदगी में पेश आ चुके हैं और उन्हीं बाल से ज्यादा बारीक और तलवार से ज्यादा तेज राहों पर उसने पांव टिकाने की जगह पैदा की है। अगर हमें जिंदा रहना है तो कोई जगह दे या न दे, अपनी जगह आप पैदा करनी होगी।

17. गुलामी।
18. थोड़े से पानी की नदी।
19. अथाह समुद्र।

यकीं मुहकम, अमल पैहम, मुहब्बत फातेह-ए-आलम[20]
जिहाद-ए-जिंदगानी[21] में हैं ये मर्दों की शमशीरें

दिल्ली में परेड ग्राउंड में एक जलसा था। शांति दल अमन-चैन के लिए इन दिनों जगह-जगह जलसे, मुशायरे कर रहा था। यह जलसा भी इसी सिलसिले में था। हजारों आदमियों का समूह था। सरकार के एक मंत्री भी अपनी टूटी-फूटी हिंदुस्तानी में भाषण दे रहे थे और जबान से ज्यादा हाथ-पैरों से माने और मतलब जाहिर करने की कोशिश कर रहे थे।

बदकिस्मती देखिए मैं भी बुलाई गई थी और सिर्फ दर्शक की हैसियत से गई थी। वे साहब बोलते-बोलते जब मुसलमानों की तरफ आए तो कहने लगे :

"मुसलमान अगर गवर्नमेंट का वफादार नहीं रह सकता तो उसे चला जाना चाहिए। पाकिस्तान चला जाए। इस मुल्क में तो देश का भला लोग रहेगा।"

बात ठीक थी, लोगों की गरदनें हिल गईं। आगे चलकर उन्होंने फिर कहा :

"हैदराबाद की बात चल रही है। कश्मीर में लड़ाई होती है। मुसलमानों को बताना होगा कि वह किस देश का वफादार है। उसको साबित करना होगा, वह किस मुल्क को अपना मुल्क समझता है ? वह दो कुर्सी पर नहीं बैठ सकता।" वह कहते रहे, बहुत से लोग खुश होते रहे और मैं जलती रही। एक-दो और आवाजें आईं–जरूर मुसलमानों से वफादारी की मांग होनी चाहिए। और भी लोगों ने कुछ कहा। वह भी कुछ और कहते रहे और मैं बैठी सोचती रही।

भाषण खत्म करते ही वे रवाना हो गए। शायद एक साहब और बोले और मुसलमानों से वफादारी की मांग उन्होंने भी की। और फिर मेरे पास जलसे के आयोजक आए कि आप भी कुछ कहिए।

मैं भरी बैठी थी। उधर इतने बड़े जन-समूह में बोलने की हिम्मत भी नहीं पड़ रही थी और सेक्रेटरी साहब का इसरार बढ़ रहा था। आखिर हिम्मत करके उठ खड़ी हुई। मैंने कहा :

कई जलसों में मैं शरीक हो चुकी हूं। आजकल यह आम बात हो गई है कि जो उठता है मुसलमानों से वफादारी की मांग करता है। बड़े से छोटे तक सबको मुसलमानों की फिक्र रह गई है। हालांकि उनसे वफादारी की मांग कर सकता है तो वही जो खुद उस कसौटी पर पूरा उतरता हो। उनसे बापू कह सकते थे। जवाहरलालजी और उनके जैसे दूसरे राष्ट्रवादी सवाल कर सकते हैं लेकिन जो खुद खोटे होते हैं वे क्या किसी दूसरे को रास्ता दिखाएंगे। इस वक्त तो अपने गरेबानों में मुंह डालने की जरूरत है। मैं तो किसी का मुंह ऐसा नहीं पाती जो दुनिया को दिखाया जा सके।

---

20. दृढ़ विश्वास, सतत कर्म, संसार पर विजय पाने वाला प्रेम।
21. जिंदगी का जिहाद।

हिंदुस्तान का नुकसान जितना मुसलमानों की गैर-वफादारी से हुआ उतना ही वफादारों[22] की नावफादारी से भी हुआ है। वे मुसलमान जिन्होंने पाकिस्तान बनवाया ज्यादातर जा चुके हैं। यहां अब जो बाकी हैं वे ऐसे लोग हैं जो इसके घोर विरोधी थे या अंधाधुंध, बिना सोचे-समझे मजहब के नाम पर उठकर पीछे लग गए थे।

सब हंगामा खत्म होने के बाद अगर हिंदुस्तान को नुकसान पहुंच रहा है तो वफादारों ही से पहुंच रहा है। ऐसी बात न कहिए जिससे दिल दुखे और गैर-वफादार बन जाने को जी चाहे। पापी हम और आप दोनों हैं। अपने हाथ देखिए, हम सबके हाथ खून में लिथड़े हुए हैं। बापू की हत्या ने हम सबकी गरदनों पर हमेशा की शर्म लाद दी है। आइए हम दोनों मिलकर अपने हाथ साफ करें, दिल साफ करें, एक दूसरे पर इलजाम लगाने और माफ करने से कोई फायदा न होगा।

पता नहीं मैंने क्या कुछ कहा, क्या नहीं कहा, पर जी तो हल्का हो गया।

अगस्त से सितंबर तक कई किस्म के काम होते रहे। जमीनों और मकानों का अलाटमेंट, वापसी, तकाबी, मदद की रकम, सबके लिए शांति दल ने कोशिशें कीं। कुछ में कामयाबी हासिल हुई, कुछ में नाकामयाबी। लेकिन उसकी सबसे बड़ी कामयाबी यह थी कि दिल्ली में इतने परेशान हाल, बेचैन जनसमूह के बावजूद सुकून और अमन रहा लोगों को कानूनी जद्दो जहद[23] का भूला हुआ पाठ फिर याद आ गया।

पांच माह तक लगातार जुटे रहने से कुछ लोग थक गए, कुछ अपनी पार्टी की बात सोचने लगे और मेरे जैसे फिजूल किस्म के लोग आराम की बात भी करने लगे। औरों ने तो धीरे-धीरे किनाराकशी[24] कर ली, लेकिन मैं सितंबर खत्म होते ही लखनऊ चल दी और वहां से फिर आखिर दिसंबर या शुरू जनवरी में वापस आई तो शांति दल की गतिविधियां धीमी पड़ चुकी थीं और हर पार्टी ने अपना काम शुरू कर दिया था। सबको एक-दूसरे की तरफ से आगे बढ़ जाने का अंदेशा था। इंजेक्शन की फिक्र थी। दिल्ली में शांति थी और शायद इसीलिए वह संयुक्त मोर्चा टूटा तो न था लेकिन ढीला पड़ चुका था।

अबकी बार मेरा संबंध भगाई गई लड़कियों से ज्यादा रहा जिनमें से दो को लेने के सिलसिले में मुझे मैसूर[25] भी जाना पड़ा और मैसूर की एकता, हरा-भरापन और जिंदादिली देखकर दिल बहुत ही खुश हुआ।

---

22. यह असलियत है कि हमारे नेताओं ने देश के विभाजन का प्रस्ताव स्वीकार किया। लोग चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान इस बंटवारे से दुखी ही रहे और राष्ट्रवादी मुसलमान तो पहले ही उसके घोर विरोधी थे।
23. संघर्ष।
24. किनारा कर लेना।
25. मैसूर में दो मिलिटरी अफसरों के पास दो पूर्वी पंजाब की लड़कियां लाई गईं जिन्हें पाकिस्तान, उनके रिश्तेदारों के पास भेज दिया गया। रिकवरी आसान न थी, अगर होम मिनिस्टिर दासप्पा मदद न करते।

बंगलौर में मुझे एक ऐसी संस्था भी दिखाई गई जिसके एक हिस्से में शारीरिक विकारों वाले अपंग मर्द रखे गए थे। उनको छोटे-मोटे काम दिए जाते थे और खाना-कपड़ा, रिहाइश की जगह सब मुफ्त थी। भीख मांगने वाले सारे अपाहिज यहां स्टेट के वजीफा पाने-वाले बना दिए गए थे और वे सुकून और इत्मीनान से रह रहे थे। दूसरे मकान में सिर्फ लावारिस, अपाहिज और कमजोर औरतें थीं। उनको भी हलके-फुलके काम दिए जाते थे और उनकी जिंदगी की जरूरतें वह संस्था पूरी करती थी। भीख मांगने की घृणित जिंदगी से छुटकारा पाने पर वे खुश थीं।

तीसरा हिस्सा सिर्फ लावारिस बच्चों के लिए था और उसमें एक छोटा-सा स्कूल भी चल रहा था। कुछ दस्तकारी भी सिखाई जाती थी, खेल-कूद भी थे और संचालक की निगरानी में सड़क पर टुकड़े मांगने वाले सारे बच्चे अच्छे नागरिक बनने की कोशिश कर रहे थे।

इमारत का एक छोटा-सा, चौथा हिस्सा, भी था जहां रोजाना गरीब बच्चों को दूध मुफ्त बांटा जाता था और उस हिस्से में गरीब औरतें अपने बच्चों को घरों से लेकर आती थीं। एक लेडी डाक्टर हफ्ते में दो बार उनकी जांच करती थीं और उनको दो बोतल दूध मिलता था—एक फौरन पीने के लिए और एक दूसरे वक्त के लिए।

मैंने इस तरह की कोई संस्था उत्तर-भारत में न देखी थी इसलिए एक-एक चीज को देखकर तबीयत खुश हुई और जी चाहा कि काश हमारी सरकार हर बड़े शहर और कस्बे में ऐसी संस्थाएं खोल दे तो मुल्क की हालत कितनी बेहतर हो जाए और हजारों इंसान जो कीड़े-मकोड़ों की-सी जिदंगी गुजारते हैं, इंसानियत की तरफ लौट आएं।

मैं उस लेडी डाक्टर से भी मिली। उनकी मुस्तैदी और शिष्टता ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

मैसूर में प्राइमरी स्कूलों की बड़ी तादाद यह बता रही थी कि वाकई यहां की गवर्नमेंट तहैया[26] कर चुकी है कि एक फीसदी इंसान भी निरक्षर न रहने देगी और सबसे ज्यादा तो प्राकृतिक सौंदर्य के साथ-साथ कृत्रिम कला के आकर्षण ने मुझे मोह लिया। कितने खूबसूरत बाग, कितना हसीन शहर और कैसे शरीफ लोग ! सब तरफ मेलजोल, मुरब्बत, प्यार ! इस वहशत और बर्बरता के दौर में बहुत ही कम रियासतें थीं जो अपनी प्राचीन परंपराओं और मानवता को बरकरार[27] रख सकीं ! दक्षिण भारत को खैर इतने मुश्किल हालात का भी सामना नहीं करना पड़ा, लेकिन राजपुताने की रियासतों में मालेर कोला जैसी चंद ऐसी ही रियासतें और भी हैं जिनके नाम सुनहरी अक्षरों में लिखने योग्य हैं। इतना मौका नहीं जो मैं विस्तार से बता सकूं लेकिन जब कभी हालात सामने आएंगे तो हिंदुस्तान खुद महसूस कर लेगा कि कहां-कहां इंसान थे और कहां-कहां हैवान।

---

26. निश्चय।
27. स्थिर।

गढ़मुक्तेश्वर के फसाद में नौजवानों का पंजाब से आकर कत्ल और लूटमार करना, रावलपिंडी और मुलतान के हंगामों, मुस्लिम नेशनल गार्ड का खून बहाना, पूर्वी पंजाब और रियासतों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के जवानों के 'कारनामे' सरकार और जनता पर जाहिर थे, लेकिन अल्लाह ही जाने क्या हो गया था कि लोगों को होश तब भी न आया जब दिल्ली लुट गई और बापू भी खाक-व-खून में तड़प गए।

और जब सब कुछ खत्म हो गया तो दिल्ली के एक जिम्मेदार अफसर ने कहा :

"अब राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की जरूरत क्या बाकी रह गई है, उसको तो हमने मुस्लिम लीग को चेतावनी देने के लिए आगे बढ़ाया था। अब लीग खत्म हो गई, तो उसे भी खत्म कर देना चाहिए।"

आग लगाने के लिए तो दियासलाई की एक तीली काफी होती है। मगर जब शोले भड़क उठते हैं, तो बुझाने के पानी की टंकियां और बीसियों बाल्टियां दरकार[28] होती हैं। उस आग को बुझाना किसके बस में है ?

बहरहाल वक्त गुजर गया। एक खूनी दास्तान इतिहास के पन्नों पर और लिख दी गई और यह खौफनाक कहानी हमेशा नौजवानों को बुलाती रहेगी।

तस्बीह[29] के दाने बिखर चुके हैं और इन बिखरे हुए दानों को फिर से एक लड़ी में पिरोने की कोशिश करने वाला भी जा चुका है। अब भी मुहब्बत का तार पिरोकर वे जोड़े जा सकते हैं, हिम्मत शर्त है उसकी।

अशांति के उस दौर में जब आदमी ढूंढ़े से न मिलता था और हिंदुस्तान मुहब्बत को तरस रहा था, उस अंधेरे में कहीं-कहीं से प्यार-मुहब्बत की रोशनी भी नजर आ जाया करती थी। जो सूरज पहले बिड़ला हाउस में चमक रहा था उसकी किरणों की जोत जहां-जहां पड़ी थी अंधेरे को चीरकर चमकती हुई लकीर छोड़ जाती थी। वन में एक दीया जल रहा था जिसकी लौ भूले-भटकों को मंजिल का पता बताया करती थी। आज बजाहिर वह बुझ चुका था, मगर अब भी गांधीजी के कुछ अच्छे भक्त थे जो देहातों में बैठे दुखियारों की मदद कर रहे थे। कुछ इंसान थे जो इंसानियत को बचा रहे थे। पहले तो मुझे मालूम न था लेकिन जब शहर में घूमी, देहातों का दौरा किया तो पता लगा कि अभी हिंदुस्तान के जिस्म में थोड़ा असली खून बाकी है और उसमें अगर कुछ बूंदें बढ़ा दी जाएं तो तंदुरुस्त खून की बहुतायत जिस्म के जहरीले मादे को फना कर सकती है। यह ताकत कमजोरी पर हावी आ सकती है अगर हम अब भी संभल जाएं।

कीमती हीरे आज भी कूड़े-कबाड़ में छिपे हुए हैं, ढूंढ़ने वाला चाहिए। मुझे तो ऐसे बहुत से मिले जिनकी आब-ताब[30] और चमक देखकर उम्मीदें ताजा हो गईं। उनमें

---

28. आवश्यकता।
29. सुमरनी।

दो दोस्त भी थे जिनमें से एक पाकिस्तान ऑफिस में किसी ओहदे पर था। बंटवारे के बाद उसने अपना तबादला पाकिस्तान करा लिया था लेकिन अभी जाने की नौबत न आई थी कि शिमला में दंगा हो गया। आधा बेड़ा सामान लेकर दिल्ली में अपने पुराने साथी और दोस्त के पास आकर पनाह ली कि जैसे ही मौका मिले पाकिस्तान चला जाए या बाल-बच्चों को यू. पी. अपने घर भेज दे। लेकिन बदकिस्मती ने साथ न छोड़ा। आते के साथ हैजा हो गया और दोस्त ने उठाकर अस्पताल में डाल दिया। साथ ही दिल्ली में बलवा हो गया।

पाकिस्तान के इस अफसर और खानदान को बचाने वाला पुराना दोस्त गुप्ता आज भी नई दिल्ली के क्वार्टरों में उसका सबसे बड़ा उपकर्ता है। गुप्ता ने यही नहीं किया कि अपने छोटे से क्वार्टरों का एक कमरा मां और बच्चों की रिहाइश के लिए अलग कर दिया, बल्कि पड़ोसियों के गुस्से और दरिंदों के जत्थे से उन सबकी जान बचाने का जिम्मेदार भी वही था। दोस्त अस्पताल में था और उसकी अमानत गुप्ता अपनी जान के साथ रख रहा था। मैं एक दिन अस्पताल गई तो डाक्टर ने चुपके से कहा हमारे एक मरीज को साथ लेती जाइए। दस दिन से वह अच्छा हो चुका है। हर रोज तीन से छह बजे शाम तक जब दूसरे मरीजों के रिश्तेदार अस्पताल में आते हैं तो मुझे उसकी हिफाजत के लिए यहीं ठहरे रहना पड़ना है कि मुसलमान समझ कर कोई मार न दे।

और वह मरीज गुप्ता के दोस्त थे जिन्हें डाक्टर भी ऐसा नेकदिल मिल गया था। हमारे आग्रह पर वह अस्पताल से आने के बाद हमारे घर उठकर आ गए लेकिन आफिस से पलटते ही गुप्ता ने साइकिल पर हमारे घर का रुख किया। बड़ी शिकायत, बड़ा शिकवा और बहुत अफसोस कि "यार तकलीफ तो बहुत हुई मगर अब वापस चलो।"

मगर हम सब जानते थे कि उनकी वापसी गुप्ता के खानदान को अब मुसीबत में डाल देगी। रवानगी के वक्त पड़ोसी जान चुके हैं इसलिए अब जीता न छोड़ेंगे। आखिर अक्तूबर 1948 में मारने में डर भी कोई ज्यादा न था। हमने दोनों को खतरे से आगाह[31] किया और समझा-बुझाकर राजी कर लिया। यहां वह काफी दिन ठहरकर शेरशाह मेस चले गए। शायद अब पाकिस्तान में होंगे।

इसी तरह मैंने एक बहादुर सिख भी देखा, जिसके जिस्म पर तलवारों के घाव उसके अपने भाइयों के लगाए हुए थे। पंजाब की ज्वालामुखी जिन दिनों लावा उगल रही थी तो यह पचास साल का सिख जान हथेली पर लिए जलती आग में घुसकर मुसीबतजदा दोस्तों, पड़ोसियों और औरतों-बच्चों को निकालकर पनाह की जगह पर पहुंचाता रहा था। अपनों की तलवारों के घाव भी उसके जोश को ठंडा न कर सके

30. चमक-दमक।
31. अवगत।

और एक महीना अस्पताल में जख्मों के भर जाने का इंतजार करने के बाद वह अपना फर्ज, इंसानियत का फर्ज न भूल सका। अच्छा होते ही उसने दिल्ली में राष्ट्रवादियों के हाथ मजबूत किए।

फ्रंटियर के ज्यादातर शरणार्थी अपने मुस्लिम दोस्तों और सुर्खपोश[32] साथियों को याद करते थे जिन्होंने उनकी जानें और इज्जत बचाकर उनको हिंदुस्तान पहुंचाने में मदद दी। उनके पास ऐसी अनेक घटनाओं की याद थी कि किस किस तरह आड़े वक्त में उनका पड़ोसी काम आया।

वे दौलत नहीं ला सके लेकिन पठान की दौलत और इज्जत उसका हथियार है।[33] और वह हारे हुए की तरह हथियार छिन जाने की बेइज्जती से बच जाने पर अपने दोस्तों के एहसानमंद थे। वे आज भी खान बादशाह और उनके साथियों के नाम पर आंसू भर लाते थे। उनके दिलों में आज भी मुहब्बत की तड़प थी। और अब पुराने यादें उनके जीवन की धरोहर बनकर रह गई थीं। अब उन्हें घर बनवाने और दुकान रखने से ज्यादा बंदूक का लाइसेंस बदलवाने की फिक्र थी।

---

32. लाल वस्त्र धारण किए हुए।
33. पठानों का एक दल कांस्टीट्यूशन हाउस में मृदुला साराभाई से यह कहने आया था कि हमें बंदूक के लाइसेंस दिलवा दो। मैंने पूछा कि तुम सब लुट कर सिर्फ बदन के कपड़ों में यहां हवाई जहाज से आए हो। बंदूक कहां से मिल गई ? तब उन्होंने बताया कि हमने हर चीज छोड़ दी मगर हथियार नहीं छोड़ सकते थे और हमारे मुस्लिम पठान जानते थे कि यह पठान की इज्जत है। इसलिए इसे लाने में हमारी मदद की। उन्हीं सबने इकट्ठा होकर यहां सुर्खपोश जमाअत कायम की। अकबर खां उनके नेता थे और नारंग, कन्हैयालाल खूटक, नगीना साहब, खान गाजी वगैरह सब इस दल में शामिल थे।

21. अपहृत लड़कियों की समस्याएं

भगाई गई लड़कियां हमारे लिए हर वक्त परेशानी का कारण बनी हुई थीं। मेरा चूंकि सीधे[1] उससे कोई ताल्लुतक न था, इसलिए मैं ज्यादा विस्तार से तो लिख नहीं सकती, और चूंकि औरत हूं, इसलिए मेरा कलम ही नहीं उठता कि खुलकर वह तमाम अश्लीलता पाठकों के सामने रख दूं जो पंजाब के दोनों हिस्सों और रियासतों में की गई। दूसरे उसके बयान से फायदा भी क्या होगा ? अपनी इज्जत गंवाना है। "यह घटना खोलो तो लाज, वह घटना खोलो तो लाज।" अपनी ही इज्जत थी और अपनी ही बेइज्जती। अपनों ही के हाथों सब कुछ हुआ।

अलबत्ता यह कहे बगैर नहीं रहा जाता कि इस नैतिक गिरावट का असली सबब[2] सिर्फ सियासी[3] और मजहबी[4] गुस्सा न था कुछ और कारण भी होंगे जिनकी छानबीन उन नौजवानों को करनी होगी जो नया हिंदुस्तान बनाना चाहते हैं और नए राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं।

वह दरिंदगी, वहशत, बदमाशी और जमाने की हसरतें तो उस दौर में पूरी हुई कहीं वह सदी भर से तो दिमागों में परवरिश नहीं पा रही थीं ? ये कीटाणु आज के तो न थे। पता नहीं कब से खून में रच रहे थे ? कमजोरी पाते ही बीमारी फूट पड़ी, बड़े-बड़ों का दमन भी तर हुए बिना न रह सका। रहती दुनिया तक कलंक का यह टीका मिटने वाला नहीं। कौन-सा मुल्क ऐसा है जिसमें गृह-युद्ध न हुआ हो। हार जीत तो इस दुनिया में हमेशा होती रही है और धरती पर अल्लाह ही जाने कितनी लड़ाइयां लड़ी जा चुकी हैं जिनमें खून बहाया गया होगा। मगर यह कुछ तो कहीं नहीं हुआ जो हमारे 'वीरों' और 'सूरमाओं' ने किया। जंग के ये उसूल और लड़ाई के ये दांव-पेंच तो दुनिया के किसी जनरल के दिमाग में न आए थे। आखिर वह कौन था ? यह तरीका सिखाया किसने ?

---

1. बाद में सन् 55 ई. तक मेरा पूरा संबंध उनसे रहा। होम और कैंप भी चलाए, उनकी इमदाद और वहाली की कोशिश भी की मगर उनकी बरामदगी रिकवरी आर्गनाइजेशन के स्टाफ और मृदुला बहन से संबंधित थी और यह काम पुलिस और फौज करती थी।
2. कारण।
3. राजनीतिक।
4. धार्मिक।

ये हरामी बच्चे जिन पर जिंदगी भर के लिए शर्म का बोझ लादा गया है, ये ग्यारह-बारह साल की कुंवारी लड़कियां जो मुजस्सम[5] जिंसी भूख[6] बनकर रह गई है, ये पागल फटी हुई आंखों वाली नौजवान लड़कियां तो मुजस्सम फरियाद हैं, जब तक जिंदा रहेंगी उस मनहूस दौर की याद रहती रहेंगी।

नारनौल, रियासत पटियाला के रहने वाले लोगों ने मुझे बताया कि खास नारनौल में सोलह हजार आदमी मारे गए और तकरीबन डेढ़ हजार लड़कियां भगाई गईं। उनमें से इस वक्त तक पांच सौ बरामद हो चुकी हैं। बाकी एक हजार कभी आ सकेंगी, इसका जवाब नहीं दिया जा सकता।

रियासतों में अवाम ही का कत्ल नहीं हुआ। कौंसिल के मेंबर, रियासत के जिम्मेदार अफसर, अमीर, जागीरदार सबका एक ही हश्र हुआ। जींद रियासत के सरदार बख्शी सुकतुल्लाह की, जो जींद गवर्नमेंट के एडवाइजर थे, बहुत बड़ी फैमिली में से सिर्फ एक चार साल की बच्ची[7] खुदा जाने क्यों जीती छोड़ दी गई ? शायद इसलिए कि बड़ी होकर किसी सरदार का घर बसाए। मगर सरकार के कर्मचारियों ने जबरदस्ती हासिल करके दिल्ली में रह रहे रिश्तेदारों के हवाले कर दिया और रियासत को, सुना है, मजबूर किया है कि अनाथ की जायदाद उसके खर्च के लिए सुरक्षित रखी जाए, बल्कि पं. नेहरू ने चंद साल बाद उसका दो सौ रुपए महीना भी मुकर्रर कर दिया था जो शायद अब भी मिल रहा होगा।

किसी रेलवे स्टेशन का मुस्लिम स्टेशन मास्टर जीवित न बचा और उसकी जवान लड़की रिश्तेदारों को न मिली। सिर्फ एक घटना की मुझे जानकारी है कि दो जवान लड़कियां और तीन बच्चे रफी भाई की कोशिश से एक महाराजा के चचा ने इकट्ठे करके भिजवा दिए और बच्चे अपने रिश्तेदारों के पास पहुंचा दिए गए।

भगाई हुई लड़कियां सालों तक बरामद होती रहेंगी। एक बार तो शायद अगस्त, 1948 में यह सिलसिला बंद कर दिया था लेकिन आरजी[8] तौर पर। लड़कियों के जो दल आते थे उनमें गंवारनें और गरीबों की लड़कियां होती थीं। बड़े अफसरों और मंत्रियों तक पहुंच कहां थी ? लूट का माल जनता के घरों से तो निकाल लिया जाता था लेकिन महलों की तलाशी लेने की किसमें हिम्मत थी ? उसकी ऊंची दीवारें खुद कर्मचारी के लिए जेलखाना बन सकती थी। शेक्सपियर कहता है "पाप पर सोने की कलई करा दो तो न्याय का जबरदस्त बरछा भी बिना घायल किए टकराकर लौट आएगा और फकीर की कुदड़ी में खंजर भोंको तो वह अपना काम कर लेगा।" और इन तमाम हालात

---

5. नख से शिख तक।
6. शारीरिक भूख।
7. श्लेडी माउंटबैटन और रामेश्वरी नेहरू के जरिए बच्ची भगाने वालों से छीनकर दिल्ली लाई गई और जनाब खलील बाग वाले को जामा मस्जिद के इलाके में परवरिश के लिए सुपुर्द की गई।
8. अस्थाई।

की मौजूदगी में जरा बेशर्मी तो देखिए ! एक दल कहता था हमने अपनी हिम्मत, बाजू के जोर और खुदा के फज्ल-ओ करम' से पाकिस्तान हासिल किया। दूसरा कहता है, आजादी के लिए जो कुरबानियां हमने की हैं, सारा हिंदुस्तान उसका मुकाबला नहीं कर सकता। सच है :

जब मुंह पर फेरी लोई[9] तो क्या करेगा कोई

चंद दिन गुजरने पर एक लड़की शहर के इज्जतदार सरकारी मुलाजिम के घर से लाई गई। उसने बताया कि कपूरथल से कई हजार मर्दों-औरतों का काफिला फिरोजपुर के लिए रवाना हुआ तो हम अपना माल-असबाब लेकर पैदल चले थे। पूर्वी पंजाब के एक थानेदार ने जो काफिले की सुरक्षा के लिए तैनात था लोगों से कहा कि सिर्फ मर्दों को हम पाकिस्तान भेजने के लिए जिम्मेदार हैं, औरतें हरगिज नहीं जा सकतीं। इस पर काफिले में बेचैनी और घबराहट फैल गई और लोगों ने कहा हम यहीं मर जाएंगे मगर औरतों को न छोड़ेंगे। आखिर छह हजार रुपए रिश्वत पर मामला तय हुआ और काफिला कुछ दूर और आगे बढ़ा मगर फिर थानेदार साहब ने एक बार उनकी सुरक्षा न कर पाने की मजबूरी जाहिर की और यही इसरार किया कि औरतों को छोड़ दो। और दूसरी मंजिल पर पहुंचकर चार हजार रिश्वत और वसूल की। फिरोजपुर पहुंचकर उसने सब औरतों को छांटकर मर्दों से अलग कर दिया और झगड़ा फिर शुरू हुआ।

लोगों ने फिर अपनी जमा पूंजी इकट्ठी की और छह हजार की रकम थानेदार साहब को और भेंट चढ़ाई। थानेदार मान गए। काफिला लेकर आगे बढ़े। अब वह स्टेशन जहां से रेल पाकिस्तान जाने वाली थी सिर्फ चंद मील दूर रह गया था। लोग खुश थे कि चलो माल की खलासी हो गई मगर इज्जत तो बच गई।

मगर नहीं, अभी बहुत कुछ बाकी था। लड़की का बयान है कि थानेदार ने खुफिया तौर पर सब जगह खबर कर दी थी कि मुसलमानों का काफिला पहुंच रहा है और स्टेशन तक पहुंचने से पहले ही आगे-पीछे दाएं-बाएं सब तरफ से हमला हो गया। बारह सौ लड़कियां उस काफिले से छीन ली गईं। बेशुमार आदमी कत्ल हुए लेकिन इंतजाम की खूबी का सेहरा थानेदार साहब को अपने सर बांधना जरूरी था, इसलिए कुछ अधेड़ बूढ़ी औरतें, कुछ मर्द और कुछ बच्चे बचाकर रेल पर सवार कर दिए गए। बहुत से कत्ल हो गए, नहर में जिंदा फेंक दिए गए। लड़कियों ने भागने की कोशिश में अपनी जानें गंवाईं। उनमें से एक यह भी थी। कुछ दूर जाकर पांव पानी में टिक गए और जमीन से पैर लगते ही कोशिश करके निकल आई। तीन दिन भागते रहने के बाद वह फिरोजपुर पहुंच गई, जहां उस नेकदिल अफसर ने रहम खाकर उसे अपने घर नौकर रख लिया। वह बच्चों को खिलाती थी और दूसरे काम भी करती। अच्छी तनख्वाह पाती थी। डेढ़ साल बाद दिल्ली पुलिस उसको लाई। लड़की पढ़ी-लिखी थी। मैंने पूछा,

---

9. कृपा।

जब तुम खत लिख सकती थीं तो फिर अपने रिश्तेदारों को क्यों नहीं लिखा ? उसने कहा, बहुत खत भेज चुकी हूं। जवाब भी आए होंगे, शायद मालिक ने छिपा डाले होंगे, क्योंकि वह नहीं चाहते थे मैं नौकरी छोड़ूं या मेरा कोई अजीज आए। वह खुश थी कि शायद अब बहुत जल्दी अपने शौहर से मिल सकेगी जिसके बारे में खबर मिली है कि जिंदा है और पाकिस्तान में है। लेकिन उसका बच्चा नहर की भेंट चढ़ चुका था।

आदमीयत है यही और यहीं इंसां होना।

मुझे इस वक्त एक बूढ़ा जाट याद आ रहा है। धर्म-मजहब के ठेकेदार जब महरौली में एक-दूसरे के मकान बम से उड़ा रहे थे और औरतों-बच्चों तक को मौत के घाट उतार रहे थे, तो पत्थरों के बीच में एक नौजवान मेवाती लड़की बूढ़े को रोती हुई मिल गई। उसे पता न था कि उसका कोई रिश्तेदार जिंदा बच सका है या नहीं। महरौली मुसलमानों से खाली हो चुका था। खुद यहां के मुसलमान भी बड़े सीधे न थे। उन्होंने भी अपने हथियारों, सुरंगों और बमों से विरोधी पक्ष के मकान और दुकानें तबाह की थीं और हिंदुओं ने मुसलमानों के दुमंजिला पत्थर के मकान जमींदोज[10] कर दिए थे।

बहरहाल बूढ़ा लड़की को उठा लाया। वह उसके रिश्तेदार तो नहीं तलाश कर सका, मगर उसने कहा, "बेटी तू मेरी धर्मपुत्री है। इस घर में इत्मीनान से रह, तेरा यहां कुछ नहीं बिगड़ सकता।" कई माह बाद बूढ़े ने दोनों की रजामंदी देख, अपने भतीजे से उसकी हिंदू धर्म के मुताबिक शादी कर ली और धर्मपिता दोनों की राहत और आराम देखकर खुश होने लगा। जब हंगामा कम हुआ और सबको होश आया तो बापू पुकार-पुकारकर नींद के मातों को झंझोड़ रहे थे कि इस पाप को मिटाओ। इस समय अगर तुमने प्रायश्चित न किया तो ईश्वर के कोप का भाजन बनोगे।

महरौली के थानेदार साहब भी चौंके और इधर-उधर दौड़ने लगे। एक दिन यह लड़की उनके हत्थे चढ़ गई। उस समय न कैंप था, न बाकायदा काम शुरू हुआ था। अपने-अपने तौर पर सभी कोशिश कर रहे थे और चिंतित थे। कुछ के नाम व पते मैंने पुलिस अफसर को दे रखे थे उनमें एक यह भी थी। उसका बाप मेरठ में था, इसलिए उसे बुलाने के लिए आदमी भेजा गया। और ऐसे तमाम कामों में हमें निजामुद्दीन के एक हकीम साहब[11] इमदाद किया करते थे। वह पनाहगुजीनों की मदद से लड़कियों के रिश्तेदारों को बुलवाने और पता लगाने में हमारा हाथ बंटाते थे।

लड़की को नहला-धुलाकर कपड़े पहनाए गए और इत्मीनान दिलाया कि बस दो दिन से ज्यादा तुझे इंतजार न करना पड़ेगा। दूसरे दिन देहातियों के गिरोह ने घर को घेर लिया। पुलिस उन्हें अंदर आने न देती थी और वे जिद कर रहे थे। मैंने कहा, अच्छा सिर्फ उस बूढ़े को आने दो जो इस लड़की का बाप बना था। बूढ़े ने कहा, बस

---

10. लोई फेरना, शर्म-हया मिटा देना, मुहावरा है।
11. पूर्णतया ध्वस्त।

मुझे तो एक नजर लड़की दिखा दीजिए, और कुछ नहीं चाहता। उसके आंसू देखकर मेरा भी दिल पसीज गया और मैंने लड़की सामने कर दी। दोनों एक दूसरे को देखकर रो दिए। बूढ़े ने कांपता हुआ हाथ उसके सिर पर रखा और थरथराती हुई आवाज में कहा, बेटी मैं तुझे धर्मपुत्री बना चुका हूं। तेरे दम से मेरे घर रौनक थी। बीवी कहती हैं तेरा बाप आ रहा है, इसलिए मैं सोचता हूं, कि जब मैं तेरा धर्मपिता तेरे लिए इतना दुखी हो रहा हूं तो तेरा सगा बाप तेरे लिए कैसा तड़पता होगा ? अगर वह मिल जाए तो उसके साथ चली जा। राजीखुशी से रहना और मुझे याद करती रहना। और अगर न मिले, तो याद रखना कि जब तक मैं जिंदा हूं और मेरे तीनों बेटे जीते हैं, मेरे घर के दरवाजे हर वक्त तेरे लिए खुले रहेंगे, चाहे तेरा आदमी फिर तुझको न रखे। लेकिन तू बेधड़क चली आना, मैं तुझे सिर आंखों पर बिठाऊंगा।

यह शरीफाना गुफ्तगू, बुलंद किरदारी[12] का यह नमूना और इतनी मुहब्बत और इंसानियत देखकर मैं ऐसी मुत्तसिर[13] हुई कि बूढ़े से वादा कर दिया कि अगर किसी वजह से इसके रिश्तेदार न मिल सके, तो चाहे मुसलमान मुझे गोली क्यों न मार दें, मैं ऐसे मुहब्बत करने वाले बाप से बेटी को छुड़ाना पसंद न करूंगी और लड़की तुम्हारे पास पहुंचा दूंगी। लेकिन खुदा का करना कुछ ऐसा हुआ कि तीसरे दिन उसका बाप मेरठ से आ गया और वह खुश-खुश करके साथ चली गई।

इसी तरह एक दिन आशा राम नामक एक क्लर्क मेरे पास आया और उसने एक लड़की का पता दिया कि उसे निकलवा दीजिए। उसने बताया कि मैं और मेरा एक मुस्लिम दोस्त दोनों ही एक दफ्तर में क्लर्क थे। फसाद में सबको बचाकर मैं पाकिस्तान भिजवाने में कामयाब हो गया मगर एक जवान लड़की छिन गई। मेरा दोस्त चलते-चलते कह गया था कि उसकी जरूर फिक्र रखना और मैंने उससे वादा किया था कि तब तक चैन से न बैठूंगा जब तक तुम्हारी लड़की तुम तक न पहुंचा दूं। कई माह की कोशिश के बाद पता लगा है कि वह पूर्वी पंजाब के अमुक गांव में है। लेकिन आदमी का नाम मालूम न हो सका। मैंने उससे कहा आदमी का नाम मालूम करके आओ। उससे पहले मैं कोई मदद न कर सकूंगी। यों बेपता-ठिकाने काम करने से हर तदबीर बेकार होगी।

कुछ देर बाद वह फिर आया। नाम और जगह सब उसने मालूम कर ली थी और मैंने सारी रिपोर्ट वीमेन सेक्शन[14] को भेज दी। दो माह गुजर गए। इस अर्से में बराबर दोस्त के खत आते रहे और आशाराम की दौड़ धूप जारी रही। आखिर उसे खुद साथ लेकर मैं मिसेज नेहरू से मिली और उन्हें सारे हालात बताए। मिसेज नेहरू

---

12. हकीम सैयद हुसैन साहब।
13. उच्च-चरित्र।
14. प्रभावित।

ने फौरन कार्रवाई की। पुलिस की मदद से आशाराम खुद जाकर लड़की को ले आया और हवाई जहाज से पाकिस्तान पहुंचा दिया। चंद दिन बाद मुझे उसका खत मिला, जिसके साथ दोस्त का खत भी नत्थी था। लड़की खैरियत से अपने बाप के पास थी और दोनों दोस्त सरहद के इधर और मुहब्बत के तारों में जकड़े हुए एक दूसरे के लिए तड़प रहे थे।

मुहब्बत के तीर

और अब इस वक्त मुझे वह नन्हीं सी मासूम अख्तर बी याद आ रही है जिसकी उम्र मुश्किल से 13 साल की होगी। एक बूढ़े देहाती ने इतनी प्यारी लड़की को जख्मी पड़े देखकर झाड़ियों से निकाला और उसकी मरहम-पट्टी की। अपने घर लाकर रखा। खूब ताजा-ताजा दूध पिलाकर उसे तंदुरुस्त किया और जब वह अच्छी हो गई तो अपने पंद्रह साल के बेटे से उसकी शादी कर दी। दो बच्चे एक-दूसरे के जीवन-साथी बना दिए गए। उनकी मुहब्बत शदीद से शदीदतर[15] होती गई। यहां तक कि सात माह में एक दूसरे के ऐसे आशिक हो गए कि एक के बगैर दूसरे को करार ही न आता था। आखिर पकड़-धकड़ शुरू हुई और लड़की को पुलिस पकड़ लाई, उसी तरह जिस तरह वह दूसरी लड़कियों को ला रही थी। मगर यह नाजुक गोरे रंग वाली लड़की तमाम दिन भूखी-प्यासी बिलख-बिलखकर रोती रही। बहुत समझाया, बहलाया, दम-दिलासा दिया मगर उसके आंसू न थमे। न उसने एक बूंद पानी पिया, न नहाकर कपड़े बदलने पर राजी हुई और रोती चली जा रही थी। लोगों ने मुझे बताया कि रात को उसने कोई चीज अपने आंचल से खोलकर खाई और नल के पास जाकर पानी पिया है। बहुत मिन्नत मसाजत के बाद उसने इकरार किया कि हां मैंने खाया था लेकिन और कुछ न बताया। अलबत्ता आज थोड़ा सा खाना खाकर उसने पानी भी पिया।

तीसरे दिन, तीसरे पहर तक उसकी तबीयत जरा संभली। आंसू तो अब भी न थमते थे, लेकिन पहले दिन वाला हाल न था। उसने बताया कि जब लोग मुझे लेने पहुंचे हैं तो वह लड़का यानी उसका शौहर दूर खड़ा होकर रोने लगा। उसे बड़ी जल्दी-जल्दी अपने हाथ से घी का मलीदा बनाकर उसके आंचल में बांध दिया और रोकर कहा कि जब भूख लगे इसको खा लेना और मुझे याद करती रहना। लड़की इतना कहते-कहते सिसकने लगी।

मेरी उस वक्त अजीब हालत थी। मैं राजनीतिक कार्यकर्ता न थी, बूढ़ी मां न थी, सिर्फ मुसलमान औरत ही न थी, मेरे अंदर तो एक साहित्यकार के दिल की धड़कन भी थी। मेरे पास एक महसूस करने वाला दिल और सोचने वाला दिमाग भी था। यह भोली-भाली, अछूती पहली मुहब्बत मुझे तो शबनम की तरह कोमल और खुशबू की तरह सरस और सुखद नजर आ रही थी। उसे कुचलना, मिटाना, नष्ट करना, दो मुहब्बत

---

15. गहरी, और गहरी

भरे दिलों को जुदा करना, प्रकृति के दो पवित्र अधखिले फूलों को मसल डालना ही भाग्य में लिखा था। कर्तव्य के अहसास ने मेरे हाथ-पैर काट रखे थे। सूझ-बूझ और दूर-अंदेशी ने मुझे अशक्त कर दिया था।

मैंने बिफरी हुई जवान लड़कियां भी देखी थीं, जो अपनी जिंसी भूख के बोझ में दबी हुई हमें गालियां दिया करती थीं। वे पढ़ी-लिखी लड़कियां भी दो-चार हमारे पास आई थीं, जो मजहब और कानून का हवाला देकर हमें लाजवाब करने की कोशिश किया करती थीं।

मगर यह कोमल लड़की, उस पहाड़ी की तरह थी जिससे अभी-अभी कोई स्रोत फूटा हो। वह तो एक नन्हीं-सी बूंद थी जो भरे हुए बादल में से टपक पड़ी और उस खिलती हुई कली की भांति थी, जो सुबह के पहले झोंके से मुस्करा उठने के करीब हो और उसके दिल की बरबादी मेरे हाथों हुई।

लेकिन मैं कर ही किया सकती थी ? उसका रोना तीसरे दिन खत्म हो गया और एक निस्पृहता उसमें पैदा हो गई। मैंने उसके बाप को सूचना दी। सारे खानदान में सिर्फ एक लड़की और उसका बाप बच रहा था। खत आ गया और लड़की पाकिस्तान जाने वाले लड़कियों के काफिले के साथ रवाना कर दी गई। मगर आंसू, वे तो मोतियों की तरह बरसते ही रहे।

मैंने पुलिस अफसर से कहा कि मेरा दिल चाहता है इसकी पाकीजा[16] मुहब्बत का आदर करूं और इसे फिर वापस दे दूं। वह हंसे और कहा, आप ऐसी बात कहती हैं, ताज्जुब है ? लेकिन मैं ऐसा कर भी तो नहीं सकती थी। उसके बाद जो हंगामा मचता और बाप अपनी इकलौती लड़की के लिए जो आफत करता वह मामला दोनों हुकूमतों के दरम्यान आ सकता था। नाबालिग लड़की को देने का इख्तियार[17] भी किसे हासिल था ? और फिर उसकी रवानगी के वक्त तो मैं मुसलमान हो चुकी थी। उसकी आंखें रोती रहीं, मेरा दिल रोता रहा। लेकिन वक्त के तकाजे ने मजबूर कर दिया कि उसको भेज दूं। खुदा करे जहां हो खुश रहे और अतीत की याद उसकी जिंदगी में कड़वाहट न पैदा करे।

पाठकों में से बहुत से इन घटनाओं को पढ़कर चीख उठेंगे कि उफ्फोह, कितना, जुल्म ये सब औरतें कर रही है ! और 1949 में हमारे खिलाफ काफी प्रोपेगंडा भी हुआ। लोग पूछते हैं कि आखिर हो क्या रहा है ? इतना जुल्म क्यों इन लड़कियों पर किया जा रहा है ? अब तो वे सब अपनी-अपनी जगह ठिकाने से बैठ चुकी हैं। उनको फिर उखाड़ने से क्या फायदा होगा ! दुबारा उनको बेघर करना हिमाकत नहीं तो और क्या है ? एक औरत जो अपने घर में इज्जतदार घरवाली और बच्चे की मां बन चुकी है,

16. पवित्र।

17. अधिकार।

उसे फिर पुराने घर और मां-बाप के पास वापस जाने पर मजबूर करना उसके लिए भलाई नहीं उसके साथ पाप होगा। छोड़ो इस किस्से को जो हिंदुस्तान में रह गईं और जो पाकिस्तान में रह गईं सब अपनी जगह संतुष्ट हैं उनको इधर से उधर करना अब दो बरस के बाद बहुत बड़ी बेवकूफी है।

और यही खयालात हैं जिनकी वजह से लोग हमें मदद देते हुए हिचकिचाते थे। हमने हर फिरके[18] तबके[19] और हर पार्टी से और जनता से, यहां तक कि कांग्रेसी भाइयों से मदद की अपील की लेकिन हमें अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि जनता का सहयोग तो क्या, हमें तो जिम्मेदार हस्तियों से भी पूरी मदद न मिल सकी। इसका बड़ा सबब यह विश्वास था कि वे अपने घरों में जम गई हैं।

और भई सच्ची बात यह है कि सियासी हस्तियों से तो हमें शिकायत होनी भी नहीं चाहिए, क्योंकि वे इस भयानक स्थिति को मनोवैज्ञानिक ढंग से समझने में असमर्थ हैं। ये राजनीतिक लोग जब अपनी बीवियों और बेटियों की मनोदशा कभी न समझ सके तो पराई बहू-बेटियों को क्या जान सकेंगे ?

लेकिन हम सब कामकाजी औरतें हैं और औरत ही औरत के जी का हाल, उसकी मुश्किलें, उसकी आइंदा की मनःस्थिति किसी मर्द की समझ में कैसे आ सकती है जो इतने खराब और शर्मनाक हालात में नई नस्ल और नए राष्ट्र को जन्म दे रही हो ?

इस मामले में हम सबकी लीडर मृदुला[20] थीं। वह बहुत ही मुस्तैदी और बेकरारी से हिंदुस्तान और पाकिस्तान के विभिन्न भागों में दौड़-धूपकर रही थीं ताकि सरकार और जनता और नौकरशाही का सहयोग प्राप्त कर सकें। बड़ी कोशिश उन्होंने महाराजाओं को अपनी बात मानने पर मजबूर कर दिया।

मार्च 1948 से लेकर शायद सितंबर तक लड़कियों को बरामद कराने का सिलसिला जारी रहा था और सितंबर में ही उन सारी लड़कियों को, जिनके रिश्तेदार न मिल सके थे, पाकिस्तान भेजकर दिल्ली में कैंप खत्म कर दिया गया था। फिर मुझे नहीं मालूम क्या होता रहा क्योंकि थककर मैंने भी दो-तीन माह के लिए दिल्ली छोड़ दी थी। दिसंबर में मुझे मालूम हुआ कि फिर दोनों हुकूमतें तय कर रही हैं कि नए सिरे से काम शुरू किया जाए और एक फिरके की जो लड़की दूसरे फिरके वाले के पास हो बिना रू-रिआयत[21] के बरामद कर ली जाए। दिल्ली में इस प्रोग्राम पर दुबारा फरवरी, 1949 से अमल शुरू हुआ। वैसे तो मेरा अंदाजा था कि कम से कम पंद्रह

---

18. वर्ग।
19. जाति।
20 भगाई गई लड़कियों को बरामद करने के काम में उलझते ही सुभद्रा के और मेरे और मृदुला बहन के रास्ते एक दूसरे से दूर हो गए। हमारी समाजी दिलचस्पियां बढ़ गईं और सुभद्रा की राजनीतिक गतिविधियां बढ़ गईं।
21. छूट।

सौ लड़कियां दिल्ली की गायब हुई हैं, लेकिन यह सिर्फ अनुमान था। हमारे पास न तो पूरा ब्यौरा था, न ही अब तक हमें कोई विस्तृत रिपोर्ट मिली थी। दूसरे, नए आने वाले मुल्क के विभिन्न हिस्सों में बिखर चुके थे, इसलिए तलाश करना आसान न था। मगर हुकूमतों का फैसला था कि इस राजनीतिक लूट और अपहरण को किसी हालत में जायज न समझा जाए।

बहुत बड़ी तादाद पहले वापस लाई जा चुकी थी और अब दिल्ली में बहुत थोड़ी तादाद बाकी रह गई थी। लेकिन हम सबको बापू का कहना याद आ रहा था। वह तो गर्भवती स्त्रियों और बच्चे वाली औरतों तक को वापस लाने के पक्ष में थे।

दोनों सरकारों ने तय कर लिया कि तमाम लड़कियां इकट्ठी करके जालंधर भेजी जाएंगी जहां हिंदुस्तान और पाकिस्तान के मुकर्रर किए हुए अफसरों का ट्रिब्यूनल बैठकर फैसला किया करेगा कि किसे हिंदुस्तान में रिश्तेदारों के सुपुर्द किया जाए और किसे पाकिस्तान भेज दिया जाए।

कभी-कभी हमारे पास ऐसी लड़कियां भी आ जाती थीं जिनके परस्पर विरोधी बयानों की वजह से यह जानने में बड़ी दिक्कत पेश आती कि वे हिंदू हैं या मुसलमान। ट्रिब्यूनल इस पर भी सोच-विचार करता था और ऐसी लड़कियां ज्यादातर वे होतीं जो नाटक मंडली, वेश्याओं के अड्डों या बदमाश औरतों के हत्थे चढ़ गई थीं। वे विलासिता के जीवन में इतनी रच-बस चुकी थीं कि उनके मजहब, कौम यहां तक कि सेक्स में फर्क करना भी मुश्किल हो गया था।

कुछ दिनों के बाद अखबारों और अवाम ने ये इलजाम भी लगाने शुरू कर दिए कि लड़कियां जबरदस्ती उठा लाई जाती हैं, जबकि वे आना नहीं चाहतीं। उन्हें मजबूर करके अजीजों के पास भेजा जाता है, हालांकि वे अपने नए माहौल को पसंद करती हैं। हिंदुस्तान और पाकिस्तान की नारी कार्यकर्ता सरकारों को खुश करने के लिए अवाम के बसे हुए घर उजाड़ रही हैं। हिंदुस्तान में प्रोपेगंडा किया जाता था कि मुस्लिम लड़कियों के बदले हिंदुओं की ब्याहता औरतें उठा लाई जाती हैं और पाकिस्तान में यह, कि हिंदू लड़कियों के बदले मुस्लिम लड़कियां छीनी जा रही हैं।

इसका जवाब गवर्नमेंट देती या अफसर देते या न देते। जो कछ हो रहा था यह दोनों हुकूमतों का समझौता था, इसलिए इसे अमली जामा पहनाने में मदद करने वाले किसी हालत में भी दोषी करार नहीं पा सके। लेकिन यह हकीकत थी कि पब्लिक आज भी इस काम की अहमियत[22] और उन घटनाओं के नतीजे से पैदा होने वाली खराबियों से वाकिफ[23] नहीं है।

मुमकिन है कभी-कभार इस सिलसिले में गलतियां भी हुई हों और मुझे तो एक बहुत ही साफ और खुली गलती की भी जानकारी है जिस पर हमें आज तक सच्चे

22. महत्व।
23. परिचित।

दिल से अफसोस है। अगरचे तीसरे ही दिन गलती सुधार ली गई, लेकिन बदनामी तो हो ही चुकी थी। गलती हममें से किसी की भी हो, इसमें कोई शक नहीं कि वह बड़ी भी थी। लेकिन उससे बड़ी तो न थी कि कांग्रेस की जिम्मेदार हस्तियां गांव की उस मुस्लिम लड़की के नंबरदार के घर में मौजूद होने से वाकिफ हों और फिर भी उसको मुसलमानों के हवाले न करें। वे पापी को पकड़ने में मदद भी न करें और कांग्रेस के नाम पर धौंस जमाकर हमें रौब में लेने की कोशिश करें।

शायद अवाम यह भूल जाते हैं कि बिरादरी के बंधन तोड़कर किसी बाहर की औरत को अपनाना हिंदुस्तानियों की प्राचीन परंपरा और जातीय गर्व कभी सहन न करेगा। जवान आदमी सब तरह की बुराइयां कर सकते हैं लेकिन अपनी विजातीय संतान के साका शादी-ब्याह करने पर वे समाज के किसी व्यक्ति को मजबूर नहीं कर सकते न उस औरत को ब्याहता औरत के बराबर रुतबा कभी अपने घरवालों से दिला सकते हैं। रिवाज अच्छा हो या बुरा, लेकिन यह हकीकत है। और इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि आज भी देश के लगभग हर हिस्से में लोग इस पर अमल कर रहे हैं और इस चीज को उनके दिल से निकालने के लिए अभी कम से कम पच्चीस साल की जरूरत है।

काम करनेवाली सब मांएं और बहनें हैं और उनके सामने ऐसी मिसालें मौजूद हैं कि मगर दो मियां-बीवियों में अनबन होती है तो औलाद ज्यादातर निकम्मी, खब्ती, मंदबद्धि और आवारा बन जाती है। इस अनबन का असर सिर्फ मर्द और औरत तक सीमित नहीं रहता। जिंदगी में सामंजस्य न होने का असर सीधे संतान पर पड़ता है। मां की दिमागी कोफ्त बच्चे को शारीरिक या आध्यात्मिक रूप से अयोग्य बना देती है।

हमने उन वेश्याओं का हाल भी देखा है जो प्रकृति के नियमों का पालन न करने के कारण भयानक नुकसान उठाती हैं। कितनी जल्दी वे जवानी को मसलकर फेंक देती हैं और उनमें से ज्यादा तादाद संतान पैदा करने की क्षमता से वंचित हो जाती हैं। अक्सर वे गंदी जिंसी बीमारियों का शिकार होकर दर्दनाक जिदंगी गुजारती हैं।

और फिर हमने बाल-विवाह के नतीजे भी तो देखे हैं। हमें मालूम है कि पंद्रह साल से पहले ब्याही जानेवाली लड़कियों में 95 फीसदी एनिमिया, टी.बी. और अंदरूनी बीमारियों का शिकार बनकर अपाहिजों की तरह जिदंगी की गाड़ी खींचती रहती हैं।

हमने देहातों और शहर की संकरी और अंधेरी गलियों में ऐसी घटनाएं भी देखी हैं जब आकस्मिक दुर्घटनाओं, गरीबी या बदमाशों के फंदे में फंसकर दस-बारह साल की लड़कियां सारी उम्र के लिए अपना स्त्रीत्व; शील और प्राकृतिक गुण खो बैठती हैं और वे स्थायी रूप से कामुक बनकर रह जाती हैं।

गंदुम अज गंदुम बिरोयद जौ क जौ[24]

---

24. गेहूं से गेहूं और जौ से जौ ही पैदा होता है।

हम मांएं हैं और हमारा अपना अनुभव भी है कि वह जमाना एक मां के लिए कितना खतरनाक होता है जब बच्चा पेट में हो और मां दिमागी, जिस्मानी और रूहानी पीड़ा में सारे वक्त गिरफ्तार रहती हो। दर्दनाक अतीत और अंधकारमय भविष्य रखने वाली मां कभी दिमागी तौर पर सेहतमंद बच्चे को जनम नहीं दे सकती। यह बच्चा हमेशा समाज के लिए बोझ और मुसीबत बनता है। वह अपनी जाति के लिए केवल तबाही का कारण बन सकता है, कोई फायदा नहीं पहुंचा सकता। मां की सारी मानसिक अशांति बच्चे में तबदील होकर एक ऐसे इंसान को दुनिया के सिर पर लाद सकती है जो जालिमों और खूंख्वारों का नामलेवा हो।

और फिर आवारागर्द, लावारिस औरतों और बदमाश, बहकी हुई लड़कियों के हरामी बच्चे देखकर हम इस नतीजे पर भी पहुंच चुके हैं कि ये सिर्फ चोर-डाकू, दगाबाज और बदमाश ही बन सकते हैं। उनकी सृजना के समय मां-बाप की जो नैतिक स्थिति थी उसका इतना भयंकर प्रभाव उन पर पड़ता है कि कोशिश के बावजूद हममें से कोई उनको सुधार नहीं सका है। इसके अलावा ऐसे बच्चे आमतौर पर सेक्स के लिहाज से भी अयोग्य, पागल और सुस्त होते हैं।

इसके अलावा हमारे पास इस बात पर विश्वास करने के भी कई कारण हैं कि पचहत्तर फीसदी लड़कियां अब तक हाथोंहाथ बेची जा रही हैं। कमसिन लड़कियां अब तक न कहीं टिक पाई हैं और न अभी कई साल तक हो सकेंगी। उनकी जवानी सैकड़ों और हजारों के मोल बिक रही है और लोभी मर्द कुछ दिन उनको रखने के बाद पैसा कमाने की बात सोचने लगता है।

अलबत्ता बीस से तीस और चालीस साल तक की औरतें ज्यादातर एक जगह जम गई हैं। वे अपनी कोशिश, सख्त रोक-टोक या बच्चों की बदौलत घरों में जमकर ठहर गई हैं। लेकिन कम उम्र की लड़कियां बच्चा पेट में होने पर भी बेच दी जाती हैं और किसी का बच्चा किसी दूसरे के घर जाकर पैदा होता है। अगर पढ़ने वाले संवेदनशील हैं तो उस मां की मनोदशा की कल्पना करें कि उस पर उस घटना से क्या बीत गई होगी और उस लाचारी ने घोर निराशा और असमंजस की स्थिति पैदा करके कितनी बार उसे आत्महत्या करने पर मजबूर किया होगा। क्या बच्चा उन बातों के असर से बच सकेगा ? मर्द और औरत दोनों बच्चा चाहते हैं। अपनी नस्ल और अपने परिवार को बरकरार रखने के लिए उन्हें नए इंसान की जरूरत होती है और औरत ये सब मुसीबतें उठाती है। सिर्फ दो मुहब्बत भरी आंखों के सहारे पर शिरकत की तमन्ना करना उसका स्वभाव है। साथी न हो तो साथी की सुखद स्मृति ही सही। अतीत की सुखद कल्पना सही। ये भी उसका सहारा बन सकते हैं लेकिन जब खयाल और कल्पना भी भयानक हो तो इतना बड़ा बोझ वह कैसे उठाएगी ?

इसमें कोई शक नहीं कि जनना, पालना, मुहब्बत करना सब कुछ उसका स्वभाव है, लेकिन यह बहुत बड़ा बोझ है। इसे आज तक उसने अकेले कभी नहीं उठाया है

और जब अकेले यह मुसीबत उसके सर पड़ जाती है, तो वह दूसरे को देकर पिंड छुड़ा लेती हैं। मैंने अक्सर देखा कि लड़कियां आते के साथ हमसे कहना शुरू कर देती हैं कि इन बच्चों को इनके बापों के हवाले करो। हम इन्हें नहीं रख सकते।

इसमें बहुत कुछ समाज का डर और अपने कुंवारेपन की हया भी होती है। लेकिन यह कहते वक्त पृष्ठभूमि में कोई प्रेम, आकर्षण या छल-कपट तो होता नहीं है। इसलिए वे सिर्फ बच्चे को लिपटाकर प्यार करती हैं, रोती हैं और हमसे कहती हैं इसको दे दो, वहीं जी जाए। बड़ा होगा तो कभी हमसे मिल लेगा। लेकिन हम उसे लेकर न जाएंगे। या तुम रख लो।

बदकिस्मती से शुरू में हमने उस तरफ तवज्जो[25] न की और बाकायदा रिकार्ड न रखा जो सही आंकड़े हमारे पास होते और इस वक्त अंदाजा हो सकता कि कितनी औरतें अब तक इज्जतदार घरवाली बन सकी हैं और कितनी अभी तक थाली का बैगन बनी हुई हैं। लेकिन पिछले दो महीने की घटनाओं के जो आंकड़े दिमाग में पड़े हुए हैं उनसे मैं इस नतीजे पर पहुंची हूं। समय-समय पर जो अस्पष्ट-सा रिकार्ड इकट्ठा होता रहा उससे भी मेरे मत की पुष्टि और अनुमान का ठीक होना साबित होता है।

हमारे सामने इस वक्त भी दो लड़कियां मौजूद हैं। उनमें एक की उम्र सत्रह साल की होगी और दूसरी की मुश्किल से चौदह बरस। सत्रह साल की लड़की एक ही बार में दो मर्दों के पैसे से खरीदी गई और दोनों की मिलीजुली दिलचस्पियों का खिलौना बनी। चौदह वर्ष की लड़की अब से दो साल पहले इस मुसीबत का शिकार हुई जबकि उसकी उम्र सिर्फ बारह साल की होगी और आज वह खामोश प्रश्न-चिह्न बनी हुई मेरे पास बैठी है। उसकी डरावनी, फटी हुई आंखें मुझसे पूछती हैं और हर इंसान से सवाल करती हैं कि बताओ मैं क्या हूं ?

उसके पास कहने के लिए कोई बात बाकी नहीं रह गई है। न दिल में कोई उमंग बाकी है, न जिस्म में फुर्ती है, न कुंवारी होने का अल्हड़पन, न जवानी की खूबसूरती। क्या पढ़नेवाले हमें बता सकते हैं कि उनको वापस लाकर हमने पाप किया है ? या न लाते तो गुनाह था ?

इसमें कोई शक नहीं कि अख्तरी और उस जैसी दूसरी लड़कियां अक्सर हमारे दिल में खटक, दर्द और बेचैनी पैदा करती हैं। लेकिन उनकी तादाद बहुत थोड़ी है। फिर हम उन नाबालिग लड़कियों की मजी ख्वाहिश पर उनके मां-बाप के होते हुए अमल भी किस तरह कर सकते हैं ? कोई कानून हमें इसकी इजाजत नहीं देता। और सब जाने दीजिए इन हालात की रोशनी में, इस पृष्ठभूमि को देखते हुए हमारे पास इसके अलावा और चारा ही क्या है कि सख्ती से इस पाप को मिटाकर गुंडागर्दी खत्म करें। वरना हमेशा अंदेशा है, और अब रोज-ब-रोज ऐसी घटनाएं भी सामने आ रही हैं कि

---

25. उन लड़कियों को शायद रेलवे स्टाफ या गुंडों ने स्टेशन पर रोक रखा था।

यह बुरी आदत तरक्की करके दूसरे संप्रदाय के बजाय एक ही संप्रदाय की इज्जत बरबाद कराएगी। हमारे पास रेलवे स्टेशन से कई लड़कियां लाई गईं।[26] वे सबकी सब हिंदू थीं। कैंपों में अक्सर ऐसे हादसे हो जाते हैं कि किसी की बेटी को कोई भगा ले गया। मुसीबत के जमाने में इस नैतिक गिरावट को देखकर यही नतीजा निकलता है। हालात ने जनता को दिलेर, गुंडा और बेरहम बना दिया है और यह न सिर्फ नेताओं और सरकार का, बल्कि हम सबका फर्ज है कि जितनी जल्दी हो सके इस स्थिति को समाप्त करने की कोशिश करें।

औरतें इसमें बड़ा हिस्सा ले सकती हैं। वे घरों से सुधार का काम शुरू करें तो जड़ ठीक होते ही शाखें आप ही हरी हो जाएंगी। और इसीलिए हम यह सब कर रहे हैं। यह सिलसिला कब तक चलता रहेगा[27] कुछ नहीं कहा जा सकता लेकिन मेरा खयाल है उस वक्त तक चलना चाहिए जब तक कि एक भी लड़की इन शर्मनाक हालात में गिरफ्तार है।

इसमें कोई शक नहीं कि उनमें से बेशतर अब खतरनाक गंदी बीमारियों में फंस चुकी हैं, जिनका इलाज और जिदंगी सुधारना बड़ी तवज्जो का काम है। लेकिन मुश्किलों से घबराकर हिंदुस्तान का भविष्य तो बरबाद नहीं किया जा सकता। उनमें पागलपन, तपेदिक और दूसरी बीमारियां भी फैल गई हैं। नीम पागल तो बहुत-सी हैं लेकिन जनता और सरकार मिलकार इस बेड़े को पार लगा सकते हैं। उनकी जिंदगियां इस तरह सुधर सकती हैं कि सरकरी अस्पतालों को ऐसी लड़कियों के इलाज पर खास तवज्जो दिलाई जाए। ऐसे स्कूल, सिलाई सेंटर, घरेलू दस्तकारी सिखाने की संस्थाएं स्थापित की जाएं जहां साल-दो साल ट्रेनिंग हासिल करने के बाद वे अपनी रोजी आप कमा सकें। बच्चों की देखभाल, नर्सिंग और घरेलू कामों की तालीम उनको मिले ताकि वे इज्जत के साथ जिंदगी बसर कर सकें।

भारत सरकार ने तो ऐसे बहुत से होम खोल रखे हैं जो इस सिलसिले में लाभकर सेवाएं कर रहे हैं, और निश्चय ही पाकिस्तान सरकार ने भी यही सब कर रखा होगा। मुझे इस बारे में कोई विश्वस्त सूचना न मिल सकी। पता नहीं उन लड़कियों का क्या हश्र पाकिस्तान जाकर होता है जिन्हें हम भेज रहे हैं। कम से कम मुझे तो इस खयाल से बेचैनी रहती है। यह अजीब बात है कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बाशिंदे जब अपने देशों से रवाना होते हैं तो शायद कसम खाकर चलते हैं कि उस गैर-मुल्क की सरजमीन पर हम एक लफ्ज भी सच न बोलेंगे। जो बात कहेंगे, झूठ !

मुझे इस वक्त एक नीम पागल लड़की याद आ रही है। पता नहीं, वह कहां

---

26. 1955 ई. तक भगाई हुई लड़कियों को बरामद करने का सिलसिला चलता रहा।
27. सैकड़ों बीमार लड़कियों का बाद में इलाज हुआ और ऐसे केंद्र और संस्थाएं भी खोली गईं। अस्पतालों में पूरी तवज्जो से उनका इलाज भी किया गया। कुछ लड़कियों को एक-एक साल तक इंजेक्शन के कोर्स दिलवाने पड़े।

थी और कहां से आई थी ? पुलिस उसे पकड़कर यू.पी. के किसी हिस्से से लाई थी। लेकिन वह बंबई, अहमदाबाद, पंजाब और अमृतसर सबके नाम लेती थी और दास्तान के विभिन्न टुकड़ों को उन तमाम शहरों में बिखेरकर अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कराया करती थी। उसके पास एक रेशमी रुमाल था जिसे वह कभी सर पर लपेटती थी, कभी गले में। किसी वक्त उससे मुंह पोंछती और कभी उसे सीने में छिपा लेती थी और जब सर में दर्द होता तो पट्टी बनाकर उसको माथे पर बांध लिया करती थी।

मैंने उससे पूछा गुलाब बानो यह रुमाल तुझे कहां से मिल गया ?

गुलाब[28] ने अपनी बड़ी-बड़ी फटी हुई आंखें ऊपर उठाईं। मुस्कराई और कहा, "यह मुझे नियादर ने दिया था।"

नियादर कौन था ? इस सवाल पर यह आंख झुकाकार इस अंदाज से 'वही' कहती जैसे वही अपना महबूब नियादर, और कौन ? हफ्तों तहकीकात करने से बाद मैं सिर्फ इतना जान सकी कि उसे बंबई से लानेवाला एक शख्स नियादर था जिसने उससे शादी की। फेरे पड़े या निकाह हुआ इसमें कोई चीज यकीनी न थी। दोनों हुए या एक सूरत हुई। बहरहाल फसाद शुरू हुए और उसमें वह दूसरे लोगों के हत्थे चढ़ गई और एक से दूसरे तक पहुंचती हुई डेढ़ साल बाद वह वहां आ गई। कमसिन चौदह साल की लड़की यह बेचैनी और गड़बड़ी का दौर बर्दाश्त न कर सकी और अपना मानसिक संतुलन खो बैठी।

नियादर का रुमाल पहली मुहब्बत की यादगार, अतीत की निशानी, उसके गले से लिपटा रह गया और बाकी सब कुछ खो गया। एक साल के अंदर बहुत से लोग उसकी जिंदगी में आए, लेकिन वे नियादर न थे, इसलिए वह तो अब उसी के पास जाना चाहती है।

वह बहुत ही इत्मीनान और सुकून से मुस्करा-मुस्कराकर अपनी कहानी सुनाया करती थी और कहती थी, "नियादर ने कहा—लल्ली, तू इस तरह क्यों फिर रही है ? आ मेरे घर चल मैं तेरे साथ शादी कर लूं।" फिर जूती, अच्छे कपड़े सब लाकर उसने ब्याह कर लिया। और जब वह बीमार पड़ी तो नियादार ने उसका बहुत इलाज किया। फिर कुछ और हो गया जिसके बाद उसे बहुत से नाम याद आते हैं लेकिन घटनाएं और उनका क्रम सब गायब हो जाता है।

ऐसी बहुत-सी आधी पागल लड़कियां हैं जो सिर्फ हंसती रहती हैं—शायद हम सब पर, मुल्क पर, इस देश बाशिंदों पर, इस मजहब पर और मजहब के अलमबरदारों[29] पर, सरकार पर, और उसके कानून पर, उसकी आजादी पर। क्या पता वह किस चीज पर हंसती है ?

---

28. नाम भी संदिग्ध था। वह उसमें भी कभी कभी तब्दीली कर देती थी। लेकिन ज्यादातर यही नाम बताया करती थी।
29. झंडा लेकर चलने वाले।

22. रोशनी

लेकिन मैं तो इस वीराने में इसानों को ढूंढ़ रही थी और यह देखना चाहती थी कि इंसानियत बिल्कुल खत्म हो गई या अभी बाकी है। और खुशी हुई जब कूड़े-कबाड़ के ढेर में मुझे दो-चार मोती चमकते नजर आ गए।

गुजरात[1] ट्रेन के बचे-खुचे मुसाफिरों में एक इज्जतदार हिंदू परिवार की बेवा भी थी : अमीर-कबीर शौहर की बीवी, कई जवान बच्चों की मां। अपना जेवर और रुपया बदन के कपड़ों में छिपाकर पाकिस्तान से हिंदुस्तान आने के लिए सवार हुई। शौहर साथ था, रिश्तेदार थे, बहुत से दूसरे मुसाफिर थे। गुजरात स्टेशन रास्ते में पड़ता न था, बल्कि गाड़ी सिर्फ इसीलिए वहां ले जाई गई और पूरी गाड़ी में कत्लेआम हुआ। बमुश्किल चंद जिंदा या जख्मी बच सके। उसकी आंखों के सामने उसका पति और दूसरे लोग मारे गए। जरा इस पचास साल की औरत की मुसीबत पर गौर कीजिए। उसकी आंखों के सामने लाशें तड़पती रहीं और वह जिंदा रही। इसी पर बस नहीं, उसे गाड़ी से उतार कर जेवर और रुपए के साथ ही बदन के कपड़े भी पठानों ने छीन लिए। बहुत खुशामद और अपने साथियों में से किसी की सिफारिश पर थोड़ा-सा कपड़ा पहनने को दे दिया गया और उसे घसीटते हुए करीब के गांव में ले गए।

हिंदुस्तान की मां अपने बेटों के हाथों गलियों-कूचों में बेइज्जत हो रही थी। अब वह बेची जाने वाली थी। इस बुढ़ापे में उसके अपने देश में यह बरबादी हो रही थी। नंगा जिस्म और जख्मी सीना लिए हुए वह देहात के गली-कूचों में घिसटती रही। इतनी बड़ी घटना, हजारों आदमियों का कत्लेआम ! क्या पाकिस्तान पुलिस को खबर न हुई होगी ? वह आई भी जरूर होगी, मगर लुटेरों को पकड़ न सकी, औरतों की बेइज्जती को रोक न सकी और नंगे जिस्मों को कपड़े न दिलवा सकी। लुटेरे पठान उसे बेचने की कोशिश में बीसियों घरों में गए। देखने वाले हंसते, मजाक उड़ाते कि इस बुढ़िया को कौन मोल लेगा ? लेकिन उसकी फरियाद, उसके आंसुओं की सुर्खी किसी की शराफत को जगा न सकी। जानवरों के उस रेवड़ में एक भी तो इंसान न निकला। इंसानियत

---

1. पाकिस्तान से हिंदुओं को लेकर आई हुई वह गाड़ी जो गुजरात ले जाकर काट दी गई थी। मुश्किल से दो-चार आदमी लाशों के बीच जिंदा रह गए थे।

चीखती रही, ममता फरियाद करती रही और पठानों को पैसे न मिले। और अब वे झुंझला गए थे। शायद अब वे उसे मार देते मगर दुनिया अभी इंसानों से खाली न हुई थी। तीन गरीब इंसान अपनी झोंपड़ी के सामने बैठे हुए यह मंजर देख रहे थे। उन्होंने पठानों से कहा कि भाइयो, क्यों इस बूढ़ी माई की रुस्वाई[2] करते हो ? जो कुछ पैसा हमारे पास है ले लो, और इसे छोड़ दो। पठानों ने उसकी हैसियत देखकर सिर्फ बीस रुपए मांगे।

उन बेचारों के पास इतने भी न निकल सके। तीनों ने अपनी जमा पूंजी इकट्ठी की तो कुल पंद्रह रुपए ठहरे। मगर पठान न राजी हुए। मजबूरन उन्होंने बाकी रकम कर्ज या चंदा करके उन्हें दी और मजलूमा[3] की गरदन छुड़ाई। यह था वह गरदन छुड़ाना जिसका हुक्म कुरान के इन लफ्जों में दिया है :

"बआतिल मआला अला हुब्बिही जबिल कुरबा वल यतामा
वल मसाकीन वबनिस्सबीली वस्साइलीना वफिर्रिकाब।"[4]

इतनों में सिर्फ तीन भले इंसान और सच्चे मुसलमान जिन्होंने आदमीयत की लाज रख ली।

बेचारी गमजदा औरत भूख, तकलीफ, मेहनत और गम के मारे नीम बेहोशी की हालत में थी। तीन दिन उन खुदा से डरनेवाले बंदों ने उसे अपने झोंपड़े में आराम से रखा, खिलाया-पिलाया और तीन दिन के बाद उसे ले जाकर वागा (सरहद) में इंडियन पुलिस के सुपुर्द कर आए कि उसे दिल्ली पहुंचा दिया जाए, जहां वह अपने रिश्तेदारों से मिल सके। चलते वक्त उन्होंने उसके हाथ पर पांच या सात रुपए भी रखे और बड़े दुख के साथ कहा कि भाई, हमारे पास कुछ नहीं है। यह थोड़ी-सी पूंजी तुम्हारे रास्ते के लिए है। इसे कबूल कर लो।

और वह बाकिया 'सला-ए-आम है यारान-ए-नुक्तादां के लिए'।[5] देखने वाली आंख हो तो हैवान और इंसान का फर्क देख लें। मैंने बिना कुछ घटाए-बढ़ाए उसकी जबान से सुना हुआ दुहराया है।

इसी तरह की एक घटना दिल्ली के एक गांव में हुई। हमेशा की तरह लड़कियों की एक टोली अपने रिश्ते-नातेदारों के साथ-साथ गांव से दिल्ली की तरफ चली मगर पुलिस पीछे रह गई और गांधी नगर के सामने वाले मैदान में कई जहार गूजरों और उनके हिमायतियों ने हमला कर दिया और सारा मैदान उनके खून से लालाजार बना दिया गया। लाशें तो सब उठा ली गईं और कुछ मर्दों और औरतों को बचाकर पुलिस कैंप

---

2. बदनामी।
3. ऐसी महिला जिस पर जुल्म किया गया।
4. और वह खर्च करती है अपना माल उसकी (खुदा की) मुहब्बत में अपने करीबी रिश्तेदारों; यतीमों, मिस्कीनों, मांगने वालों और पड़ोसियों व दोस्तों पर।
5. हर कोई आमंत्रित है।

पहुंचा आई। लूट के माल में एक कमसिन, तेज तर्रार लड़की किसी गूजर को भी मिली।

उसने हाथ के हाथ उसी वक्त उसे दूसरे के हाथ दो सौ रुपए में बेच डाला। लड़की सूरत की अच्छी खासी, मुहज्जब और कुछ पढ़ी हुई भी थी। जिस गूजर के पास बिककर वह पहुंची वह उसे आम लड़की समझा। मगर जब यह देखा कि किसी तरह हत्थे नहीं चढ़ती, हाथ भी छू लो तो मुकाबला और हाथापाई पर उतर आती है तो उसने मार-पीट शुरू की। उस पर भी काबू में न आई तो तंग आकर उसने यही तय किया कि गरदन काट दे। झल्लाया हुआ उसे घसीटकर जंगल की तरफ ले जा रहा था कि वहां खत्म कर दे। गांव का एक नौजवान दूर से यह तमाशा और चीख-पुकार सुनकर दौड़ा। लड़की के चेहरे पर नजर पड़ी तो धक्क से रह गया। अरे यह तो पड़ोस के गांव वाली लड़की है, मेरे दोस्त बाबू खां की बहन। दोस्त की सूरत आंखों में घूम गई और बीते हुए दिनों की याद ने उसको बेकरार कर दिया।

गूजर से उसने कहा, "यार इसे क्या करेगा, यह तो मेरे दोस्त की बहन है।" गूजर ने गुस्से में जवाब दिया, "मार डालूंगा सुसरी को।"

नौजवान बोला, "मुझसे रुपया ले ले और इसे मुझे दे दे।" सौदा शुरू हो गया; सौ, दो सौ से गुजरता हुआ पांच सौ पर तोड़ हुआ। नौजवान ने कहा, "ले पांच सौ ले ले। मैं यही समझ लूंगा मेरी एक भैंस मर गई। तू भी क्या याद करेगा।"

नकदी उसे देकर लड़की अपने घर लाया। घर में सिर्फ उसकी मां थीं अभी खुद भी बेब्याहा था। इसलिए लड़की का हाथ मां को पकड़ा दिया और उससे कहा कि अगर तेरा बाप और भाई, यानी मेरा दोस्त जिंदा है और मिल गए, तो तुझे उनके सुपुर्द कर दूंगा। और अगर वे मारे जा चुके हैं, तो फिर मैं तेरे साथ शादी कर लूंगा। बस अब बेफिक्री से यहां रह, कोई तेरा बाल बांका नहीं कर सकता।

उसकी मां ने लड़की को तसल्ली दी। आराम से रखा। रात को अपने साथ लेकर सोती थी। उसे अपने कुंवारे बेटे पर भरोसा था, मगर डरती थी कि पराई बेटी है।

लेकिन लड़की दो-तीन माह हुए ब्याही जा चुकी थी। सिर्फ एक बार वह अपनी ससुराल गई थी और उसे बड़ा मलाल था कि मैके-ससुराल के वे अच्छे-अच्छे कपड़े इस्तेमाल करने की नौबत भी न आई और सब लुट गए। चार माह बाद पुलिस भेजकर मैंने उसे मंगवाया। ससुराली खानदान, सारा कैंप उठ गया था और वही लोग मांग कर रहे थे। लड़की उनके हवाले कर दी गई।

जब मैं दुबारा उससे मिली हूं तो वह खुश-खुश अपने खेमे में बैठी थी। शौहर का इंतजार था, वह अभी पाकिस्तान से आया न था।

और फिर कई माह बाद सूबे का दौरा करते हुए उस गांव में पहुंची तो दोनों भाई-बहन मुझे मिले। मैंने लड़के से पूछा कि तुम अपने उस दोस्त से भी मिले जिसने तुम्हारी बहन को अपनी सगी बहन समझकर चार माह इज्जत के साथ रखा और जो बेचैनी से तुम्हारा इंतजार कर रहा है। ऐसे दोस्त इस जमाने में जिसे मिल जाएं उसकी

खुशकिस्मती का क्या कहना ! उसने जवाब दिया कि मैं कल ही आया हूं। आज या कल मुलाकात करने जाऊंगा। मुझसे बहन सारा हाल बता चुकी है।

बड़ी एहसान फरामोशी[6] होगी अगर मैं उस सच्चे कांग्रेसी का जिक्र न करूं जिसने लड़कियों की तलाश के सिलसिले में बिसाती, मनिहार और सब्जी बेचने वाले का रूप धरकर शहर के खतरनाक हिस्सों में बीसियों का पता लगाया और रिश्तेदारों को इत्तिला दी। वह बजाहिर बिल्कुल आम कांग्रेसी थे लेकिन इसमें शक नहीं कि गैर-मामूली खुलूस[7], नेकनीयती और मेहनत का उनमें जबरदस्त माद्दा था। वे मुझसे एक मुसलमान औरत अपनी मदद के लिए मांग रहे थे; ताकि अपने काम को पूरा कर सकें। मगर वह चीज मेरे बस के बाहर थी। मुसलमान औरत और काम, दो विरोधी बातें थीं।

एक औरत ऐसी न मिल सकी जो सही इंसानी जज्बे और तरक्की पसंद नजरिए[8] के साथ हमारे साथ सहयोग करती। और इसीलिए हम इस इंतजाम में (जिसकी खामियां आए दिन हमें नजर आती थीं) किसी किस्म का दखल न दे सके। साथ ही मुझे खुशी है नौजवानों ने हमारी मदद की और मायूसी, जो नई पौध की तरफ से हमारे दिलों में पैदा हो गई थी, बड़ी हद तक हमें उसमें तरमीम[9] करनी पड़ी। रिलीफ कमेटी, कैंप और तालीमी सरगर्मियों और अमन-अमान की कोशिश, सभी उस वक्त नौजवानों की वजह से ही मुमकिन[10] हो सकती थी।

---

6. उपकार भुला देना।
7. सच्चा।
8. दृष्टिकोण।
9. घटना।
10. संभव।

23. इंसान मर नहीं सकता

जिंदगी क्या है अनासिर[1] में जहूर-ए-तरतीब[2]
मौत क़्या है इन्हीं अजज[3] का परीशां होना[4]

हयात और मौत का फलसफा कितने थोड़े लफ्जों में 'चकबस्त' ने बयान कर दिया। लेकिन यह न सोचिए कि यह शेर सिर्फ एक इंसान के जीवन-मरण की व्याख्या करता है। कौमों की जिंदगी और मुल्कों की हयात भी उससे अलग नहीं है। उनका निर्माण भी विभिन्न और बिखरे हुए खंडों के एक हो जाने से हुआ करता है। ये विविध प्रकार के अंश देखने से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं लेकिन उनको आपस में मिलाने वाला कोई मजबूत एकता का संबंध एक कौम, एक देश और एक समाज के रूप में उनको एकता के सूत्र में पिरोकर दुनिया के सामने पेश करता है। यह संबंध कभी धर्म और संस्कृति का संपर्क-सूत्र होता है, कभी कोई जबरदस्त व्यक्ति मजबूत सूत्र बनकर उन खंडों को गूंथ लेता है, कभी कोई जीवित न्यायकर्ता शासन-प्रणाली और कभी विदेशी डंडा उन बिखरे हुए पन्नों को संयोजित करने का कारण बनता है।

हिंदुस्तान की पुराना, जीर्ण-शीर्ण समाज व्यवस्था टूक-टूक हो चुकी है। अब से पहले यहां भी एक ऐसी ही व्यवस्था थी और उसका एक प्राचीन ढांचा था। कुछ स्थायी नियम थे। इंसानियत के लिए उनका एक विशिष्ट मानदंड था। विभिन्न नस्लों और धर्मों के लोग यहां बसते थे लेकिन समाज उन सबकी समष्टि थी और बाहर की दुनिया में वे सब हिंदी कहलाते थे, हालांकि अपने व्यक्तिगत जीवन में उनकी संकल्पना, धर्म, संस्कृति और रस्म-रिवाज एक दूसरे से भिन्न थे। लेकिन अपने समाज के लिए उन्होंने कुछ इंसानी बिरादरी के अधिकार, कुछ नीति-संबंधी और शिष्टाचार के सिद्धांत और कुछ सभ्यताओं को समोकर अनोखी-सी चीजें बना रखी थी जिनके बल-बूते पर वह व्यवस्था सदियों तक चलती रही। भाईचारा, इंसानी बिरादरी और इंसानियत की सर्वोच्च

---

1. तत्व, पंचभूत
2. संयोजित रूप।
3. अंश, खंड।
4. बिखरना।

अवस्था की एक ईश्वरीय संकल्पना भी उनके पास थी। उस सोसाइटी का एक सही उद्देश्य था और उसकी प्राप्ति के लिए उसके सारे व्यक्ति बहुत से भले काम किया करते थे और वे खुदा या ईश्वर को पाने के लिए भी इंसान की सेवा और नैतिक आचरण को माध्यम बनाते थे।

बहुत दिनों से हमारे प्रगतिवादी भी ढोल पीट रहे थे कि इंकलाब आ रहा है। कम्युनिस्ट जवानी का लाल झंडा उड़ा रहे थे और कांग्रेस जनतंत्र का राग अलाप रही थी, आध्यात्मिकता और नैतिकता का पाठ भारत को सिखा रही थी। और अब वे सारी नई साहित्यिक प्रवृत्तियां, वे प्रगतिशील की उड़ानें, वह खून-थूक और गोली-बारूद वाली शायरी, वह 'जीवन से निकट' और 'साहित्य-साहित्य के लिए' वाली कल्पनाएं सिर्फ मर्सिए पढ़ रही हैं और दिखा रही हैं :

फसाना दर फसाना है ये सुर्खियां हयात की[5]

लेकिन आज रह-रहकर यह सवाल दिल में उठता है : आखिर यह सब क्या है ? यह इंकलाब तो नहीं है, इंकलाब का आरंभ है न अंत, इसको क्या कहना चाहिए :

कोई बतलाए कि हम बतलाएं क्या ?

इंकलाब में तो जिंदगी होती और इस हंगामे में जिंदगी से ज्यादा मौत की झलक है। इंकलाब जवान, सरफरोश और प्रगतिशील होता है। यहां तो बुढ़ापे की कंपकंपी, कायरता और रूढ़िवाद नजर आ रहा है।

कुछ लोग इत्मीनान की सांस लेकर कहने लगे हैं कि 'खैर भई शत्रु है अब तो अमन नसीब हुआ।' लेकिन मुझे अंदेशा है कि यह सिर्फ उनकी खुशफहमी न साबित हो। मुझे तो ऐसा लगता है अभी उसकी प्रतिक्रिया और उस करनी का फल भी हमें भोगना बाकी है। उस जुर्म की सजा भी तो भुगतनी है। अपनी संतान और उसके बिगड़े हुए, बहके हुए दिमागों की बदौलत घरों की सुख-शांति भी दरहम-बरहम[6] होनी है। इस नई नस्ल के हाथों इंसानियत की बची-खुची इमारत के आसार भी ढह जाएंगे। अगर हमने जल्दी उस ओर ध्यान न दिया, फौरन खबर न ली और शिद्दत के साथ इसे महसूस न किया तो हमारे बोए हुए कांटे झाड़ियां बनकर इंसानियत का दामन सालहा साल[7] तक तार-तार करते रहेंगे। इस बाग में अब गुलाब नहीं सिर्फ कीकर और कंटीले झाड़ ही उगेंगे।

विगत दुर्घटनाओं का मानव मन पर बुरा प्रभाव पड़ा है। बड़ो और अमीरों से लेकर मध्यम वर्ग और आम जनता तक, सबकी दिमागी और अंदरूनी बनावट में फर्क आ चुका है और फर्क हरगिज नजर अंदाज करने लायक नहीं है। बल्कि यह खामी यहां

---

5. जिंदगी की हर कहानी का यही शीर्षक है।
6. उथल-पुथल।
7. आज सत्ताईस साल बाद इन शब्दों पर गौर कीजिए।

से शुरू होती है जहां मजहब की बुनियाद पड़ती है, जहां से इंसानियत का आरंभ होता है।

कोई विभाग, संस्था, घर और जगह ऐसी नहीं है जहां तक इस दौर के कुप्रभाव न पहुंचे हों। जैसे हैजे के मौसम में हवा, पानी हर चीज विषाक्त हो जाया करती है, इस वक्त यही हाल सारे देश का है। क्रम, व्यवस्था सब कुछ छिन्न-भिन्न हो गई है, मजहब की बुनियादें खोखली हो गई हैं। सभ्यता और संस्कृति की चूलें हिल चुकी हैं। पुरानी समाजी व्यवस्था समाप्त हो चुकी है। बड़ा अच्छा हुआ आखिर वह कब तक जीवित रहती, कोई सीमा भी हो। उसे तो मरना ही था, लेकिन अंदेशा और अफसोस तो यह है कि अब जो समाज बन रहा है वह मनुष्यों का समाज नहीं, जानवरों का जंगल होगा। इंसानी बिरादरी वहशियों के झुंड में तब्दील होती जा रही है।

यह केवल अनुमान नहीं है। मैंने दिल्ली की गलियों में फिरकर रेल के मुसाफिरों में घुलमिलकर, विषाक्त नगरों और व्यक्तियों का वृत्तांत सुनकर, घरों में औरतों से उसी की बात पूछकर और बच्चों से नन्हे-मुन्ने सवाल करके ये नतीजे निकाले हैं। अंदाजा थोड़ा गलत हो सकता है लेकिन सचाई को झुठलाना और वास्तविकता को गलत साबित करना नामुकिन हैं।

शायद दिसंबर 1947 में एक रोज पेट्रोल टंकी के पास अजमेरी दरवाजे की तरफ कार रोकी गई तो पास ही बहुत सारे बच्चे हाथों में लंबी-लंबी लकड़ियां लिये हुए, घेरा बनाए किसी खेल में व्यस्त थे। मैंने समझने की कोशिश की कि कौन-सा निराला खेल हो रहा है ? देखती हूं तो तमाम लड़के मिलकर अपनी लड़कियों से किसी काल्पनिक वस्तु को पीट रहे हैं और चिल्लाते जाते हैं 'मार लो, मार लो', 'मर गया', 'खत्म कर दो', 'और लगाओ', 'जला दो' आदि आदि।

बीसियों आदमी उस जगह थे। किसी ने नजर उठाने की भी जरूरत न समझी। लेकिन मेरा संवेदनशील हृदय और गहरी आंखें उस परदे में कोई और ही सीन देख रही थीं। मार दो, जला दो, खत्म कर दो वे खुद नहीं कह रहे थे उनके बाप, भाई, रिश्तेदार उन दिनों उसी काम में लगे हुए थे और उनके नन्हें, मासूम दिमाग फर्जी चीज को पीटकर, अपने मन में जलाकर खत्म करने का आनंद ले रहे थे।

जनसाधारण की नैतिकता जिस स्तर तक पहुंच गई थी उसके बहुतेरे नमूने पाठक इस पुस्तक में देखेंगे। नामुनासिब[8] न होगा अगर मैं एक व्यक्तिगत घटना का और जिक्र कर दूं। यह घटना 47 की नहीं है, फसाद से पूरे दस माह बाद घटी। उस वक्त जब दुनिया जानती थी कि दिल्ली में सब ठीक-ठाक हो चुका है और सरकार बिल्कुल संतुष्ट थी कि उसका स्टाफ बिल्कुल ठीक काम कर रहा है दिल्ली में नए चीफ कमिश्नर और डिप्टी कमिश्नर आ गए थे।

कितनी ही मुश्किलें क्यों न पड़ी हों, यथासंभव किसी अफसर को फोन नहीं करना

---

8. अनुचित।

चाहती थी। लेकिन अक्सर दूसरों के आग्रह पर या जरूरत से मजबूर होकर कभी-कभार खत लिखना या फोन करना ही पड़ता था। पुलिस के महकमे में चंद भले अफसर थे जिनको कभी-कभी ध्यान दिलाने की जरूरत पड़ा करती थी। लेकिन दो बार के सिवा मेरी कभी हिम्मत न पड़ी थी कि दिल्ली के डिप्टी कमिश्नर या चीफ कमिश्नर को फोन करूं। एक बार तो कैंप की हड़ताल के सिलसिले में दोनों अफसरों का दरवाजा खटखटाया और सख्त नाकामी का मुंह देखना पड़ा। और एक बार किसी और जरूरत से डिप्टी कमिश्नर को फोन करके उसका हश्र देख लिया। किसी बात की सुनवाई की उम्मीद न थी, इसलिए कुछ कहना बेकार था। यह भी अंदेशा रहता था दोनों जगह स्टाफ, जिसकी बदतमीजियों से जनता दुखी है और जिसकी असभ्यता और लापरवाही की खुद मुझे भी शिकायत थी, और जिनके बारे में आम तौर पर लोग कहते थे कि मुसलमानों का नाम सुनकर गाली-गलौज पर उतर आते हैं, कभी मुझसे भी कोई बदतमीजी न कर बैठें, इसलिए अपनी इज्जत अपने हाथ, कुछ न कहना ही बेहतर है। यहां के चपरासी ज्यादातर यह कहकर टाल देते थे कि डिप्टी कमिश्नर साहब धूप खा रहे हैं, डिप्टी साहब आराम कर रहे हैं, सो रहे हैं।

मैं तो किसी तरह नहीं कह सकती थी कि उनको फौरन जगा दो, सिर्फ हैरत[9] का इजहार करके रह जाती कि अरे छह बजे शाम को आराम कर रहे हैं ? ग्यारह बजे दिन तक धूप खा रहे हैं ! लेकिन अब तो नए चीफ कमिश्नर और डिप्टी कमिश्नर साहब तशरीफ लाए थे और मुझे खयाल हुआ कि शायद उन दोनों को सोने की आदत कम होगी। अजमेर[10] और सहारनपुर में कुछ बहुत चैन की नींद सोने का मौका तो उनको मिला न होगा, इसलिए फोन कर बैठी। चपरासी ने कहा वह बाहर गए हुए हैं।

एक घंटे बाद फिर फोन किया तो चपरासी ने सवाल किया तुम कौन हो ?... मेरी शामत, मैंने कह दिया—बेगम शफी...। कहने लगा, अच्छा ठहरो ! दस-पंद्रह मिनट गुजर गए और कोई जवाब न मिला तो मैंने फिर नंबर मिलाया। अबकी बार भी वही बोला कि वे तो आराम कर रहे हैं। मैंने कहा तुम जाकर उनको खबर तो करो। भला 7 बजे शाम को सोने का कोई वक्त है ? नए चीफ कमिश्नर इस वक्त नहीं सोते हैं। मुझे मालूम है...। कहने लगा अच्छा ठहरो...। अबकी बार उसने बीच-पच्चीस मिनट इंतजार करवाया। काम जरूरी था और मुझे आज ही बात कह देनी थी इसलिए फिर कोशिश की, तो जवाब मिला मीटिंग में चले गए।

अपनी गरज थी, इतनी नाकामी के बाद भी थकी नहीं और एक घंटा ठहरकर फिर नंबर मिलाया। लेकिन इस बार चपरासी का आग्रह था कि मुझसे कह दो जो कुछ कहना हो। कमिश्नर साहब नहीं मिल सकते। मैंने पूछा और तुम कौन हो ? कहने लगा

---

9. हैरानी।

10. इससे पहले इन दोनों जगहों पर उनकी तैनाती रह चुकी थी।

साहब का अर्दली। मुझे झल्लाहट आ गई। इंतहा है, कितना बदतमीज इंसान है ! लेकिन फिर भी मैं यही कहती रही भला तुमसे क्यों कह दूं ? बेकार देर लगा रहे हो। फोन चीफ कमिश्नर साहब को दे दो। इतना कहना था कि उसने पंजाबी और उर्दू में गालियां देनी शुरू कर दीं। दो-चार के सिवा मैं सबके माने भी न समझ सकी। लेकिन इतनी बेहूदा और गंदी गालियां सुनकर जैसे कान जलने लगे। जिस्म थर्रा गया, हाथ कांप गए। अपनी जिंदगी में पहली बार ये पत्थर कानों से टकरा रहे थे। रिसीवर पटक कर बीस-पच्चीस मिनट मुझे अपने होश-हवास दुरुस्त करने में लगे।

और अब तो बहुत ही जरूरी हो गया कि चीफ कमिश्नर साहब को हालात से आगाह करूं। अबकी बार मैं संचार मंत्री[11] के घर से बोल रही थी और उसे सुनकर तो एक मिनट का संकोच नहीं हो सकता था। बोलने वाले की आवाज का फर्क महसूस करके मैंने सवाल किया कि इससे पहले ड्यूटी पर कौन था ?...उसका नाम क्या है ? ...तुम्हारा नाम क्या है ? यह दूसरा चपरासी था। थोड़ी देर हुई ड्यूटी बदल चुकी थी, अगरचे वह पहला वाला चपरासी भी मौजूद था मगर नया अर्दली अब टेलीफोन के पास आ गया। किदवई साहब के घर का फोन जल्द ही चीफ कमिश्नर साहब को सुना दिया गया और वे बोल रहे थे। मैंने उनको सारा हाल बताया। यह भी कह दिया कि ये गालियां उस कोठी से नहीं है। डिप्टी कमिश्नर साहब और उसके चपरासी बहुत दिनों से मुसलमान का नाम सुनकर ऐसी गंदी गालियां देने की आदी हो चुके हैं। जितनी जल्दी हो सके इस शर्मनाक हालात को खत्म कीजिए। इन सबको तमीज और सभ्यता सिखाना भी बहुत जरूरी है।

वे बेचारे बहुत ही शर्मिंदा हुए, माफी मांगी, अफसोस जाहिर किया कि कुछ खयाल न कीजिए मैं अभी उन सबकी खबर लेता हूं और उसको मुअत्तल करता हूं। लेकिन मैं इस बारे में क्या सोचती, खुद अपने घर के चपरासियों का हाल भी तो बुरा था। किसी आने वाले को देखकर शिष्टाचारवश उठने की भी जहमत[12] न करते थे, सलाम करना तो बड़ी चीज है। मैं तो खैर टाल गई लेकिन मेरी भतीजी को एक-दो बार बहुत ही नागवार[13] हुआ और उसने एक दिन, जब मैं पास न थी, उन सबको बुरी तरह डांटा। पुलिस वालों को भी उसे उनकी बदतहजीबी पर लताड़ना पड़ा। और उसी की कोशिशों का यह नतीजा निकला कि जरा उन सबकी हालत सुधरी। इंतहा तो यह है कि सैक्रेटेरियट तक के चपरासियों की धांधलियों पर खुद प्रधानमंत्री की चेतावनी देनी पड़ी थी।

इस आम हालत का तजकिरा[14] मैं इसलिए कर रही थी कि यह बेचारा एक अर्दली

---

11. रफी साहब के घर से।
12. कष्ट।
13. अरुचिकर।
14. जिक्र।

तो उस सारे समाज की बिगड़ी हुई मनोवृत्ति का नुमाइंदा था जिसका हर तरफ दौर-दौरा था। आवे का आवा खराब था, एक ईंट की खराबी का क्या रोना ?

मुझे नहीं मालूम फिर क्या हुआ ? लेकिन उसके बाद से आज तक दोनों अफसरों के यहां की किसी बदतमीजी की शिकायत नहीं सुनी गई और न अब गरजमंद उनके मुलाजिमों की बदजबानियों[15] का निशाना बनते थे। जब कभी जरूरत पड़ी, फोन किया तो जवाब ठीक मिला। सबसे बड़ी बात यह है कि डिप्टी कमिश्नर साहब ने धूप खाना छोड़ दिया और चीफ कमिश्नर साहब को वक्त बेवक्त अब नींद भी नहीं आती। न आफिस के वक्त आराम की जरूरत पड़ती है।

यह कोई एक घटना न थी, बीसियों शिकायतें थीं कि सरकारी दफ्तरों में पब्लिक के साथ बहुत ही अपमान और बेरुखी का बरताव होता है और यह शिकायत अब तक बाकी है बदतहजीबी[16] तो जैसे नौकरशाही का फैशन बन गई है। मामूली चपरासी से लेकर बड़े अफसरों तक सभी अशिष्टता से पेश आना जरूरी समझते हैं और इसमें अब हिंदू मुसलमान में कोई फर्क नहीं है। कोई भी हो, यह तो आम बरताव का ढंग ही है।

जनता की इज्जत और स्वाभिमान का लिहाज करना जरूरी समझा ही नहीं जाता। अस्पतालों तक का यही हाल है। इन तमाम जगहों पर अवाम बिल्कुल भिखारियों की तरह इकट्ठे होते हैं और स्टाफ को पूरा हक हासिल है कि शरीफ से शरीफ इंसान को भी जिस वक्त चाहें गरदन में हाथ देकर निकाल दें, उलटी-सीधी सुना दें या जलील कर दें।

मैंने अवाम में शामिल होकर गरीबों के साथ जाकर ये प्रयोग किए हैं।

स्कूल भी इसके अपवाद नहीं हैं। लड़के मास्टरों का मजाक उड़ाना, उनके खिलाफ एजिटेशन करना और क्लासों में उनके साथ अभद्रता का व्यवहार करना बुरा नहीं समझते और मास्टर या प्रोफेसर भी लड़कों के स्वाभिमान को ठेस पहुंचाने और उन्हें रुस्वा या जलील करने से बाज नहीं रहते।

पिछले दो साल के कटु अनुभवों का यह सार बहुत ही भयंकर है। सरकार, नेता और हर पढ़ा-लिखा आदमी यही कहता है, "जो हो चुका, उसे भूल जाओ। पुरानी बातें भूल जाओ" लेकिन मेरी तो समझ में नहीं आता वह भुलाया कैसे जा सकता है ? अवाम कैसे गुज़रे हुए वाकिआत[17] की उपेक्षा कर सकते हैं जब आज भी देश में हर जगह और हर कदम पर वे निशान बिखरे पड़े हैं ? यह गंदगी दिमाग से कैसे निकल सकती है, जब निजी महफिलों में भी एक दूसरे की बदी और पिछले तजकिरे से बात शुरू

---

15. गाली-गलौज।
16. बदतमीजी।
17. घटनाएं।

होती है ?

हमने बच्चों के इस चीज को मिटाने की कोशिश की, लेकिन एक-दो माह के बाद हमें अहसास हुआ कि यह बरसों का काम है। इतनी जल्दी मनोवृत्ति बदली नहीं जा सकती। हमारा सब किया-धरा उनके मां-बाप चंद मिनट में मटियामेट करके रखा देते हैं। अब से पहले हिंदुस्तान का स्वाभिमानी बाप, अगर उसकी लड़की को कोई छेड़ दे या उस पर फबती कसे, तो उस रास्ते जाने से लड़की को हमेशा के लिए रोक देता था। चुपके-चुपके अच्छी-खासी लड़ाई लड़ लेता था, मगर इस एहतियात के साथ कि मुहल्ले वाले किसी पड़ोसी को कानों-कान खबर न हो। लेकिन आज यह हालत है कि लड़कियां बला बनकर मुल्क पर उतर आई हैं। जिधर देखे लड़की से छेड़खानी करने पर हिंदू-मुस्लिम फसाद की तैयारियां हो रही हैं। हर रोज कोई न कोई राह चलते छेड़ दी जाती है और उसी कौम के स्वाभिमानी लोग इकट्ठे हो जाते हैं। बेहया छेड़ने वाला अपनी कौम को हिमायती बनाकर ले आता है। मुलजिम हवालात में जाता है, लड़की अपने ऐरे-गैरे नत्थूखैरे गवाहों के साथ अदालत में पेश होती है और यह सब हाल देखकर जी चाहता है कि मांएं कोई ऐसी दवा खा लें जिससे कि अब सौ बरस तक इस देश में औरत पैदा ही न हो। क्या किया जाए। आखिर इस मुलक और इन कौमों पर कैसे फातिहा पढ़ी जाए, ये तो इन बेशर्मियों को कौमी गैरत का नाम देकर बाजार में नाक कटवा रही हैं !

नैतिक स्तर का हुलिया तो हर जमाने में बदलता रहता है। लेकिन ढांचा और बुनियाद तो दूसरी नहीं हो जाया करती। खुदा ही जाने हम किस दौर से गुजर रहे हैं। अब सचाई ही बुनियादी तौर पर गलत होती जा रही है।

कौन-सा मसला है जो उन दिनों नहीं उठ खड़ा हुआ और हर मसला गुजरे हुए हालात से प्रभावित होकर इस नए रंग में आ गया है। जमींदार और किसान की जंग, मजदूर और पूंजीपति का संघर्ष, अमीर और गरीब का उलझाव—ये कोई नई चीजें नहीं हैं हिंदुस्तान क्या, सारी दुनिया इस खींचतान में फंसी हुई है। लेकिन वाह रे हिंदुस्तान, क्या बात है तेरे ऊंचे आदर्श और प्राचीन दर्शन की ! इसमें भी एक नवीनता आ गई है और यहां अभी तक औरतों और लड़कियों की खींचातानी हो रही है।

पूर्वी पंजाब और उसी रियासतों से जो रिपोर्टें हमारे पास आती थीं उनसे नैतिक पतन की उस स्थिति का पता चलता था कि घरों का अमन-चैन खत्म हो गया है। राजनीतिक मामलों में भी व्यक्तिगत अनादर और व्यक्तियों की बदमाशियां अपना रंग दिखा रही हैं।

पटियाला से एक बार एक जमींदार भागे हुए आए और यहां कांग्रेस सरकार और जिम्मेदार हस्तियों से मिलकर अपनी विपदाएं सुनाईं। वे कहते थे कि किसान हमारी जमीनों पर जबरदस्ती कब्जा कर रहे हैं। हमारे कारिंदों को लगान वसूल करने से रोकते हैं और हम पर गोलियां चलाते हैं, हमारी लड़कियां उठा ले जाते हैं और हर तरह बेइज्जती

पर तुल गए हैं।

यह सुनकर एक बड़े नेता[18] ने कहा, "अच्छा, तो यह कहिए जो कुछ आपने दूसरों के लिए उनको सिखाया था वही सब वे आपके साथ कर रहे हैं। यह गोली जो वे आप पर चलाते हैं, वही तो होगी जो आपने मुसलमानों को मारने के लिए उन्हें मुहैया की थीं। अब चूंकि मुसलमान बाकी नहीं, इसलिए बची-खुची गोलियां आपके हिस्से में आ रही हैं।" और फिर चंद ही हफ्ते बाद दूसरा दल किसानों का आया। उनकी शिकायतें और ज्यादा सख्त थीं—हरिजनों पर जुल्म, बेदखलियां, अन्याय, जबरी[19] बेगार, शराब पी-पीकर औरतों की बेइज्जती, मकानों पर जबरदस्ती कब्जा और मार-पीट, गोलियों की बौछार—सारे ही इलजाम उन्होंने जमींदारों पर लगाए।

इसके साथ ही पूर्वी में हिंदुओं और सिखों का झगड़ा, लोहे के बोगस परमिटों का झगड़ा, रिश्वतखोरी की कहानी—यह सब क्या है ? इसी जंजीर की कड़ियां हैं, इसी करनी का तो फल है, यही तो दो बरस में बोया गया। थूहड़ का दरख्त आम के फल थोड़े ही पैदा करेगा ! किसी एक दिन का 'मिलाप' या 'प्रताप' उठाकर देख लीजिए, खुदा झूठ न बुलवाए, आठ-दस खबरें तो अमृतसर, जालंधर, भटिंडा, लुधियाना के धोखा, फरेब, अपहरण, कत्ल, डाके और बलात्कार को आप जरूर ही देख लेंगे।

पाकिस्तान के अखबार देखिए। वाल्टन कैंप की हालत सुनिए। नाच-गाने, शराब-कवाब की महफिलों, मीना बाजार और मनोरंजन को कार्यक्रमों पर गौर कीजिए। हिंदू और सिखों के निकाले जाने पर एक नजर डालिए और वहां के इस्लामी मुजाहिदों[20] के पास से वापस लाई हुई औरतों से चंद मिनट बात कीजिए। हर चीज में, हर बात में, आप पिछली गुंडागर्दी के प्रभावों की झलक और उसका प्रदर्शन देखेंगे। एक अखवर[21] ने तो इन शब्दों में साफ-साफ इकरार किया है कि जो कुछ हो रहा है वह पिछले हादसे के असरात[22] हैं। पिछड़े हुए अवाम के अखलाकी इकदार[23] का खून कुछ इस तरह निचुड़ रहा है कि इसी जमाअत[24] में से ताइफा[25] पैदा होता है जिसे जनान-ए-बाजरी[26] कहा जाता है 'आगाज', 7 जुलाई, 1948।

आगे चलकर यही अखबार 'पूर्वी पंजाब की दुर्घटना' को इस स्थति का जिम्मेदार

---

18. राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद।
19. बलात।
20. धर्म के नाम पर लड़ने वाले।
21. पाकिस्तान का अखबार।
22. प्रभाव।
23. नैतिक मूल।
24. समुदाय।
25. वेश्या।
26. वेश्याएं।

ठहराता है और उसकी हिम्मत नहीं पड़ती कि दुर्घटना के पश्चिमी पहलू को भी जिम्मेदारी में शरीक कर सके। लेकिन यह कहे बगैर नहीं रहा जाता कि :

'गुनाह की दीमक ने इन खानदानों को चाटना शुरू कर दिया है'

('आगाज', 7 जुलाई)।

साथ ही लाहौर की आम हालत का नक्शा खींचते हुए अखबार लिखता है : 'लाहौर की अखलाकी (नैतिक) हालत इस कद्र गिर चुकी है कि खुद खान ममदोट ने कहा—शराब की खपत तिगुनी हो गई है। हरामकारी और अखलाकी गिरावट इतनी अजीब-गरीब और अफसोसनाक है कि अब सवाल सिर्फ चकले उठा देने तक महदूद[27] नहीं है, बल्कि लाहौर की मजलिसी[28] जिंदगी के बेशतर तहजीबी दायरे, चकले का लिबास ओढ़े हुए हैं। गुनाह हमारी मजलिसी जिंदगी में ऊपर से नीचे तक इस हद तक फैलता जा रहा है कि अब सिर्फ नौइयत[29] और दर्जे का फर्क बाकी रह गया है, वरना पूरी जिंदगी इसमें घिरी हुई है।

('आगाज', 7 जुलाई)

पुलिस और अमले की ज्यादतियों, रिश्वतखोरी, आम जिंदगी में सचाई और लेनेदन में दियानत की कमी, वादा तोड़ना, कानून तोड़ना, गरज, गुजरी हुई मुजरिमों की-सी जिंदगी के गहरे निशान हर विभाग में स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।

मेरा मकसद सिर्फ बुराइयां तलाश करना नहीं है, न हिंदुस्तान या पाकिस्तान की बुराइयों पर परदा डालना चाहता हूं। जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं मकसद सिर्फ अंदरूनी झलक दिखाकर यह बताना है कि हम किधर जा रहे हैं, कहां जा रहे हैं ? और अगर इस रास्ते से जल्द ही हम सब न मुड़े तो तबाही-बरबादी का गार[30] अपना खौफनाक मुंह खोले हुए हमारा इंतजार कर रहा है। नामुनासिब न होगा अगर पंजाब के दोनों हिस्सों और दिल्ली की दर्दनाक हालत पर मर्सिया पढ़ने के साथ ही पाठकों को उन दूसरे स्थानों की भी हालत का जायजा दिला दूं, जहां उन्हीं सालों और उन्हीं दिनों में फसाद हुए। कलकत्ता और बिहार का हाल मुझे मालूम नहीं, वे सब पहले की बातें थीं। मुझे तो सिर्फ 1947 और 1948 से सरोकार है।

इस दौरान मसूरी, देहरादून, सहारनपुर, आगरा, कानपुर और अजमेर, सब जगह बलवे हुए हैं। और जगहों पर तो खैर हलका-फुलका हुआ लेकिन मसूरी, देहरादून और अजमेर में तो कुटाई-पिटाई भी हुई और लूटमार भी। मुस्लिम आबादी को बिल्कुल शहर खाली कर देने पर मजबूर किया गया। देहरादून और मसूरी मुसलमानों से खाली हो गए लेकिन किसी औरत के भगाए जाने या बेइज्जत करने की दास्तान मुझ तक नहीं

---

27. सीमित।
28. सामुदायिक।
29. रूप।
30. गुफा।

पहुंची। एक नौजवान औरत और उसकी बच्ची के बारे में मुझे और उसके अजीजों को शक था कि शायद वह अपहृत की गई है। लेकिन डेढ़ साल की कोशिश के बावजूद मुझे आज तक उसकी जिंदगी का कोई सुराग नहीं मिला। इसलिए यकीन होता है मर गई होगी। इतने अरसे में सिर्फ एक लड़की मेरे पास जिला देहरादून से लाई गई जिसके माता-पिता मारे जा चुके थे और गांव के एक ब्राह्मण ने उसे पकड़कर सहारनपुर में किसी मुसलमान के हाथ बेच दिया था, जहां उस मुसलमान ने अपने भाई के साथ मजिस्ट्रेट और उलमा की इजाजत से उसका निकाह कर दिया। वह लड़की बिल्कुल इत्मीनान से थी। सिवाय अपने मां-बाप की जान को रोने के, उसके पास अपनी बेइज्जती की कोई कहानी न थी। इन दोनों शहरों में सरफरोश[31] कांग्रेसी थे, जिन्होंने जान पर खेलकर जानें बचाईं। माल नहीं बचा सके मगर जान और इज्जत बचाने की कोशिश जरूर की और उसका नतीजा यह हुआ कि इस तरह की घृणित घटनाएं न घट सकीं जैसी दिल्ली और पंजाब वगैरह में घटी थीं।

दूसरे शहरों में हलका-फुलका झगड़ा हुआ लेकिन अजमेर में तो बहुत बड़े पैमाने पर हंगामा हुआ। अस्सी हजार की आबादी घटकर हजार बाकी रह गई। लोगों के बयान के मुताबिक साढ़े चार हजार आदमी कत्ल हुए, बाकी लूटे या भगाए गए। हजारों की शुद्धि की गई। मकान-दुकानें छिन गईं, कब्रिस्तान खुद गए। मस्जिदें ढहा दी गईं। सब कुछ हुआ लेकिन नंगी औरतों का जुलूस नहीं निकला। एक भी घटना अपहरण की नहीं हुई। किसी ने भी मुझसे खुलकर इस्मत लुटने और बदमाशी करने की दास्तान नहीं बयान की। ऐन फसाद के दौरान दुकानों की लूट के साथ-साथ औरतों की लूट नहीं हुई और उन सारी जगहों पर दो-चार सच्चे कांग्रेसी इन बदमाशियों के खिलाफ लड़ने के लिए जरूर निकल पड़े।

पंजाबी भाई मुझे माफ करें, मेरा मकसद सूबाई गरूर या प्रांतीय भेदभाव फैलाना नहीं, सिर्फ हकीकत का इजहार बड़े दुख के साथ कर रही हूं कि नैतिक पतन की जिस सतह पर पंजाब[32] के दोनों हिस्से पहुंच गए। अब से दो-चार साल पहले शायद इंसान का खयाल भी वहां न पहुंच सकता था। रही दिल्ली, तो वह बेचारी तो हमेशा पंजाब की दुमछल्ला बनी रही। पंजाब में डुगडुगी भी बजे तो आवाज दिल्ली में गूंजती थी। वह तो हमेशा से पंजाब की मुहब्बत में तबाह रही।

'गुनाह-ए-कबीरा' और 'गुनाह-ए-सगीरा'[33] के अलफाज[34] सुने तो बचपन से थे मगर न कभी उसकी तफसील[35] नजर के सामने आई थी और न कभी मैंने उसकी व्याख्या

---

31. जान हथेली पर लेकर चलने वाले।
32. पूर्वी और पश्चिमी, यानी पाकिस्तानी और हिंदुस्तानी, दोनों।
33. महापातक और लघुपातक।
34. शब्द।
35. पूर्ण रूप से।

पर शरीफ लोगों को बहस करते सुना था। लेकिन आज जिस महफिल में देख लो इसी सगीर और कबीर का किस्सा छिड़ा हुआ है। हर पक्ष अपने पापों को कम करने और दूसरे को बढ़ाकर दिखाने की फिक्र में मुब्तिला है।

यह सच है कि मुसलमान लड़कियां जब हिंदुओं के पास पहुंचीं तो उन्होंने कुछ तो बदला लेने के खयाल से, कुछ गुस्से में और कुछ उनको हिंदू लड़की जाहिर करने के इरादे से उनको गुदवाना जरूरी समझा और जब ये हिंदू लड़कियां हिंदुस्तान से निकलकर पाकिस्तान गईं तो वहां भी हाथों पर मुजाहिदों के नाम लिखाए हुए मुस्लिम लड़कियां[36] वापस आईं। लेकिन इस जुर्म में भी 'पंजाब के जिंदादिल' लोगों ने एक दूसरे से आगे निकल जाने की कोशिश की है। दिल्ली प्रांत से बरामद की हुई लड़कियां अपने हाथों पर बेल-बूटे और 'ओम्' गुदवाए हुए हमारे पास लाई गईं और पंजाब या रियासतों से आनेवालियां जिस्म के गुप्तांगों पर पापियों के नाम गुदवाए, सीनों पर मुजारिमों की मुहर लिए हमारे सामने लाई गईं।

बजाहिर दोनों ने एक जैसे काम किए, लेकिन अशिष्टता में भेद रखा गया। किसी एक लड़की का एक ही समय दो-चार मर्दों के इस्तेमाल में रहना पंजाब के लिए शायद अनोखी बात नहीं थी लेकिन दिल्ली के देहातों में हमें कोई ऐसी औरत न मिली जो दो आदमियों ने मिलकर खरीद ली हो। यों तो वे थोड़े-थोड़े फर्क से दो-तीन जगह बेची गईं मगर पैसा लगाने वाला एक ही मालिक होता था।

इस वक्त मुझे एक और घटना याद आ गई। देहात के एक बदमाश, अधेड़ आदमी के पास से एक ग्यारह-बारह साल की मासूम-सी छोकरी लाई गई तो मैं सोचने लगी कि इससे क्या पूछूं ? इतने भोले-मासूम चेहरे और इतने नन्हें-से कमजोर जिस्म पर क्या न बीत गई होगी। लेकिन मेरी हैरत की इंतहा न रही जब लड़की ने अल्हड़पन के साथ जवाब दिया : अभी तो मेरी बाली उमर थी, अभी मैं जवान कहां थी ? मैं तो अपने पति को खाना पकाकर खिलाती थी, उसकी दवा-दारू बनाती थी ? और जब मेरी बेटी आई थी तो उसके साथ पूआ[37] बनाकर गठरी में बांधती थी। मेरा पति कहता था 'तू जल्दी से बड़ी हो जा...।'

यह छोटी-सी लड़की घर की मालकिन थी, अधेड़ आदमी की खिदमत करती थी और घर में हंसती-खेलती फिरती थी।

बहरहाल मानव स्वभाव के बहुतेरे सीन और उच्छृंखलता की सैकड़ों दास्तानें हैं। यहां नेक पड़ोसी, सच्चे दोस्त और बेनजी[38] इंसान अब भी हैं। अगरचे ऐसे पड़ोसी भी थे जिनका डंडा सबसे पहले अपने पड़ोसी के सर पर पड़ा और ऐसे साथ भी थे

---

36. 1949 में हमें तसदीक हो गई थी।
37. आटे और घी की मीठी टिकियां।
38. लाजवाब।

जिन्होंने घर से बाहर निकलते देखकर पहले जवान लड़की हथियाने की फिक्र की। मगर ऐसे दोस्तों से भी दुनिया खाली नहीं है जो दोस्त के बाल-बच्चों की हिफाजत उस वक्त तक करते रहे जब तक बच्चे बाप तक न पहुंच गए।

ये परस्पर विरोधी दृश्य देखने के बाद ही तो मुझे विश्वास हो चुका है कि 'इंसान नहीं मरा, वह कभी नहीं मर सकता।' जिस दिन इंसान मरेगा संसार की यह व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी। इस इमारत का आधार-स्तंभ तो यही है।

हां, इंसान को मारने की कोशिशें हमेशा से हो रही हैं और हमेशा होती रहेंगी। सृष्टि के आरंभ से अब तक बदी की ताकत इंसानियत का सिर कुचल देने की फिक्र में है मगर यह भी सच है कि इतनी शिद्दत और ताकत के साथ और इतने बड़े पैमाने पर हमला कभी नहीं हुआ था।

अब से पहले भी महात्मा लोगों ने सिर दे दिया है मगर हार नहीं मानी है। इस दौर में भी एक सच के पुजारी ने इंसानियत को जिंदा रखने के लिए, सचाई को उजागर करने के लिए अपना खून बहाया। लेकिन आज जब पिछली घटनाओं को दो साल होने आते हैं, रह-रहकर यह सवाल दिल में उठता है कि क्या हमें इसी सतह पर ठहरना है या आगे बढ़ना है ? क्या इंसान को जिंदा रखने के लिए हमारी कोशिशें जारी रहेंगी या हम थककर बैठ जाएंगे ? क्या आध्यात्मिकता और नैतिकता की ताकत से हम अपने सिसकते हुए समाज को एक नया जीवन दे सकते हैं ?

और फिर यह तो पूछना जरूरी है कि हमारी सरकार को अपनी मशीन के लिए सिर्फ पुर्जों की जरूरत है या जीते-जागते कर्मठ इंसानों की ? क्योंकि शासन का निर्माण तो जीवित इंसानों से होता है। कानून बनाने वाले, उस पर अमल करने वाले, उसका आदर करने वाले, शेर और भेड़िये तो नहीं हुआ करते। अगर सरकार को अपना अस्तित्व बनाए रखना है, अगर भारत को फिर गुलाम नहीं बनना है, तो इन बिखरे हुए दानों को समेटकर एक कड़ी में पिरोना होगा और इसके लिए जरूरी है कि मानव और समाज के नैतिक मूल्यों को, मानवता के मानदंड को, सभ्यता और संस्कृति के आधुनिक सिद्धांत को और प्राचीन आध्यात्मिक सिद्धांतों को समोकर एक ऐसी जीवन-पद्धति तैयार की जाए जिसका बुनियादी इंसानियत पर हो और जिसका निर्माण और विकास नए ज्ञान के प्रकाश में हो, जिसका ठहराव जमीन से ऊपर, मगर आसमान से नीचे हो।

प्राचीन भारत और पुराने इस्लामी युग का सपना देखने वाले नई दुनिया से दामन बचाकर आखिर कैसे चल सकेंगे ?

विभिन्न धर्मों को उनके वास्तविक और स्वाभाविक रूप से देखे बिना आत्मा की निर्मलता असंभव है और वर्तमन युग के मानव का मस्तिष्क शांतिपूर्ण होना कठिन है। भला आत्मा के बिना शरीर का अस्तित्व कैसे कायम रह सकता है ?

यह आत्मविहीन समाज, यह गुंडा सभ्यता, यह लुटिया-पायजामे वाली संस्कृति और एक यह संस्कृति और एक राष्ट्र का स्वप्न देखने वाले दिमाग—इन सबको नए

भारत के खेतों की खाद बनाना ही पड़ेगा। इसके बिना धरती में ताकत कहां से पैदा होगी ?

लेकिन यह सब कैसे हो ? नए दिमाग ही इसे सोच सकते हैं। जवानी ही पत्थरों से खेलती हुई आगे बढ़ सकती है। और सिर्फ :

इश्क बदोश की कशद दामन-ए-कोहसारा[39]

हम बूढ़े लोग ! हमने अपनी जिंदगी भली-बुरी गुजार दी। अपने कर्म का फल भी देख लिया। थके-हारे दिमाग अपना वक्त गुजार चुके हैं। दीया टिमटिमा रहा है, रात समाप्त हो रही है और कुछ देर नहीं कि सुबह की हवा का झोंका हमेशा के लिए हमारे जमाने का चिराग बुझा होगा। लेकिन 'कार-ए-दुनिया कैसे तमाम न कर्द'[40]

सारा बोझ नई नस्ल के कंधे पर पड़ेगा। इससे पहले कि वे इस बोझ को उठाएं यह किताब उनके हाथों में पहुंच जानी चाहिए ताकि वे हवा का रुख देखकर अपनी किश्ती दरिया में डालें। उन्हें पता लग जाए कि कहां चट्टानें बाधक हैं और कहां भंवर, ताकि उनकी नाव भी बीच मंझधार में फंसकर हमारी तरह तबाह न हो जाए।

किश्ती शिकस्तगानेम ऐ बाद-ए-शर्क बरखेज
शायद कि नाज बीनम आं यार-ए-आशना रा[41]

---

39. इश्क ही इस पहाड़ को अपने कंधों पर उठा सकता है।
40. दुनिया का काम कभी कोई खत्म न कर सका।
41. किश्ती टूटी हुई है, ऐ अनुकूल हवा चल, शायद हम अपने प्रेमी के पास दुबारा पहुंच ही जाएं।